जपसूत्रम्

प्रथमखण्डः

(तान्त्रिक अध्यात्मविज्ञान के श्रेष्ठ अङ्ग ज्ञान और योगरहस्य
की व्याख्या-सहित जपविद्या का अनुपम समीक्षण,
अनादिपरम्परागत आगमज्ञान और प्रातिभ-
स्वरूप साक्षात् अनुभवात्मक विवेकज
ज्ञान के परस्पर समन्वय के
प्रभाव से)

प्रणेता

स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

(पूर्वाश्रम के प्रोफेसर श्रीप्रमथनाथ मुखोपाध्याय)

म० म० श्रीगोपीनाथ कविराज की विस्तृत भूमिका से समृद्ध

अनुवादिका एवं संपादिका :

(पादटिप्पणी, अन्वय, शब्दानुक्रमणी, विशिष्ट टिप्पणी
आदि के अभिनव संयोजन-सहित)

(कु०) प्रेमलता शर्मा

भू० अध्यक्षा, संगीतशास्त्र-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-५

भारतीय विद्या प्रकाशन
वाराणसी

अनुक्रमणिका

१. पूर्वपीठिका (पृ०१—८६)

२. भूमिका (पृ० १—१२८)

(मूल प्रणेता की लेखनी से)

३. विषयावतरणिका (पृ० १३१—२६३)

(मूल ग्रन्थ)

जपसूत्रम् (पूर्वपीठिका)

निवेदन

१. निपातनिका

'जपसूत्रम्' के हिन्दी अनुवाद का प्रथम खण्ड हिन्दी जगत् को अर्पित करते हुए मुझे तुलसीदास की निम्न पंक्तियों का बार-बार स्मरण हो रहा है

तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिलइ सहाइ ।
आपुन आवै ताहि पै, कै ताहि तहां लै जाइ ।।

इस अभिनव और विलक्षण ग्रन्थ-राज का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने का माध्यम बनने की कल्पना कभी स्वप्न में भी नहीं हुई थी । सन् १९६५ के आरम्भ में काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय से परमधामगत जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी भारतीकृष्ण तीर्थ महाराज (गोवर्धन पीठ) के वैदिक गणित-सम्बन्धी ग्रन्थ का प्रकाशन होने वाला था । घटना-क्रम से उसका मुद्रण-सम्बन्धी सब कार्य मान्यवर स्वर्गीय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुरोध से मुझे करना पड़ा था । श्री शङ्कराचार्यजी की प्रिय शिष्या श्रीमती मञ्जुला त्रिवेदी ने, जिनके माध्यम से उक्त ग्रन्थ हमारे विश्वविद्यालय को प्रकाशनार्थ मिला था, एसी इच्छा प्रकट की थी कि भूमिका लिखने का अनुरोध श्रद्धेय म० म० श्री गोपीनाथ कविराज से किया जाय । तदनुसार मैंने उनसे प्रार्थना की और उन्होंने ही इस प्रसंग में मुझे पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती (पूर्वाश्रम के प्रोफ़ेसर प्रमथनाथ मुखोपाध्याय) के नाम और संक्षिप्त परिचय से अवगत कराया और यह कहा कि उक्त ग्रन्थ की भूमिका लिखने के उपयुक्त अधिकारी स्वामीजी ही हैं । अतएव ऐसा विचार किया गया कि श्रीमती मञ्जुलाजी और मैं पुस्तक के मुद्रित फ़र्मे लेकर पूज्यपाद स्वामीजी के पास कलकत्ता जाएं और उन से भूमिका लिखने का अनुरोध करें । डॉ० श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय (अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, वर्धमान विश्वविद्यालय) से पूज्य स्वामीजी का पता मँगा कर मैंने इस सम्बन्ध में उन्हें एक पत्र लिखा । उत्तर मिला कि स्वामीजी शीघ्र ही स्वयं काशी पधारने वाले हैं । दैवयोग से कलकत्ता का चक्कर बच जाने का बड़ा हर्ष हुआ । श्रीमती मञ्जुलाजी नागपुर से काशी आईं और हम दोनों फरवरी १९६५ के अन्तिम सप्ताह में (सम्भवतः २३ फरवरी को) पूज्यपाद स्वामीजी के दर्शनार्थ उनके काशी के निवासस्थान 'मधुवन'

कर स्तब्ध रह गई। ग्रन्थ के गौरव से यद्यपि पूर्ण परिचय नहीं था, किन्तु उसके आकार की कल्पना ही अनुवाद-कार्य को असाध्य मान लेने के लिए काफ़ी थी। मेरे स्तब्धता-जनित मौन के कारण बात वहीं समाप्त हो गई। प्रथम दर्शन में जो दो पुस्तकें पूज्य स्वामीजी ने दी थीं उनमें 'जपसूत्रम्' का नामोल्लेख पढ़कर इस ग्रन्थ-राज के दर्शन के लिए मन में कौतूहल अवश्य जागा था, अतः मैंने स्वामीजी से ग्रन्थ के छहों खण्डों का प्राप्ति-स्थान पूछा। उन्होंने 'गरिया' (२४ परगना) स्थित अपने आश्रम का ही पता बताया और कुछ देर बाद हम लोग वहाँ से लौट आए। उसी रात को मैं अस्वस्थ हो गई और पुनः स्वामीजी के दर्शनार्थ नहीं जा सकी।

पता नहीं किस प्रेरणा से, पाँच दिन बाद २९ मार्च को स्वामीजी ने मेरे पास 'जपसूत्रम्' के चार खण्ड अपने आदमी द्वारा भिजवाए और शेष दो खण्ड कलकत्ता से भिजवा देने की बात लिखी। पत्र में उन्होंने ऐसी इच्छा भी व्यक्त की कि मैं इस ग्रन्थ का अध्ययन और सम्भव हो तो हिन्दी अनुवाद करूँ। अनुवाद के गुरुतम कार्य-भार को ग्रहण करने की तब भी मेरी कोई प्रवृत्ति नहीं हुई। पूर्व-गृहीत कार्यों का बाहुल्य ही इसका कारण था। ३० मार्च को स्वामीजी काशी से कलकत्ता के लिए प्रस्थान कर गए और उसके प्रायः १० दिन बाद ही उन्होंने डाक द्वारा 'जपसूत्रम्' के शेष दो खण्ड मेरे लिए और छहों खण्डों का एक पूरा सेट डॉ० अग्रवाल के लिए मेरे पास भिजवा दिया। अनुवाद की बात उन्होंने पुनः पत्र में लिखी। डॉ० अग्रवाल के पास उनका सेट पहुँचा कर मैंने उनसे स्वामीजी की अनुवाद-सम्बन्धी इच्छा की बात जब कही तो उन्होंने इस कार्य के लिए मुझे अदम्य उत्साह से प्रेरित किया। अन्यान्य कार्यों की बात कह कर जब मैंने असमर्थता प्रकट की तब उन्होंने यही कहा कि कार्य आरम्भ कर देना चाहिए, कभी न कभी पूरा हो ही जायगा। उनकी इस प्रबल प्रेरणा से मेरा जाड्य कुछ कम हुआ, किन्तु कार्य तत्काल आरम्भ नहीं हो सका।

उन्हीं दिनों एक बार परम श्रद्धेय आचार्यचरण श्रीगोपीनाथ कविराज महोदय से भी स्वामीजी की इस इच्छा के सम्बन्ध में चर्चा करने का अवसर मिला। मुझे स्मरण है कि उस दिन वे तीव्र ज्वर के कारण शय्यागत थे। 'जपसूत्रम्' के अनुवाद का प्रस्ताव सुनते ही उत्साह से तत्क्षण उठ बैठे और बोले—"यदि तुम यह कार्य कर सको तो मेरे जीवन का एक बड़ा भार उतर जायगा। मैंने स्वामीजी को वचन दिया था कि हिन्दी अनुवाद की व्यवस्था

श्रीहजारी प्रसाद द्विवेदी से भी काशी में ही 'जपसूत्रम्' की चर्चा करने का अवसर मिला। यह जान कर आश्चर्यमय हर्ष हुआ कि श्रीद्विवेदीजी पूरे ग्रन्थ को पढ़ चुके थे और इतने प्रभावित हुए थे कि अपना परिचय दिए बिना अलक्ष्यभाव से स्वामीजी के दर्शन भी कर आए थे। उनसे भी अनुवाद-कार्य की प्रेरणा को बल मिला।

इस प्रथम खण्ड का प्रकाशन प्रायः तीन मास पूर्व ही हो सकता था, किन्तु प्रेस अन्यान्य अनिवार्य कार्यों में व्यस्त था; इसलिए निर्धारित समय की अपेक्षा कुछ विलम्ब से यह प्रकाशन हो रहा है।

२. ग्रन्थ का बहिरंग परिचय

इस अपूर्व ग्रन्थ का परिचय देना मेरे लिए बड़ा कठिन होता, किन्तु उसके लिए स्वयं पूज्यपाद स्वामीजी, म० म० श्रीगोपीनाथ कविराज महोदय एवं डॉ० श्री गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय की भूमिकाएँ सुलभ होने से मैं अपने आपको इस दुस्तर कार्य से मुक्त रख सकी हूँ। ग्रंथ का अन्तरंग परिचय स्वयं ग्रंथकार से एवं प्रतिपाद्य विषय के मर्मज्ञ, भारतीय अध्यात्म-साधना की विभिन्न धाराओं के तत्त्वज्ञ, मनीषि-प्रवर श्रीकविराज महोदय की लेखनी से पाठकों को प्राप्त हो सकेगा। साथ ही, श्रीगोविन्द गोपालजी की भूमिकाएँ मूल ग्रंथ की रचना और प्रकाशन के क्रम से एवं ग्रंथ के वैशिष्ट्य से पाठकों का सुष्ठु परिचय कराएँगी। अतः केवल बहिरंग परिचय देने का कर्तव्य-निर्वाह करके क्षान्त हो जाना ही मैं उचित समझती हूँ।

प्रस्तुत प्रथम खण्ड वास्तव में भूमिका-खण्ड ही है। मूल ग्रन्थ के सूत्र और कारिका का इसमें समावेश नहीं है। 'पूर्वपीठिका' के अन्तर्गत ग्रन्थकार की दो संक्षिप्त भूमिकाएँ, म० म० श्रीकविराजजी की विस्तृत भूमिका, श्री कल्याणमल जी लोढ़ा (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय) द्वारा लिखित स्वामीजी का परिचय और डॉ० श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय की मूल छहों खण्डों की प्रस्तावनाएँ हैं। श्रीगोविन्द गोपालजी का पूज्य स्वामीजी से सुदीर्घकाल-व्यापी प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है, मूलग्रन्थ के प्रणयन और प्रकाशन से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है; अतः उनकी समर्थ लेखनी के प्रसाद से पाठकों को आप्यायित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकी। ग्रन्थ की विषय-प्रतिपादन-शैली प्राचीन परम्परा से अविच्छिन्न होते हुए भी

अभिनव है, इसलिए 'पूर्वपीठिका' के रूप में इस विपुल सामग्री का छहों खण्डों से संकलन करके इस प्रथम खण्ड में समावेश करना उचित प्रतीत हुआ है। इससे हिन्दी जगत् मूलग्रन्थ को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो सकेगा, इस विश्वास से ही उक्त औचित्य-विचार को बल मिला है। समग्र ग्रन्थ की विषय-वस्तु का विहङ्गम-दर्शन भी इससे पाठकों को सुलभ होगा।

'पूर्वपीठिका' के बाद 'भूमिका' के रूप में ग्रन्थकार के छह लेख दिए गए हैं जो मूल के प्रथम खण्ड में भी उसी रूप में हैं।

उक्त 'भूमिका' के बाद मूलग्रन्थ के अन्तर्गत विषयावतरणिका के रूप में जो सामग्री है उसे रखा गया है। यह भी मूल के प्रथम खण्ड का अङ्ग है। मूल में उसके बाद प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के १५ सूत्र कारिका-भाष्य सहित दिए गए हैं, किन्तु मूल ग्रन्थ के प्रथम अध्याय को एक साथ एक जिल्द में देने के विचार से इन सूत्रों को प्रस्तुत खण्ड में छोड़ दिया गया है। इसी प्रकार आगामी खण्डों में भी सामग्री के सन्निवेश में यत्किञ्चित् परिवर्तन करने की योजना है, जिसका पूरा निर्देश यथास्थान दिया जायगा। इस परिवर्तन के लिए पूज्य स्वामीजी का पूर्ण अनुमोदन प्राप्त हुआ है।

मूलग्रन्थ के श्लोकों का अन्वय अनुवादिका की ओर से जोड़ा गया है। यद्यपि यह अन्वय पूर्णरूप से भाष्य के आधार पर ही बनाया गया है, तथापि भ्रम-प्रमाद की सम्भावना नगण्य नहीं कही जा सकती। यदि कहीं मूल के तात्पर्य को अन्वय में प्रस्तुत करने में अशुद्धि हो गई हो तो सुज्ञ पाठकों से उसके लिए क्षमा चाहती हूँ। वैसे तो श्लोकों का तात्पर्य भाष्य में ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया ही है, किंतु शब्दशः अर्थ समझने में अन्वय से सुविधा होगी ऐसा सुझाव कुछ मित्रों ने दिया था, और पूज्य स्वामीजी से उसका अनुमोदन मिलने पर इस कार्य में प्रवृत्त हुई हूँ। यदि कुछ पाठकों को अन्वय से लाभ हो सकेगा तो यह श्रम सफल होगा। मूल ग्रन्थ में 'उपोद्घात' और 'उपक्रमणी' के श्लोकों के प्रतिपाद्य विषय का निर्देश करते हुए अनुवादिका की ओर से [ ] कोष्ठक में शीर्षक दिए गए हैं।

ग्रन्थकार की अपनी भूमिका में एवं मूलग्रन्थ में उपनिषत्, पुराण आदि के वाक्य अथवा वाक्यांश यत्र-तत्र विपुल मात्रा में उद्धृत हुए हैं। पाद-टिप्पणियों में उनके मूल सन्दर्भ का निर्देश प्रायः सर्वत्र देने का यत्न किया गया है। टिप्पणियों का उत्तरदायित्व निर्दिष्ट करने के लिए 'अनुवादिका'

का उल्लेख कर दिया गया है। कहीं-कहीं यह उल्लेख छूट भी गया है, किन्तु 'पूर्वपीठिका' के अन्तर्गत दो तीन स्थलों को छोड़ कर (जहाँ मूल का स्पष्ट संकेत दे दिया गया है) सभी पाद-टिप्पणियाँ अनुवादिका की ओर से ही हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जहाँ एक ओर परम्परागत वैदिक, पौराणिक, तान्त्रिक शब्दावली का विपुल प्रयोग है, वहाँ नवीन पारिभाषिक शब्द भी बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं। पूज्य स्वामीजी जैसे विलक्षण मनीषी को अपनी अभिनव-शैली के लिए नवीन पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता पड़ना स्वाभाविक ही था। यह शब्दावली 'स्वयम्भू' रूप से पूज्य स्वामीजी की वाणी में प्रकट होती चली गई है, ऐसा अनुभव पाठक को होता है। कहीं आयास या कष्ट-कल्पना का लेश भी दिखाई नहीं देता। प्राचीन और नवीन संज्ञाओं के इस सागर में यथेच्छ और यथाशक्ति अवगाहन करने में अनु-

है। मुझे लगता है कि इससे हिन्दी की श्री-मर्यादा की कोई क्षति नहीं होगी, अपितु उसमें वृद्धि ही होगी। देश भर के लिए हिन्दी के सार्वभौम रूप को विकसित करने में प्रान्तीय भाषाओं से अलगाव तो नहीं ही रखा जा सकता और फिर बंगला का तो हिन्दी से चिर-साहचर्य रहा है। फिर भी यदि भाषा के सम्बन्ध में किन्हीं त्रुटियों का संकेत विद्वानों की ओर से मिलेगा तो आगामी खण्डों में उनका मार्जन करने का प्रयत्न किया जायगा। मूल में ग्रन्थकार ने जो अंग्रेजी शब्द दिए हैं उनको यथावत् बनाए रखते हुए यथासम्भव उनके हिन्दी पर्याय भी दिए गए हैं। अपवाद-स्वरूप कुछ ठेठ वैज्ञानिक शब्दों के पर्याय देना सम्भव नहीं हुआ है।

प्रूफ संशोधन में पर्याप्त सावधान रहने पर भी मुद्रण की कुछ अशुद्धियाँ रह ही गई हैं। छपाई में मात्राएं टूट जाने से जो अशुद्धियाँ आ गई हैं उनका संशोधन विज्ञ पाठकों पर छोड़ कर अन्य अशुद्धियों को शुद्धिपत्र में दे दिया गया है। पाठकों से निवेदन है कि शुद्धिपत्र के अनुसार संशोधन करके ही पुस्तक का अध्ययन करें।

३. 'जपसूत्रम' और भारतीय संगीत-शास्त्र

हैं वे इस समग्र ग्रन्थ के अध्ययन से बहुत कुछ सुलझ सकेंगी ऐसी दृढ़ आशा है। और यह एक कल्पनातीत उपलब्धि है।

४. ग्रन्थकार का परिचय

पूज्य स्वामीजी जब बी० ए० में पढ़ते थे और कलकत्ता में एमहर्स्ट स्ट्रीट स्थित एक मेस में रहते थे तब श्रीगोविन्द गोपाल के पितृव्य श्रीललित गोपाल मुखोपाध्याय उन के सहपाठी थे; दोनों में अभिन्न मैत्री थी। श्रीललित गोपाल जी आपको 'प्रेमदा' कह कर बुलाते थे यद्यपि आपका नाम 'श्री प्रमथनाथ' था। आपकी सहृदयता, स्निग्धता आदि गुणों की झलक इस सम्बोधन से मिलती है। श्रीललित गोपाल के माध्यम से आप देवघर के श्रीश्रीबालानन्द ब्रह्मचारी महाराज के आश्रम में उपस्थित हुए थे। वहाँ जाते ही आपको ऐसी अनुभूति हुई थी, मानो वहीं आपका अपना स्थान है। श्रीबालानन्दजी के प्रबल प्रभाव का आपने अपनी अननुकरणीय शैली में वर्णन किया है। इस वर्णन में से कुछ पंक्तियों का रसास्वादन पाठक कर सकें इस उद्देश्य से निम्न उद्धरण प्रस्तुत है।

"इस प्रथम दर्शन के बाद मैं बीच-बीच में देवघर में श्रीश्रीमहाराज के चरण-प्रान्त में दौड़-दौड़ कर आता था—लौह जैसे अयस्कान्त मणि के आकर्षण से दौड़ा आता है। प्रत्येक बार ही आकर अनुभव करता था कि तरुण जीवन की समस्त कर्मव्यस्तता और भावचाञ्चल्य ने यहीं आकर अपने स्थिर केन्द्रबिन्दु को प्राप्त किया है। जीवन की सभी मृगैषणाएँ यहाँ

आकर अपने ध्रुवसत्य-रूप-पीठ में प्रतिष्ठित होती थीं। इसीलिए बीच-बीच में मुझे यहाँ आना ही पड़ता था।

"इस प्रकार कुछ दिन बीतने के बाद सहसा इस जीवन में मानो एक विपुल वन्या (बाढ़) उद्वेलित हो उठी थी। उसका रोध बहुत वर्ष तक नहीं कर पाया था। यह थी इस अवनत भारत के दासत्व-शृङ्खलित देशात्मा की सर्वाङ्गीण मुक्ति के लिए जो महीयसी आकूति थी, वही। वर्तमान शतक के आरम्भ में ही मैं उस महाप्लावन में कूद पड़ने को बाध्य हुआ था। 'तपोवन' (देवघरस्थित) की उस एकान्त शान्त गुहा का निगूढ़ आकर्षण भी मुझे रोक नहीं सका था, किन्तु अन्तर के गहनतम प्रत्यय में वह तपोगुहा अपनी समाहित महिमा से विराज रही थी, इस बारे में मुझे कभी भी संशय नहीं हुआ। भीतर और बाहर, सत्ता के अन्तःप्रकोष्ठ और बहिःप्रकोष्ठ में, एक द्वन्द्व ने उपस्थित होकर मुझे बहुत दिन तक उस गुहा-केन्द्रीण स्थिर अक्ष-रेखा से च्युत कर दिया था अवश्य, किन्तु मेरे अपने लक्ष्य-बिन्दु से मुझे कभी भी उसने च्युत नहीं किया था। उस लक्ष्य-पथ में सहज-सुषम गति के स्थल में मानो कुछ-कुछ विषम और व्यावृत्त गति आ गई थी, शायद इसीलिए ऐसा लगता था कि न जाने केन्द्र से कितनी दूर हटता जा रहा हूँ। जो कुछ भी हो, जातीय विप्लव का जो पन्थ था वह मुझे 'तपोवन' से क्रमशः बहुत कुछ दूर हो हटाए लिए जा रहा था, इसमें सन्देह नहीं है। इस प्रकार देश की जातीय शिक्षा, जातीय मुक्तिसंग्राम इन सब में अधिकाधिक जुट जाने के फलस्वरूप देवघर में, उस अपनी जगह में बीच-बीच में जाना और रहना नहीं हो पाता था। श्रीश्रीमहाराज के साथ बहुत वर्षों तक इस बाह्य (बहिरंग) व्यवधान में ही मेरा जीवन कटा, यद्यपि अन्तर में गहन-अन्तरंग योग कभी भी नहीं कट पाया था।"

बाह्य दृष्टि से पूज्य स्वामीजी का गुरुकरण किसी को विदित नहीं है, तथापि श्रीबालानन्दजी के अमिट प्रभाव की जो स्वीकृति उनकी अपनी वाणी में मिलती है, वह बहुमूल्य है।

५. कृतज्ञता-ज्ञापन

दुःसाध्य प्रतीत होने वाले इस कार्य का सम्पादन जिनकी प्रबल प्रेरणा से सम्भव हुआ उन स्वनामधन्य परम श्रद्धेय आचार्यचरण म० म० श्री गोपीनाथ कविराज महोदय के प्रति कृतज्ञता निवेदित करने की धृष्टता कैसे करूँ! गत

सुधा जिस प्रकार अप्रतिहत गति से इस अकिञ्चन के प्रति निरन्तर प्रवाहित हुई है, वह किसी भी जीवन को धन्य बनाने के लिए पर्याप्त है। अनुवाद के फ़र्मे देख कर जिन शब्दों में उन्होंने अपना सन्तोष, प्रसाद, आशीर्वाद व्यक्त किया है, वे अमूल्य निधिस्वरूप हैं। उनकी यह कृपा सर्वथा अहैतुकी है, उनकी अदोष-दर्शिता और गुणग्राहिता की ही वह अभिव्यक्ति है, यह प्रतीति कभी तिरोहित न हो यह प्रार्थना है। उनके अकृपण, अकुण्ठ, अविच्छिन्न स्नेह-वर्षण को जीवन की अमूल्य उपलब्धि के रूप में मस्तक पर धारण करके मौन

६. उपसंहार

दैवी-प्रेरणा-प्रणीत इस ग्रंथ के अनुवाद का कृतित्व अपने पर लादने की दुर्बुद्धि कभी न हो यही कामना है। जिस सर्वनियन्ता ने इस कार्य के प्रस्ताव, प्रेरणा, अनुमोदन, सहयोग, व्यवस्था आदि को अकल्प्य भाव से जुटा दिया, उन्हीं को इसका कृतित्व समर्पित है। मैंने इसके लिए कभी स्वेच्छापूर्वक संकल्प तक नहीं किया, अपितु सदैव प्रतिरोध ही उपस्थित किया। फिर कृतित्व कैसा ?

अंग्रेज़ी अनुवाद के लिए भी पूज्यपाद स्वामीजी ने एकाधिक बार साग्रह प्रेरणा दी है। इसके लिए कोई सुष्ठुतर माध्यम स्वतः ही जुट जायगा, ऐसा विश्वास है।

पूज्यपाद स्वामीजी इस धरा पर दीर्घकाल तक अवस्थान करें और हिंदी के शेष पाँचों खण्ड उनके समक्ष पूर्ण हो सकें यही एकमात्र प्रार्थना है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी--५
श्रीकृष्णजन्माष्टमी,
७ सितम्बर, १९६६

प्रेमलता शर्मा

कर्म इत्यादि एक-एक मूल भाव किस प्रकार अपने विचित्र विकास और परिणति तक पहुँचा है—इसके तथ्य एवं तत्त्व का विश्लेषण-समन्वय करते हुए कुछ खण्डों में इतिहास लिखने की वासना हुई। किन्तु भूमिका-ग्रन्थ 'इतिहास ओ अभिव्यक्ति' प्रकाशित होने के बाद सृष्टि, ब्रह्म इत्यादि के सम्बन्ध में अन्यान्य सुविस्तृत लेख कुछ दूर तक प्रस्तुत हो कर भी प्रकाश्य आलोक के मुख-निरीक्षण का भाग्य नहीं पा सके।

उसके बाद संन्यास-जीवन में सभी कुछ का आमूल पट-परिवर्त्तन हो गया। तरुण एवं परिणत वयस् का वह विद्या-रस अपने को ध्यान-रस और भाव-रस में खो बैठा। ग्रन्थादि-पाठ और अनुशीलन की वह प्रवृत्ति जैसे ही एक ओर निःशेष हुई, वैसे ही दूसरी ओर चाक्षुष दृष्टि का भी ह्रास हुआ। यही हुई संस्कृत में 'जपसूत्रम्' की आधार-प्रस्तुति। **जपसूत्रम् नाना शास्त्रों के अधीत-विद्य पण्डित का विरचित ग्रन्थ नहीं है, श्रद्धालु अनुगृहीत का अनुध्यात ग्रन्थ है।** बाहर से निवृत्त दृष्टि-मति आन्तर अध्यात्म-संवाद में ही निविष्ट हो गई है, यद्यपि व्याख्या में विज्ञानादि बहिर्विद्या के साथ प्रसङ्गतः समझना-बूझना पड़ा है।

जपसूत्रम् परमात्मा की इच्छा से शेष हो चला है। ग्रन्थ ६ खण्डों में विशाल भी है अवश्य। किन्तु और भी सुविशाल नहीं हो सका, इसलिए इसमें भी Synthetic Philosophy का 'स्वप्न' पूर्णाङ्ग मूर्त्ति में वास्तव नहीं हो सका। सूत्र एवं कारिकावली में उस विराट् समन्वय का दिग्दर्शन-सूत्र सम्भवतः मिल गया, किन्तु अनवगाहित महारहस्यवारिधि इस के पुरोभाग में रह गया। ग्रन्थ की व्याख्या में वेद-तन्त्र-पुराणादि के तत्त्व और चर्या (theory and practice) दोनों के विषय में अनन्त अगाध रहस्य का कितना-सा अंश यहां खोल कर देखा जा सका है! प्रसङ्गतः सूत्र के प्रयोग एवं दृष्टान्त कहने में यत्किञ्चित् ही हुआ है। वह काम तो encyclopeadic (विश्वकोषात्मक) है। भावी विधाता यथासमय उस काम को अपने सुयोग्य हाथ में ही देंगे।

कर्म इत्यादि एक-एक मूल भाव किस प्रकार अपने विचित्र विकास और परि-णति तक पहुँचा है—इसके तथ्य एवं तत्त्व का विश्लेपण-समन्वय करते हुए कुछ खण्डों में इतिहास लिखने की वासना हुई। किन्तु भूमिका-ग्रन्थ 'इतिहास ओ अभिव्यक्ति' प्रकाशित होने के बाद सृष्टि, ब्रह्म इत्यादि के सम्बन्ध में अन्यान्य सुविस्तृत लेख कुछ दूर तक प्रस्तुत हो कर भी प्रकाश्य आलोक के मुख-निरीक्षण का भाग्य नहीं पा सके।

उसके बाद संन्यास-जीवन में सभी कुछ का आमूल पट-परिवर्त्तन हो गया। तरुण एवं परिणत वयस् का वह विद्या-रस अपने को ध्यान-रस और भाव-रस में खो बैठा। ग्रन्थादि-पाठ और अनुशीलन की वह प्रवृत्ति जैसे ही एक ओर निःशेष हुई, वैसे ही दूसरी ओर चाक्षुष दृष्टि का भी ह्रास हुआ। यही हुई संस्कृत में 'जपसूत्रम्' की आधार-प्रस्तुति। जपसूत्रम् नाना शास्त्रों के अधीत-विद्य पण्डित का विरचित ग्रन्थ नहीं है, श्रद्धालु अनुगृहीत का अनुध्यात ग्रन्थ है। बाहर से निवृत्त दृष्टि-मति आन्तर अध्यात्म-संवाद में ही निविष्ट हो गई है, यद्यपि व्याख्या में विज्ञानादि बहिर्विद्या के साथ प्रसङ्गतः समझना-बूझना पड़ा है।

जपसूत्रम् परमात्मा की इच्छा से शेष हो चला है। ग्रन्थ ६ खण्डों में विशाल भी है अवश्य। किन्तु और भी सुविशाल नहीं हो सका, इसलिए इसमें भी Synthetic Philosophy का 'स्वप्न' पूर्णाङ्ग मूर्त्ति में वास्तव नहीं हो सका। सूत्र एवं कारिकावली में उस विराट् समन्वय का दिग्दर्शन-सूत्र सम्भवतः मिल गया, किन्तु अनवगाहित महारहस्यवारिधि इस के पुरोभाग में रह गया। ग्रन्थ की व्याख्या में वेद-तन्त्र-पुराणादि के तत्त्व और चर्या (theory and practice) दोनों के विषय में अनन्त अगाध रहस्य का कितना-सा अंश यहां खोल कर देखा जा सका है! प्रसङ्गतः सूत्र के प्रयोग एवं दृष्टान्त कहने में यत्किञ्चित् ही हुआ है। वह काम तो encyclo-peadic (विश्वकोषात्मक) है। भावी विधाता यथासमय उस काम को अपने सुयोग्य हाथ में ही देंगे।

अन्तिम दो बातें

(मूल षष्ठ खण्ड से उद्धृत)

जपसूत्रम् इस खण्ड में समाप्त हुआ। पूर्वखण्ड में थोड़ी सी 'आत्मकथा' थी। इस खण्ड में उसकी अनुवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। फिर भी एक बात फिर से स्मरण करा देना चाहता हूँ 'जपसूत्रम् श्रद्धालु अनुगृहीत का अनुध्यात ग्रन्थ है'। साधारण मगज का काम जिसे समझा जाता है, उसे प्रायः बन्द रख कर ग्रन्थ का जो मूल सूत्र और कारिकावली, है उसे प्राप्त करना पड़ा है। अर्थात् मगज को यथासम्भव 'बेकार' (निर्व्यापार) बना कर ऊर्ध्व-चेतना की अवतरणी धारा में उसे मिला देना पड़ा है। जैसे — एकान्त में लेखनी और पुस्तिका लेकर चुप होकर बैठ रहते समय सहसा एक-एक सूत्र व कारिका मानो कलम के मुख पर आते गये हैं। सूत्रों के सम्बन्ध में तो यह है ही; कारिकाओं में कभी-कभी कुछ-कुछ मगज का व्यापार भी हुआ है। पुस्तिका में marginal notes (पार्श्वटिप्पणियों) को देख कर ऐसा लगता है। बडे छन्दों के श्लोकों को समय-समय पर सोच-विचार कर छन्द मिला कर ठीक बैठाने में भी कुछ काम करना पड़ा है। किन्तु यह सब मगज का मामूली काम है। काम का जो असली भाग है, वह मगज के जिम्मे या उस के हाथ में वैसा कुछ नहीं था। भाव, भाषा, शैली —ये सभी मानो एक 'आवेश' की भाँति ही आ गए हैं। मूल की देवभाषा स्वतः ही आ गई हैं, उन की कृपा भी मैंने अकुण्ठभाव से पाई है। और अंग्रेजी में बीच-बीच में कुछ बातें देने से व्याख्यान में सुविधा ही हुई ऐसा लगता है। अवश्य ही, साधारण मगज की ही बात हो रही थी। 'ददामि बुद्धियोगं ते'—उस 'बुद्धियोग' की बात नहीं हो रही है। उस 'बुद्धियोग' का थोड़ा सा स्पर्श ही तो इस काम का मूल, इसकी प्रेरणा, इस का प्राण, सम्बल,—इस का सब कुछ है।

व्याख्या करते समय मगज को भी काफ़ी चलाना पड़ा है। वह भी ठीक 'कारीगर' की भाँति नहीं, जुगाड़ करने वाले 'मजूरे' की भाँति। 'मजूरे' और ठेकेदार का काम भी आवश्यक है, उस में मेहनत भी बहुत है; फिर भी कर्म का जो 'ध्यान' है, जो 'परिकल्पन' है, वह उसे नहीं करना होता। नियन्त्रण और निर्वाचनादि भी उसका नहीं होता। जो कर्माध्यक्ष हैं, वे जब तक स्वयं न

चला दें, तब तक इस क्षेत्र में कुछ नहीं होता। सूत्रादि की व्याख्या में पग-पग पर यह समझना पड़ा है। अपने हाथ से लिखे सूत्र का या श्लोक का क्या गूढ़ भाव है, यह उनके अपने प्रकाश में जब तक नहीं दिखाया गया है, तब तक देख नहीं पाया हूँ; इसीलिए व्याख्या के आरम्भ में अर्थ टटोलते समय भौचक्का रह गया हूँ। बाद में उनके स्वयं समझा देने पर इस अनुगृहीत आधार में असीम विस्मय और तृप्ति, प्रकाश और पुलक हुआ है।

केवल यही लगता रहा है कि शायद मेरे लिए ही यह सब कुछ तुम लिखा रहे हो! तब और किसी के पढ़ने न पढ़ने की, समझने न समझने की बात ही मन में नहीं उठी। किन्तु इतना जानता था कि मैं तो केवल यह 'मैं' मात्र नहीं हूँ, वह 'प्रत्यगात्मा' हूँ। सत्य, सुषम, सुन्दर सभी आधारों में सत्य यथोपयोग खिल ही उठेगा। आज मेरे [1]प्राणगोपालदा नहीं है, [2]मन्मथदा भी नहीं है। फिर भी [3]श्रीश्री सीताराामदास ओङ्कारनाथजी, [4]श्रीगोपीनाथजी [5]अनिर्वाणजी जैसे दो चार जन हैं तो। [6]श्रीमान् गोविन्द ही था मूल में उपलक्ष्य। और श्रीगुरु-कृपा की सहायता पा कर वह इसका व्याख्यान भी स्वच्छ-उज्ज्वल, सुन्दर रूप से सभी के लिए करता है। सभी को कितना अच्छा लगता है?

अन्त में श्रीगौराङ्ग प्रेस को भी इस बड़े काम को सौष्ठव से पूरा करने के लिए सर्वान्तःकरण से धन्यवाद देता हूँ।

—स्वामीजी।

---

[1] द्वितीयखण्ड में से उद्धृत निवेदन द्रष्टव्य। ये श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय के पितृचरण थे—अनुवादिका।

[2] पूज्यपाद स्वामीजी के अग्रज श्रीमन्मथनाथ मुखोपाध्याय—अनु०।

[3] वङ्गाल के एक प्रसिद्ध महात्मा जो अभी इहलोक में विराजमान हैं। —अनु०

[4] महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथ कविराज।—अनु०

[5] कलकत्ता के स्वामी अनिर्वाण जिन्होंने वेद में गहन अनुसन्धान किया है। आपकी ग्रन्थमाला 'वेद मीमांसा' के दो खण्ड राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, कलकत्ता से प्रकाशित हो चुके हैं।—अनु०

[6] डॉ० श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय।—अनु०

भूमिका

(मूल तृतीय खण्ड से उद्धृत)

१

श्रीमत् स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती ने जपसूत्रम् नाम से एक उपादेय ग्रन्थ की रचना कर के जिज्ञासु साधक और विद्वत् समाज के समक्ष उसे प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ का मूल सूत्राकार में रचित है, सूत्रों पर सूत्र-व्याख्यारूप वार्तिक हैं,—ये कारिका के आकार में निबद्ध हैं। सूत्र और वार्तिक दोनों ही प्राञ्जल संस्कृत-भाषा में रचित हैं। आलोचित विषय का तात्पर्य-विवरण चिन्ताशील, तत्त्वान्वेषी पाठकों के बोधसौकर्य के लिये विशद रूप से विस्तारित भाव से बंगला भाषा में दिया गया है। इसे जपसूत्र का भाष्य समझ सकते हैं।

ब्रह्मसूत्र, शिवसूत्र, शक्तिसूत्र, स्वरसूत्र, कौलसूत्र, यज्ञसूत्र प्रभृति की भाँति जपसूत्र एक सूत्र-ग्रन्थ है। ग्रन्थ चार अध्यायों में एवं प्रति अध्याय चार पादों में विभक्त है। सूत्रसंख्या ५०० से अधिक एवं कारिकासंख्या उस से प्रायः चतुर्गुण है। इस महाग्रन्थ के दो खण्ड पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं एवं सम्प्रति तृतीय खण्ड प्रकाशित हो रहा है। इन तीन खण्डों में प्रथम अध्याय के चार पादों के १२० सूत्रों की व्याख्या सम्पूर्ण हुई है, एवं द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद के आरम्भिक २२ सूत्रमात्र व्याख्यात हुए हैं। यदि इस प्रकार विस्तारित व्याख्या-प्रणाली का अनुसरण करके समग्र ग्रन्थ की आलोचना सम्भव हो सके तो वर्तमान आयतन के अनुरूप और भी नौ खण्डों का प्रकाशन आवश्यक होगा*। अध्यात्मसाधन के विषय में केवल एक तत्त्व के सम्बन्ध में ऐसा विशाल और सूक्ष्म-विश्लेषण-पूर्ण ग्रन्थ पृथिवी के किसी देश के साहित्य में है, ऐसा ज्ञात नहीं है।

ग्रन्थकार गम्भीर चिन्ताशील दार्शनिक हैं, वैदिक और तान्त्रिक सिद्धान्त और साधन-पद्धति के मर्मज्ञ हैं, आधुनिक विविध विज्ञान और गणितशास्त्र के

* चतुर्थ खण्ड के बाद पञ्चम और षष्ठ खण्ड में भाष्य का विस्तार बहुत कुछ संकुचित हो गया। इसलिए ग्रन्थमाला छः खण्डों में ही पूर्ण हो गई है।—अनुवादिका।

ग्रन्थकार को ग्रन्थ में प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण के लिए आनुषङ्गिक भाव से बहुत तत्त्वों की आलोचना करनी पड़ी है। मन्त्र, यन्त्र एवं तन्त्र किसे कहते हैं, मन्त्र-जपरूपा क्रिया की निष्पत्ति किस प्रकार होनी चाहिये, इस का चरम लक्ष्य क्या है, ध्वनि (नाद), संख्या और भाव का अर्थ क्या है अर्थात् वाक्, प्राण और मन का अथवा अग्नि, सूर्य और चन्द्र का स्वरूप और प्रकारभेद क्या है ? जप का अन्तराय क्या है ? एवं अन्तराय निवृत्ति का उपाय क्या है, इस प्रकार के बहुत से प्रश्नों का समाधान ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में मिलता है। द्वितीय और तृतीय खण्ड में सप्त व्याहृति-रहस्य और महामाया-तत्त्व बहुत से प्रासङ्गिक विषयों के साथ विस्तार-पूर्वक आलोचित हुआ है। इस आलोचना की तुलना नहीं है। चित्शक्ति केवल चिन्मात्र वा प्रकाश-मात्र नहीं है, - वह चित् का स्वयं अपने को विशेष-विशेष-भाव से ईक्षण का सामर्थ्य है। दोनों (चित् और चित्शक्ति) ही स्वरूपतः एक हैं, फिर भी दोनों में वैलक्षण्य है। इस वैलक्षण्य को स्वीकार करके ही दोनों की अद्वयता स्वीकार्य है। विमर्शहीन प्रकाश प्रकाशमान न होने के कारण ही अप्रकाश वा असत्कल्प है। किन्तु प्रकाश तो विमर्शहीन नहीं होता। इसीलिए प्रकाश की स्वप्रकाशता और सद्भाव अक्षुण्ण ही रहता है। सत् और असत् यह विरुद्ध-भाव विकल्पमात्र है—निर्विकल्प वा अद्वय ही तत्त्वातीत परम तत्त्व है। ग्रन्थकार ने आगम और उपनिषदों के सारांश को अपनी अपूर्व युक्ति और विवेचन-सरणि द्वारा ऐसे मनोज्ञ रूप में सुकौशल से स्थापित किया है कि वह मन्दबुद्धि पाठकों को भी बोधगम्य हुए बिना नहीं रह सकता। हाँ, आन्तरिकता और मनोनिवेश आवश्यक है।

रादि वर्ण उद्भावित होते हैं। अद्वैत स्थिति में जो कलायें अभिन्न भाव से आन्तरशब्द या स्वभाव के रूप में विद्यमान रहती हैं, वे उस स्वरूप में अक्षुण्ण रहकर भी सृष्टि की उन्मेष-दशा में मानो अंशतः विभक्त रूप से क्रमशः ब्राह्मी प्रभृति अष्ट वर्ग-शक्तियों और 'अ' 'आ' प्रभृति पंचाशत् रुद्रशक्तियों के रूप में अवतीर्ण होती हैं, बाद में इन शक्तियों से पद-वाक्य-समूह के रूप में असंख्य क्षुद्र शक्तियाँ आविर्भूत होती हैं। अकारादि आत्मा के निजविमर्श-स्वरूप और स्वाभिन्न होने पर भी अज्ञान-अवस्था में निज आत्मा से भिन्न रूप में प्रतीत होते हैं, इसीलिए उन्हें कला या अंश नाम दिया जाता है। यही मातृकाशक्ति है। इनके द्वारा आत्मा का स्वीय ऐश्वर्य वा विभव (आचार्य शङ्कर ने दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र में महाविभूति कह कर जिसका उल्लेख किया है) विलुप्तप्राय हो जाता है। कला आत्मस्वरूप से उद्भूत होकर आत्मा के ऐश्वर्यभाव को ढक रखती है। तब शिवरूपी आत्मा जीव वा पशुरूप में आविर्भूत होते हैं। यही उनका स्वरूपसङ्कोच वा अणुभाव-प्राप्ति है। यह अणुरूपी प्रमाता तब पूर्ववर्णित अष्टवर्गीय ब्राह्मी आदि शक्ति, अकारादि रुद्रशक्ति और तदुत्थ पद-वाक्य-आदि-मय असंख्य क्षुद्र शक्तियों का क्रीडनक बन जाता है। मातृकायें अणु-जीव के प्रत्येक संवेदन में ही अन्तःपरामर्शन द्वारा स्थूल-सूक्ष्म शब्दानुवेध करती हैं, और वर्ग-वर्गी प्रभृति देवतागण के अधिष्ठान के द्वारा चित्त में काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि भाव या वृत्तियों को उद्भावित करती हैं। इस प्रकार आत्मा का असङ्कुचित स्वातन्त्र्यभाव निबिड़ रूप आच्छन्न हो जाता है, और देहात्मभाव, पारतन्त्र्य और परबन्धन का सूत्रपात होता है। मातृका का यह लयविक्षेपकारक प्रभाव वैखरी वाक् में अत्यन्त प्रस्फुट है। चिदुन्मेष के अभाव के कारण साधारण मनुष्य वैखरी भूमि में आबद्ध रहता है—इसका लङ्घन करके मध्यमा में प्रवेश नहीं कर सकता। वैखरी वाक् का कार्यक्षेत्र स्थूल होने पर भी उसका प्रभाव अशुद्ध मनोमय स्तर, सूक्ष्म भूत और लिङ्ग-शरीर में भी लक्षित होता है। काल के आवर्तन में पर्यायक्रम से स्थूल और सूक्ष्मभाव का उदय-अस्त हुआ करता है। एक बार स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति होती है, पुनः सूक्ष्म से स्थूल में प्रत्यागमन होता है, तदनन्तर स्थूल से पुनः सूक्ष्म की ओर धारा बहने लगती है। इस प्रकार निरन्तर स्थूल और सूक्ष्म का आवर्तन हुआ करता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का आवर्तन इस महा-आवर्तन का ही एकदेश-मात्र है। गति का यह आवर्तन-भाव वैखरी-

है। इस वाक् से निखिल देवता प्रकाशित होते हैं—ये सब देवता सर्वज्ञ हैं, एवं समग्र विश्व के कार्य में अपने-अपने अधिकार के अनुसार व्यापृत हैं। केवल देवता का प्रकाश पश्यन्ती वाक् का कार्य नहीं है—विष्णु का परमपद पर्यन्त पश्यन्ती भूमि से ही दृष्टिगोचर होता है। सूरिगण जिस परम पद का निरन्तर दर्शन करते हैं उसे इस भूमि में ही जानना होगा। वस्तुतः पश्यन्ती वाक् में ही कारणस्थ चैतन्य की स्फूर्ति होती है—यही देवता का स्वरूप है। प्राचीन काल में मन्त्र-साक्षात्कार के फल से जो ऋषित्व-लाभ होता था, वह इस पश्यन्ती भूमि की प्राप्ति का ही फल है। यही आत्मा की 'अमृत कला' है— **"विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्"**। पश्यन्ती का स्वरूपदर्शन होने पर अधिकार-निवृत्ति होती है **'तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्त्तते'**। एक हिसाब से देखने पर पश्यन्ती के परे वाक् की और कोई उच्चतर अवस्था कल्पनीय नहीं होती। इसीलिये प्राचीन आचार्यों में से बहुतों ने वाक् को त्रिविध (त्रयी वाक्) कह कर भी इसका वर्णन किया है। किन्तु फिर भी पश्यन्ती की भी एक परा अवस्था है, ऐसा स्वीकार करना होगा। इसीलिये कोई-कोई नाम से परा वाक् स्वीकार न करते हुए भी कार्यतः **'त्रय्या वाचः परं पदम्'** कह कर प्रकारान्तर से उसे स्वीकार करने को बाध्य हुए हैं।

यह परा वाक् चिन्मय और परम अव्यक्त है। इस भूमि में व्यष्टि देवता का प्रकाश नहीं है, समष्टि देवता वा ईश्वर-चैतन्य में समस्त वाक् परिसमाप्त हो गई है। यह वाक् सृष्टि के ऊर्ध्वतम शिखर से निम्नतम भूमि पर्यन्त समरूप से व्याप्त है। यह ऊर्ध्व सहस्रार की सर्वोच्च अग्रभूमि से उत्थित होकर मूलाधार पर्यन्त व्याप्त है; जैसे यह कहा जा सकता है, वैसे ही यह भी कहा जा सकता है कि यह मूलाधार के निम्नस्थित महाकारण-समुद्र में प्रकाशमान 'अधःसहस्रार' से उत्थित होकर 'ऊर्ध्व सहस्रार' के द्वादश दल में वाग्भव-कूट पर्यन्त व्याप्त है। कोई-कोई ऐसा कहा भी करते हैं। वास्तव में ऊर्ध्व सहस्रार के ही भिन्न-भिन्न स्तरों में इस वाक् का उद्भव है—उनमें से एक का (मध्यमा का) विस्तार नीचे की ओर हृदय-पर्यन्त है, द्वितीय का (पश्यन्ती का) नाभि वा उसके किञ्चित् निम्न- देश-पर्यन्त, एवं तृतीय (परा) का मूलाधार-पर्यन्त है। अध-ऊर्ध्व सर्वदेशव्यापी सत् रूप चैतन्य ही परा वाक् का तात्पर्य है। इसी का नाम नित्य अक्षर है।

इस अवस्था के बाद फिर शब्द की गति नहीं है। मध्यमा वाक् से इस अक्षर-ब्रह्म पर्यन्त योगी की गति शब्दब्रह्म के अन्तर्गत है। अक्षर-ब्रह्म का

भेद होने ही परब्रह्म का द्वार खुल जाता है। परब्रह्म शब्दातीत हैं। इसी लिये शास्त्रकारों ने कहा है 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।'

जहां तक शब्द का विकास है, वहीं तक आकाश कल्पित होता है। जो नित्य, अक्षर अथवा सत् है, उसी का नाम है परमाकाश, जिसे विभिन्न प्रस्थानों में एवं वैदिक मन्त्रादि में भी 'परम व्योम' कहकर निर्दिष्ट किया गया है। जो शब्दातीत अवस्था है, वहां आकाश नहीं है—वहां शक्ति और शिव दोनों तत्त्व अविभाज्य युग्म के रूप में विराजते हैं। युगलभाव, यामलभाव अथवा युगनद्धभाव शिव-शक्ति के इस अविनाभाव की ही सूचना देते हैं। समना और उन्मना शक्ति दोनों ही ब्रह्मशक्ति है—समना शक्ति-तत्त्व का आश्रय लेकर परब्रह्म की इच्छा के अनुसार सृष्टि का विस्तार करती है, एवं उन्मना शिवतत्त्व का आश्रय लेकर परब्रह्म के विमर्शहीन विश्वातीत रूप की ओर उन्मुख रहती है। शिव-शक्ति अभिन्न होने से किसी को भी छोड़कर कोई नहीं रह सकता। इसके बाद फिर तत्त्व नहीं है। वहां पर तत्त्वातीत अद्वैत स्थिति है।

इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ और सूक्ष्म है; बाह्य पूजा की अपेक्षा जैसे आन्तर पूजा श्रेष्ठ है, वैसे ही बाह्य जप की अपेक्षा आन्तर जप श्रेष्ठ है। विधिपूर्वक नाना प्रकार के वर्णों का उच्चारण ही बाह्य जप का लक्षण है। इसे आचार्यों ने विकल्पात्मक संजल्प कहकर उल्लिखित किया है। जो परम पद और परम पद के अभिलाषी हैं, उनके लिए क्रमशः बाह्य जप से विमुख होकर आन्तर जप में निविष्ट होना आवश्यक है।

प्रथम आरम्भ अवश्य वैखरी से ही हुआ करता है। कर्तृत्वाभिमान लेकर ही सकल्पपूर्वक कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है। कण्ठ जप ही वैखरी जप का स्थूल लक्षण है। वाचिक, उपांशु और मानसिक—ये तीनों प्रकार के जप वैखरी के अवान्तर भेद हैं। इन तीनों भेदों में 'जप करना' यह भाव रहता है। मानस कर्म भी जिस प्रकार कर्म है, उसी प्रकार मानस जप भी वस्तुतः वखरी जप के सिवाय और कुछ नहीं है। मानस जप करने के मूल में भी कर्ता के रूप में अहंभाव अक्षुण्ण रहता है। अर्थात् 'मैं जप कर रहा हूँ' यह भाव स्फुट अथवा अस्फुट भाव से विद्यमान रहता है। उसके बाद धीरे-धीरे अवस्थान्तर का उदय होता है। तब कण्ठ-रोध हो जाता है प्रयत्न द्वारा जप करना फिर नहीं चल सकता। कर्मकारिणी नाड़ियाँ कियदंश में स्तब्ध हो जाती हैं, तब जप अपने-आप भीतर-भीतर चलता रहता है, इसका नाम है 'जप होना'। यह स्वभाव का जप है। इसके तीन भेद हैं। पहले हृदय में जप होता है, उसके बाद द्वितीयावस्था में नाभि में होता है एवं अन्त में मूलाधार में हुआ करता है। हृदय-जप को ही मध्यमामार्ग में प्रवेश समझना होगा। उस अवस्था में नाद अपने-आप चलता रहता है। मध्यमा में प्रवेश न होने तक केवल बाह्य जप में नाद-श्रुति नहीं होती। बाह्य जप में मन्त्राक्षरों का पृथक्-पृथक् उच्चारण रहता है, इसलिए वह विकल्पमय है, इसीलिए वह प्रकृत मन्त्र नहीं है। मध्यमा भूमि में जब नाद के साथ मन्त्र स्वभावतः ध्वनित हो उठता है, तभी उसे आन्तर जप समझना होगा। अपने-अपने विषय से इन्द्रियों का संचार निरुद्ध करके आभ्यन्तर नाद का उच्चारण करना होता है।

संयम्येन्द्रियग्रामं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम्।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः॥

परम भाव की ओर जो पुनः-पुनः भावना है, वही आन्तर जप है – नाद की प्रकटावस्था है।

हृदयकमल के बीच जो आकाश दिखाई देता है, जिसे उपनिषद् में हृदयाकाश कह कर वर्णन किया है, उसमें अर्थात्—उस अनाहत प्रदेश में सर्वदा ही भगवती का आनन्दमय स्वरूप नादरूप में परिणत होकर चारों ओर संसर्पित होता रहता है। हमारा मन साधारणतः बहिर्मुख रहता है, इसलिए इस नाद का सन्धान नहीं मिलता। किन्तु जब गुरु-कृपा से मन अन्तर्मुख होता है, तब परिस्फुट भाव से इसका परिचय प्राप्त होता है। उसके प्रभाव से नेत्रों में अश्रु का उद्गम होता है। समस्त शरीर में पुलक व रोमांच का संचार होता है, एवं अन्यान्य सात्त्विक भावों का आविर्भाव होता है।

शुद्ध विद्याभूमि में स्थित विद्येश्वर-रूपी श्रीगुरु के मुख से निःसृत वाणी मध्यमा वाक् के रूप में आत्मप्रकाश करती है, सहस्रदलकमल के दल से हृदय-पर्यन्त इस वाणी का विस्तार अनुभूत हुआ करता है। इस वाणी के प्रभाव से माया का आवरण क्रमशः उन्मुक्त होता रहता है, और साधक का अपना स्वरूप सद्विद्यायुक्त होकर पुरुष और प्रकृति को एक अभिन्न ज्ञान के अन्तर्गत समझता है। नव नादों में से इसे प्रथम नाद समझना होगा।

विषय को और भी स्पष्ट करके उसकी आलोचना करने का यत्न करता हूँ। महर्षि पतञ्जलि के निर्देशानुसार मन्त्र-जप के साथ मन्त्रार्थ को भावना आवश्यक है, भावना और जप परस्पर अच्छेद्य सम्बन्ध से जड़ित हैं। आगम के रहस्यविद् गण कहते हैं कि जप के साथ मन्त्र के अवयवसमूह में छः शून्य, पांच अवस्था और सात विषुव की भावना करनी पड़ती है। छः शून्यों में से पांच का वर्ण-वैचित्र्यमय अपना-अपना पृथक् मण्डलाकार रूप है। किन्तु षष्ठ अनुत्तर या महाशून्य है। प्रथम पांच शून्यों को ठीक निराकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मन का स्पन्दन जब तक रहता है, तब तक किसी न किसी प्रकार अतिसूक्ष्म आकार का संभव रह ही जाता है। किन्तु षष्ठ शून्य मन के अतीत है, इसलिए वास्तव में ही निराकार, महाशून्य है। प्रणव अथवा बीजमन्त्र के प्रथम तीन अवयव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के द्योतक हैं, उस के बाद जो सूक्ष्मतर अवयव हैं, उनमें से सभी वस्तुतः तुरीय और तुरीयातीत अवस्था के ही अन्तर्गत हैं। उन सब अवयवों के नाम इस प्रकार हैं—बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना। प्रथम तीन अवयवों के साथ ये नौ सम्मिलित होकर द्वादश अवयव बन जाते हैं। इनमें से हर दूसरे अवयव की शून्य रूप से भावना करनी होती है। इसका

बहुत गहरा रहस्य है, किन्तु यहाँ उसकी आलोचना अनावश्यक है। इस प्रकार द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम और द्वादश ये छः अवयव शब्द-पद-वाच्य हैं; इनमें से प्रथम पाँच अवान्तर-शून्य हैं, एवं षष्ठ महाशून्य है। पाँच निम्नवर्ती शून्यों के बीच एक क्रम-विकास और क्रम-ह्रास का भाव अनुभव में आता है, जिसे साधनमार्ग में प्रविष्ट व्यक्तिमात्र ही गुरुकृपा से समझ सकते हैं।

जिस अवस्था में दस इन्द्रियों द्वारा जागतिक व्यापार निष्पन्न होता है, उसे जाग्रत् अवस्था कहते हैं। वस्तुतः प्रकाश उसका कारण है, इसलिये प्रकाश को ही जाग्रत् रूप में भावना करने का विधान है। जिस अवस्था में चतुर्विध अन्तःकरण द्वारा व्यवहार निष्पन्न होता है, उसका नाम है स्वप्नावस्था। स्वप्न में विद्यमान अन्तःकरण-वृत्ति का लय होने पर समस्त इन्द्रियों की उपरम-रूपा जिस अवस्था का उदय होता है, उस का नाम सुषुप्ति है। सुषुप्ति-भावना का स्थान भ्रूमध्य-स्थित बिन्दु में है। यह बिन्दु हृल्लेखा का ऊर्ध्व-बिन्दु है, ऐसा समझना होगा। स्वात्मचैतन्य की अभिव्यक्ति के लिए नाद का आविर्भाव ही तुरीय का स्वरूप है। अर्धचन्द्र, रोधिनी और नाद — इन तीन मन्त्रावयवों में इसकी भावना करना उचित है। तुरीयातीत अवस्था परमानन्द-स्वरूप है। यह मन और वाक् के अतीत है, फिर भी मन और वाक् का आभास देहावस्थान-काल में अधिकार के अनुसार किसी-किसी का रह ही जाता है। नादान्त से शक्ति, व्यापिनी और समना के बाद उन्मना-पर्यन्त तुरीयातीत अवस्था व्याप्त है। उन्मना के बाद और कोई अवस्था नहीं है।

मात्राहीन या अमात्र शिवस्वरूप आत्मा से चित्कला का आभास बिन्दु या विशुद्ध सत्त्वरूप दर्पण में गिरकर उसमें अवस्थित स्थिरीकृत माया पर आघात करता है। मात्रा के इस आभास को धारण कर पाने पर वह साधक या योगी की योगानुभूति की भूमि के रूप में परिगणित होती है। एकमात्रा विभक्त होकर अर्द्धमात्रा का सन्धिस्थान अत्यन्त गुह्य है। स्थूल विश्व की अनुभूति मन की जिस मात्रा में होती है उसे एक मात्रा माना जाता है। स्थूल लौकिक अनुभूति का आरम्भ इस एक मात्रा में है—मात्रा का आधिक्य जाड्यवृद्धि के कारण है। मन का समस्त क्षेत्र चेतन या बोधमय नहीं है, उसमें अवचेतन अंश भी है। हमारी स्मृति में जो नाम या शब्दराशि संचित है वह हमारे अनुभव का ही परिणाम है। यह अनुभव स्थलविशेष में मन की एकाग्रता (कम से कम आंशिक) के फलस्वरूप उदित होता है। इसलिए

इस शब्द का स्मरण करने के साथ-साथ शब्द का अर्थ वा रूप चित्तक्षेत्र में जाग उठता है। वाचक के स्मरण से वाच्य की स्फूर्ति हुआ करती है। साधक का कर्त्तव्य, साधना का उद्देश्य है --अपने मन को एकाग्र करना व केन्द्र में स्थापित करना अर्थात् एक मात्रा में अवस्थित रखना। समाधि-प्रभृति के अभ्यास का प्रकृत उद्देश्य भी यही है। साधारणतः मन एक मात्रा में नहीं रहता। विक्षिप्त और क्षिप्तावस्था में चञ्चलता के फलस्वरूप मात्रा का बाहुल्य हो जाया करता है। मूढ़ावस्था की बात की आलोचना की यहाँ आवश्यकता नहीं है। मन उत्थित होकर एकमात्रा में स्थित होने पर ऊपर से ही उसमें गुरुकृपा-रूपी चिद्रश्मि का सम्पात होता है। उसके फलस्वरूप एक मात्रा स्वस्थान में एक मात्रा के रूप में अक्षुण्ण रहकर भी 'अतीत' बनने में अर्धमात्रा-प्रभृति के रूप में परिणत होती है।

यहाँ से सीमाहीन अनन्त की ओर गति की सूचना होती है---दिव्य अनुभव का आरम्भ होता है। चित्किरण-सम्पात की वृद्धि के अनुसार मात्रा का भग्नांश बढ़ता रहता है, अर्थात् मात्रांश क्रमशः क्षुद्र से क्षुद्रतर होता रहता है, एवं प्रतिफलित चैतन्य क्रमशः अधिकतर उज्ज्वल और परिस्फुट होता रहता है। जिस स्थान पर चिद्रश्मि का सम्पात होता है, उसे एकमात्रा और अर्धमात्रा की सन्धि समझा जाता है - ऊपर से एकमात्रा में इस रश्मि के आने से ऊपर की ओर एकमात्रा टूटना आरम्भ कर देती है, अथच नीचे की ओर एकमात्रा अक्षुण्ण ही रहती है।

यह एकमात्रा ही समग्र स्थूल विश्व का मध्यबिन्दु है। लौकिक विशाल जगत् इस एक मात्रा में उपसंहृत होता है, एवं यहाँ से प्रबुद्ध होकर दस दिशाओं के विभिन्न स्तरों में बिखर जाता है। इस मात्रा को एक दृष्टि से सुषुप्ति की समधर्मा कहा जा सकता है। इस दृष्टि से ही अर्धमात्रादि को तुरीय और अतितुरीय अवस्था के आभास का ज्ञापक समझा जाता है।

मन की मात्रा जितनी ही प्रसारित होती है, उतना ही मन का अंश क्षुद्रतर होता है, उतना ही चिदालोक उज्ज्वलतर होता है। अर्धमात्रादि में जो प्रतिफलित चैतन्य है, वही मन्त्र है। जो चित्त उसका आधार है उसे भी मन्त्र कहते हैं।

पहले जिस बिन्दु की बात कही जा चुकी है वही मात्रा से मात्राहीन में जाने का द्वार है। यहाँ ज्ञातृ, ज्ञेय, और ज्ञान एकाकार हो जाते हैं और

विराजमान है। व्यापिनी भी शून्यरूप में कल्पनीय है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। किसी-किसी ने व्यापिनी को ही महाशून्य मान लिया है। वस्तुतः यह महाशून्य नहीं है, इसके बाद भी शून्य है। यहाँ साकार और निराकार का भेद तिरोहित हो जाता है। यहाँ की अनुभूति एक अद्वय आत्मानुभूति की अङ्गीभूत है। व्यापिनी के बाद व्यापिनी-पदावस्थित अनाश्रितभुवन के ऊपर समना है। यह ब्रह्म-बिल के बाहर है और अतीत मन का स्थान है। यहाँ मन नहीं है, अथच मन है। नादान्त से ही इस अतीत मन की सूचना मिलती है। सूक्ष्म समष्टि मन नाद में ही परिसमाप्त होता है—उसके बाद ही अतिमानस है। समना ही सब कारणों की कर्तृभूता, महेश्वर की परा शक्ति है। पूर्णब्रह्म की ईक्षणशक्ति अवतरण-क्रम में समना के रूप में उतर कर समष्टि-मन में सञ्चारित होती है। परमेश्वर सृष्टि आदि पाँच प्रकार के कृत्यों को समना में आरूढ़ होकर ही सम्पादन करते हैं। समना का दूसरा छोर उन्मना है—यह अतीत मन के भी अतीत है। आत्मा के विकल्परहित केवल स्वरूप में अवस्थान का बोध यहीं पर होता है। यह अमेय और अनिर्देश्य है। नव नादों में से यही नवम नाद है। बिन्दु में जिस नादसमूह की सूचना है, उन्मना में उसकी समाप्ति है। यही प्रकृत महाशून्य है। श्रीमाता की महाकरुणा के बिना इसका भेद नहीं किया जा सकता। इसके बाद फिर शब्दब्रह्म नहीं है—अथवा शब्द-ब्रह्म ही परब्रह्म वा अद्वैत-आत्मस्वरूप में स्वयं प्रकाशित होता है।

जप की आनुषङ्गिक भावना के साथ संसृष्ट छः शून्य और पाँच अवस्थाओं का किंचित् आभास दिया गया। अब सात विषुवों की बात यथासम्भव संक्षेप से लिखने का यत्न करता हूँ। विषुवसप्तक के प्रचलित नाम इस प्रकार हैं—प्राण-विषुव, मन्त्रविषुव, नाड़ी-विषुव, प्रशान्तविषुव, शक्तिविषुव, कालविषुव, और तत्त्वविषुव। प्राण, आत्मा और मन के परस्पर योग को प्राण-विषुव कहते हैं। अभिव्यज्यमान नाद को जापक की अपनी आत्मा समझ कर भावना करना मन्त्रविषुव का तात्पर्य है। मूलमन्त्र के द्वारा छः चक्र और द्वादश ग्रन्थियों का क्रमशः भेद होने पर मध्यनाड़ी में नादस्पर्श होता है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त बीज-शिखरवर्त्ती नाद उच्चारित होने पर नाड़ीविषुव-रूप स्पर्श उद्भूत होता है। नादान्त-पर्यन्त मन्त्रावयव की शक्ति में लय-भावना प्रशान्त-विषुव के नाम से अभिहित है। शक्ति-मध्यगत नाद के समना-पर्यन्त चिन्तन को शक्ति-विषुव कहा जाता है। यहाँ तक काल का

मैंने ग्रन्थोक्त किसी पदार्थ की आलोचना करने का यत्न नहीं किया है, क्योंकि आलोचना करने जाए तो सभी विषयों की आलोचना आवश्यक है। ग्रन्थ की विस्तारित समालोचना पृथक् भाव से कोई कृती लेखक अदूर भविष्य में करेंगे, ऐसी आशा रखता हूँ। स्वानुभूति, सद्युक्ति और वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्त के साथ शास्त्रीय सिद्धान्त का ऐसा अपूर्व समन्वय करने का यत्न मैंने और कहीं नहीं देखा है। श्रीभगवान् की कृपा से परम श्रद्धेय स्वामीजी स्वस्थ शरीर से दीर्घजीवी होकर इस आरब्ध महान् कर्म की सुष्ठुभाव से परिसमाप्ति करके अध्यात्म-साहित्य का पुष्टिवर्धन और जिज्ञासु भक्तों का प्रकृत कल्याण-विधान करें, यही मेरी प्रार्थना है।

श्रीगोपीनाथ कविराज

पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी प्रत्यगात्मानन्दजी सरस्वती

एक परिचय

आज गुरुपूर्णिमा है, गुरु-वन्दना का पावन दिवस। गुरु, जिसे भारतीय संस्कृति और विचार-धारा में गोविन्द से भी श्रेष्ठ बताते हुए कहा गया है :

यदुक्तिभानू रजनीमिवार्कः
तमोविनाशी कृपयोपविष्टः।
अगाधबोधं परमं गुरुं तं
नमामि भक्त्या परमात्मरूपम् ॥

(वेदान्तपरिभाषा की 'मणिप्रभा' टीका का मङ्गलाचरण)

आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व ऐसी ही गुरु-पूर्णिमा के दिव्य भोर की प्रथम किरण के साथ ही मैंने परम पूज्यपाद स्वामीजी के दर्शन किये थे। उन दिनों स्वामीजी मेरे तत्कालीन गृह-स्वामी श्री गौरीशंकर मुखोपाध्याय के यहाँ ठहरे हुए थे। गौरी बाबू ने बहुत पहले ही पूज्य स्वामीजी की प्रशंसा करते हुए कहा था "वे साक्षात् शिव-रूप महायोगी, परम सिद्ध विचारक, गूढ़ दार्शनिक और मर्मी रहस्यवादी हैं"। तभी से मेरी तीव्र उत्कण्ठा थी कि मैं पूज्यपाद के दर्शन करूँ और एक दिन गुरुपूर्णिमा के प्रातः उनके श्रीचरणों में जा ही बैठा। आज भी वह सहज अलभ्य दिव्य मुस्कान, वह अनुग्रहात्मक वरदहस्त और स्नेह-संवलित आशीः स्मरण है, जिसने एक पथविहीन, विभ्रान्त, संशय-ग्रस्त और वैचारिक ऊहापोह में जकड़े हुए अहं को अपनी मौन, पर अजेय शक्ति और मुस्कान से गति और मति दी थी। उस दिन अनायास गया था, पर सायास लौटा, लगा जैसे किसी अयस्कान्त पर्वत के निकट लौहवत् बैठा हूँ और एक दुर्निवार आकर्षण मुझे वरवस उनकी ओर खींचता ही जा रहा है। कामायनी के मनु की ये पंक्तियाँ स्मरण हो आयीं :

"तम-जलनिधि का बन मधु-मन्थन, ज्योत्स्ना-सरिता का आलिंगन;
वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन, आलोक-पुरुष ! मंगल चेतन !

(कामायनी, दर्शनसर्ग, पृ० २६४)

मेरा मन द्रवीभूत हो रहा था, पर पूज्य स्वामीजी सहज भाव से शान्त और निर्निमेष दृष्टि से मुझे देखते हुए केवल मुस्करा रहे थे। आज भी वह काल-

मुरलीधर वन्द्योपाध्याय के संस्कृत सहकारी के रूप में रहे। इसके पूर्व स्थानीय रिपन कालेज में भी दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक के रूप में कार्य किया। रिपन कालेज में पूज्यपाद श्री रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी के आग्रह से गए। उन दिनों श्रीअरविन्द मानकतोला कालेज के प्राचार्य थे। पूज्यपाद ने प्राचीन दर्शन के साथ-साथ आधुनिक विज्ञान का समन्वय करने के लिए भौतिकी और रासायनिकी शास्त्रों का भी गूढ़ अध्ययन किया। योग और तंत्र-शास्त्र-सम्बन्धी परवर्ती ग्रन्थों में जो विज्ञान-सम्मत दुर्लभ दृष्टि दिखाई पड़ती है, वह इसी अध्ययन का परिणाम है। अध्यापकीय जीवन से निवृत्त होने पर स्वामीजी ने अपना सम्पूर्ण जीवन एक ओर योग-साधना में लगाया, तो दूसरी ओर उसकी प्राचीन शास्त्रीय परम्परा के अध्ययन में। पूज्यपाद स्वामीजी की दृष्टि प्रारम्भ से ही ग्रन्थरचना की ओर रही। संन्यास के पूर्व उनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो गये थे, जिनमें "एप्रोचेज टू ट्रुथ" "भारतवर्ष का वेदविज्ञान' कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिये गये 'वेदान्त की भूमिका' के व्याख्यानों का ग्रन्थबद्ध प्रकाशन, 'पेटेन्ट वन्डर' के अतिरिक्त 'चलार पथे फिरार पथे' उपन्यास और 'मर्मवाणी' शीर्षक कविता-संग्रह मुख्य हैं। तदनन्तर पूज्यपाद ने नयहट्टी में 'शरदशारदा आश्रम' और खुलना ग्राम में 'आनन्द निकेतन' की स्थापना की। 'आनन्द निकेतन' अनेक वर्षों तक आपका साधनास्थल रहा। देश-विभाजन के समय खुलना में साम्प्रदायिक झगड़ा और रक्तपात हो रहा था, परन्तु द्वेष और कलह, हत्या और पाशविकता के मध्य उस समय मुसलमानों ने ही आश्रम की रक्षा की और स्वामीजी को, अपने ही धर्म और समाज के गुरु जैसा सम्मान दिया। विभाजन के अनन्तर आप भारत चले आये और तब से यहीं वास करते हैं। अभी कुछ वर्षों से कलकत्ता के निकट 'गरिया' पल्ली-ग्राम में आपने 'सारस्वत आश्रम' की स्थापना की है। 'सारस्वत आश्रम' प्राचीन तपोवन की ऋषिकुल-परम्परा का ही वर्तमान रूप है। स्वामीजी ने न तो किसी गुरु से यथावत् दीक्षा ली और न किसी से संन्यास ही। आप स्वसंन्यासी और स्वदीक्षित हैं। तन्त्र शास्त्र के प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक सर जॉन वुडरफ़ ने, जिन्होंने आर्थर एवलन के नाम से तंत्र शास्त्र पर अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे, स्वामीजी को अजस्र प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्वीकार किया है। 'महामाया' ग्रन्थ के लेखक-द्वय में आपका नाम भी सर जॉन वुडरफ़ ने दिया। यही नहीं, अनेक स्थलों पर सर जॉन वुडरफ़ ने स्वामीजी को सखा, स्नेही, सहयोगी और गुरु के रूप में स्मरण किया है।

जिस महत् आगम की रचना पूज्य स्वामीजी ने की और जो बंगला भाषा में ६ खंडों में प्रकाशित हुआ है, वह है 'जपसूत्रम्,' जिसके प्रथम खंड का हिन्दी अनुवाद सुश्री प्रेमलता शर्मा द्वारा अब प्रकाशित किया जा रहा है। 'जपसूत्रम्' एक परम सिद्ध योगी की रचना है, जिसकी तत्त्व-दृष्टि का मूल आधार साधना-राज्य के दुर्लभ अनुभव है, केवल 'पढ़ी पढ़ाई विद्या' नहीं। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज प्रभृति विद्वानों ने इसे 'आगम' कोटि का ग्रन्थ गिना है। स्वामीजी प्रचलित अर्थ में 'तान्त्रिक' नहीं हैं, परन्तु उन्हें सभी विद्वानों ने तन्त्र-शास्त्र का एक मात्र जीवित अधिकारी विद्वान् और योगी गिना है। दाक्षिणात्य भास्करराय की कृतियों के उपरान्त भारतीय साधना-राज्य के क्षेत्र में ऐसा समर्थ ग्रन्थ दूसरा नहीं लिखा गया। 'जपसूत्रम्' के अतिरिक्त अन्य कई ग्रन्थों की रचना पूज्यपाद ने की है, जिनमें 'पत्रम्' आदि मुख्य हैं। पूज्य स्वामीजी रहस्यवादी कवि हैं। रहस्यवाद मूलतः एक सिद्धान्त न होकर आध्यात्मिक जीवन-प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है। वह महायोगी की परम अनुभूति है, जिसका समस्त बाह्य और आभ्यन्तरिक द्वैत नष्ट होकर, समरसता और भूमा के विराट् सत्य और स्वरूप-विश्रान्तिमूलक आनन्द में परिणत हो, अपने पर-अस्तित्व व अद्वय-भाव में व्यक्त होता है। इस अनुभूति की अभिव्यक्ति में व्यष्टि-समष्टि से ज्ञान-विज्ञान के समीकरण के साथ, एकता का बोध कर गति और आगति की पूर्णता द्वारा अन्तर्बाह्य के तादात्म्य में अभेद और अद्वय-स्थिति प्राप्त करता है। जीव और ब्रह्म के एकात्म की इस महानुभूति की अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद है— "आई मीन यू," 'मल्ली-वीथिका' आदि पूज्यपाद के अनेक काव्य-ग्रन्थ इसी कोटि में आते हैं। जिस अर्थ में सिद्ध योगी श्रीअरविन्द कवि थे, उसी अर्थ में पूज्यपाद भी हैं। ईशावास्य उपनिषद के अनुसार "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः"। वैदिक अर्थ में कवि वह है, जो अमर सत्य-लोक का अधिष्ठाता होता है,—सूर्यलोक का द्रष्टा। साधना राज्य की गूढ़तम गुत्थियों को पूज्यपाद स्वामीजी ने अपने काव्य में सुलझाया है, पर उनका मर्म और रहस्य समझने के लिए सन्त कवि तुलसीदास ने बहुत पूर्व कह दिया था,

> 'जे श्रद्धा सम्बल रहित, नहिं संतन कर साथ।
> तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ'।

'मानस' ही नहीं, 'मानस' की कोटि में आने वाले समस्त ईश्वर-ग्रन्थों के लिए भी यही सत्य है। पूज्यपाद स्वामीजी का जन्म ही एक रहस्यवादी की भाँति हुआ था। शैशव से ही आपके ललाट-क्षेत्र में नाद-रूप ज्योतिष्पुंज दीपक सहज भाव से स्वतः मूर्त हो उठता था। रहस्यात्मक प्रतीक, एवं अध्यात्म-

ग्रन्थों के गूढ़ अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाते थे। यहां तक कि योगाभ्यास भी जैसे प्रस्तुत ही रहता था। युवावस्था में प्रकृति में कुछ सहज अन्तर आ गया और पूज्यपाद, जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, भौतिकी और दर्शन के गहन अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। तत्पश्चात् साधना-क्षेत्र में पूज्यपाद ने रागानुगा-भक्ति-संवलित परम-प्रेम-स्वरूप आत्मसमर्पण का मार्ग अपनाया। शनैः २ साधना का यह अतीन्द्रिय स्वरूप बाह्य रूप में पुनः सुष्ठु और मूर्त्त हो गया —आज पूज्यपाद का यही बाह्य व्यक्ति-रूप हमें प्रतीत है। शान्त, प्रकृत, आत्मलीन, पर दिव्य मुस्कान-युक्त सहज, गंभीर और स्थितप्रज्ञ, जिसके लिए गीता में कहा गया है: **"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ"** : इस प्रकार पूज्यपाद का समस्त जीवन एक ओर वैयक्तिक साधना का तो दूसरी ओर लोक-मंगल का; एक ओर भाव, विचार और चिन्तन का तो दूसरी ओर एक निःस्पृह कर्मयोगी का जीवन रहा है। संन्यास के अनन्तर इस जीवन-क्रम में एक विचित्र परिवर्तन आया—यह परिवर्तन एकान्त, मौन और साधना का परिवर्तन था आध्यात्मिक प्रयोगशाला के प्रयोक्ता का। 'जपसूत्रम्' इसी प्रयोगशाला का परिणाम है। इसकी रचना अन्य लौकिक ग्रन्थों की भाँति सायास या कल्पना-प्रसूत नहीं हुई, परन्तु हुई आभ्यंतरिक प्रेरणा और प्रातिभ शक्ति से। अज्ञात दिव्य प्रेरणा सहज भाव से अकृत्रिम रूप में अभिव्यक्त होती गई। आज भी पूज्यपाद अन्य आध्यात्मिक गुरुओं की भांति न तो किसी शिष्य-परम्परा में विश्वास रखते हैं और न किसी सम्प्रदाय-विशेष में। विशुद्ध आत्मसिद्ध योगी की भाँति पूज्य-पाद न प्रचार चाहते हैं और न कोलाहल। दर्शनार्थियों का जमघट भी साधक की प्रकृत अवस्था को नष्ट कर देता है। यह सर्वोच्च आत्मलीनत्व और एकान्त हमें ईसाई धर्म की 'दिव्य शैशवावस्था' का स्मरण कराता है। जैकब को लिखे गये अपने एक पत्र में स्वामीजी ने अपने इस अनभिव्यक्त मौन-संलाप और रहस्यात्मक चिन्तन को, जो गुह्य और सांकेतिक होता है, स्पष्ट किया है। वे इसी मौन के व्रती हैं।

पूज्यपाद स्वामीजी भाषा और भाव के अनुपम धनी है। जितना अधि-कार उनका बंगला और संस्कृत पर है, उतना ही अंग्रेज़ी पर। यही कारण है कि संस्कृत के साथ-साथ उन्होंने अनेक अंग्रेज़ी ग्रन्थों की रचना की है। परन्तु एक दिन अंग्रेज़ी पर जो सहज अधिकार था, वह उन्हें अब रुचिकर नहीं लगता, कारण, वह भाषा नाद-शक्ति और उसके दिव्य कलात्मक विन्यास को विघटित कर देती है। वैखरी से परा तक का आरोह कट जाता है।

खण्ड में उन्हें ही विशेष रूप से स्थान मिला है। इसके अलावा 'उपक्रमणी' नामक अंश में और भी कुछ-एक श्लोक सन्निवेशित हुए हैं।

जपसूत्रम् के इस उपोद्घात और उपक्रमणिका में जो श्लोक एवं उनकी व्याख्या दी गई है, उनका विशेष अवधान-पूर्वक एवं अत्यन्त धीरभाव से अनुधावन करना प्रयोजन है। यहाँ अनेक गूढ़ तत्त्वों की अवतारणा की गई है—जैसे प्रारम्भ में ही ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप का तत्त्व, उसके बाद तीन ऋक् या ऋक्त्रय का तत्त्व, उसके बाद पञ्चभूत का तत्त्व, उसके बाद पञ्च अवतार-तत्त्व, उसके बाद पञ्च गङ्गा-तत्त्व, पञ्च शुद्धि-तत्त्व, पञ्च रूप-तत्त्व इत्यादि। आरम्भ में ही साधारण पाठकों के मन में शंका जाग सकती है कि जपसूत्रों के बीच इन सब तत्त्वों की अवतारणा तो अवान्तर है। जप के सम्बन्ध में आलोचना करते समय जगत् के मूल तत्त्व अथवा उसके सृष्टि-तत्त्व को लेकर माथा-पच्ची करने की क्या आवश्यकता है? जप के प्रसङ्ग में इस सब आलोचना की क्या उपयोगिता है? ऐसी आशंका स्वाभाविक है, एवं इसीलिए इसके निरसन के लिए पहले ही कह रखना आवश्यक है कि जप-कर्म नितान्त बहिरङ्ग यान्त्रिक कर्म नहीं है, यह केवल मन्त्र को रटना मात्र नहीं है। जप के दो अङ्ग शास्त्र ने सर्वत्र कहे हैं—'**तज्जपस्तदर्थभावनम्**'—व्याहरण और अनुस्मरण। यह अर्थ-भावन न होने पर जप बिल्कुल व्यर्थ भले ही न हो, किन्तु 'यथार्थ समर्थ' नहीं होता; क्योंकि मन्त्राक्षरों के केवल उच्चारण या आवृत्ति का भी अवश्य ही कुछ फल है, किन्तु वह आंशिक, गौण है। इसका मुख्य, समग्र फल तभी प्राप्त होता है जब मन्त्राक्षरों में जो अगाध रहस्य निहित है, उसमें डूब सकें। मन्त्र है रत्नाकर-स्थानीय—इसके मूल में यदि डुबकी लगा सकें तो अनन्त रहस्यमय तात्पर्य की मणिमुक्ता का आहरण करके हम ला सकते हैं। केवल एक बार डुबकी लगाकर अपनी मुट्ठी में जो कुछ भरकर ला सके हों, उसी को ऐसा समझने की भूल न करें कि मन्त्र का समग्र तत्त्व छान कर उठा लाये हैं। बारम्बार जितना ही डूबेंगे, उतना ही नित्य नव-नव अर्थ और भाव की अनुभूति हमें आलोक से व पुलक से भर देगी। इसीलिए यहाँ इस अगाध रहस्य-सागर के प्रति दृष्टि आकर्षित करने के लिए ही, मन्त्र के प्रत्येक अक्षर के प्रति एकान्त भाव से अभिनिविष्ट होने का आह्वान देने के लिए ही इन सब तत्त्वों की अवतारणा की गई है, क्योंकि वेद का प्रत्येक मन्त्र, प्रत्येक वर्ण रहस्य की खान है। इसीलिए परम श्रद्धा और एकान्त अभिनिवेश के साथ वेदागम के वाङ्मय-महोदधि में अवगाहन आवश्यक है। वेदवाणी है

वाग्रूपिणी कामधेनु; इससे हमें अमृत की धारा का दोहन करना होगा -- 'दुहाना अमृतस्य धाराम्'। इस ग्रन्थ में इसीलिये प्रसङ्गक्रम से वेद के किसी-किसी मन्त्र (जैसे सृष्टिसूक्त) के रहस्योद्घाटन का यत्न किया गया है, जिससे सुधी पाठकों में अनुरूप रहस्य-उद्भेद की प्रेरणा जागे। अनेक स्थलों पर केवल दिग्दर्शन किया गया है, विशेष विस्तार नहीं किया गया है। तन्त्र, पुराण के रहस्य में भी इसी प्रणाली का अवलम्बन किया गया है।

उपोद्घात के श्लोकों में जिन सब तत्त्वों की अवतारणा की गई है, उनका यथार्थ भाव से अनुधावन करने के लिए एक विषय सदैव स्मरण रखना चाहिए एवं उसकी ओर पाठकों की दृष्टि आकर्षित करता हूँ। पूज्यपाद स्वामीजी ने जहाँ जिन तत्त्वों का विश्लेषण करके दिखाया है, वे सब सर्वत्र ही विश्व-जनीन सार्वभौम तत्त्व या universal principle हैं, उन्हें केवल परिच्छिन्न भाव में परिसमाप्त समझने से नहीं चलेगा। जैसे प्रारम्भ में ही श्रीश्रीगुरु-पाद-वन्दना में जिस श्रीगुरुतत्त्व को उन्होंने स्फुट किया है, वह केवल किसी विशिष्ट व्यक्तिरूप गुरु का तत्त्व नहीं है, किन्तु जो गुरुशक्ति विभिन्न गुरुमूर्तियों में होकर विश्व के आर्त, दीन, दुःखी जीवों को सर्वदा ही समुद्धरण के पथ पर लिये चली जा रही है, उसी मौलिक महाकरुणा-शक्ति या उद्धारशक्ति का ही तत्त्व है। इस प्रकार उन्होंने प्रसङ्ग-क्रम से जिन पञ्च अवतारों का तत्त्व-विश्लेपण करके दिखाया है, वह केवल उस-उस परिच्छिन्न कूर्म, वराह आदि मूर्ति में ही परिसमाप्त नहीं है, अथवा केवल जप आदि के क्षेत्र में इन सब शक्तियों की क्रिया उपलब्ध होती है, ऐसा भी नहीं है। किन्तु विश्व में सब से पहले यह अवतार-तत्त्व मौलिक शक्ति के रूप में सक्रिय है। जैसे, साधा-रण स्थूल भौतिक परिणाम में भी हम इन शक्तियों की सक्रियता की उपलब्धि कर सकते हैं। एक वृक्ष का बीज जब अपनी समस्त अन्तर्निहित शक्ति लेकर सोया हुआ है, तब उसमें इस मीनशक्ति की क्रिया है, उसे धारण कर रखा है कूर्मशक्ति ने; इस शक्ति की सहायता से ही वह अपनी सत्ता को अन्यान्य सब कुछ से पृथक् करके धारण किये हुए है। अब वह विकसित होगा—इस विकास की ओर उसे ढकेल रही है यह वाराही शक्ति। उसके बाद, विकास के पथ में उसकी जितनी बाधा हैं, उनका अपनयन करके, उन्हें विदीर्ण करके चलती है यह नृसिंहशक्ति। पुनः उस 'उरुक्रम' के प्रभाव से बीजादि सभी-कुछ अपनी प्राकृतिक सीमा का अतिक्रम करके उद्वर्त्तन (evolution) को प्राप्त होता है, वह हुई वामन शक्ति। सुतरां इस प्रकार एक स्थूल बीज भी

इन शक्तियों के आश्रय में ही क्रमशः विकास को प्राप्त हो रहा है। इसलिए इस प्रकार एक स्थूल वीज भी इन शक्तियों के आश्रय में ही क्रमशः अङ्कुरादि रूप में विकास पाता है। सृष्टि में सर्वत्र इसी प्रकार है। दृष्टि विकसित होने पर एक क्षुद्र बीज के जीवन-इतिहास में भी हम इस पञ्च अवतार-तत्त्व की प्रकट लीला देख सकते हैं। प्रणव के अकार-आदि पञ्च अवयव भी इसी प्रकार एक बीज के जीवन में उदाहृत होते हैं। पूज्यपाद स्वामीजी ने इसी ओर हमारी दृष्टि को घुमाना चाहा है। श्रीगणेश आदि देवताओं के तत्त्व के सम्बन्ध में भी यही एक ही बात है।

यहाँ और भी एक बात स्मरण रखना आवश्यक है, क्योंकि ये तत्त्व सर्वत्र ही सार्वजनीन वा universal हैं; इसीलिए जिस किसी आधार में से उनकी उपलब्धि हो सकती है। इसीलिये पाठक के मन में शायद यह बात खटक जाय कि श्रीगुरु का जैसा तत्त्व-विश्लेषण किया गया, श्रीगणेश के समय भी तो मूलतः तदनुरूप ही दिखाई देता है। यह क्या पुनरुक्ति है? किन्तु वास्तव में यह पुनरुक्ति नहीं है। स्मरण रखना होगा कि सर्वत्र एक ही परम-तत्त्व वा परम देवता की महिमा का कीर्त्तन किया गया है **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'**।* किन्तु आधार एवं आधेय का भेद तो है—श्रीगुरु की मूर्त्ति एवं श्रीगणेश की मूर्त्ति एक नहीं है। ग्रहण और ग्रहीता के भेद से ग्राह्य भी विभिन्न हो जाता है। इसलिए अनुभूति वा आस्वादन का तारतम्य है ही, यद्यपि लक्ष्य वा गम्यस्थल एक ही हैं। श्रीगुरु के दिव्य अङ्गगन्ध आदि जिसका इङ्गित दे रहे हैं, श्रीगणेश का रक्तवर्ण, गजमुण्डादि भी शायद प्रकारान्तर से उसी तत्त्व का सन्धान दे रहे हैं—इसीलिये **'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव'**†। अन्यान्य देवता-तत्त्व के सम्बन्ध में भी यही एक बात स्मरण रखनी होगी, अन्यथा विभ्रम की सम्भावना है। विभिन्न देवतादि-तत्त्व आर्ष दृष्टि में इसी प्रकार तो प्रतिभात हुए हैं! एक ही सब है, एक में ही सब है। एक ही 'बहुधा' भावित और कीर्त्तित होते हैं। अथच ब्रह्म की इस प्रकार से बहुधा 'कल्पना' उनका अपना ही **'एकोऽहं बहु स्याम्'** इत्यादि है।

मर्मी दृष्टि विकसित होने पर इसी प्रकार देवता की मूर्त्ति साधक को प्रतिभात होती है। इसीलिए पूज्यपाद स्वामीजी के तत्त्व-विश्लेषण में गणेश

* ऋग्वेद १. १६४. ४६—अनुवादिका।

† शिव-महिम्नः स्तोत्रम् ७—अनुवादिका।

का वाहन क्षुद्र मूषिक वा धूमावती का रथस्थ काक भी छूटा नहीं है। देवता का प्रत्येक अवयव ही मानो नित्य नूतन-नूतन तत्त्व का सन्धान देता चलता है। इसीलिए नाना प्रकार से इस तत्त्व का परिचय पाकर भी, वर्णन करके भी साधक का मानो जी नहीं भरता। श्रीश्रीकालीतत्त्व के वर्णन में पूज्यपाद स्वामीजी मानो महारहस्य-वारिधि की असीमता के साथ उच्छ्वसित हो उठे हैं। श्रीश्रीकालिका का कृष्णवर्ण, एलायित केश, विस्तीर्ण जिह्वा, कण्ठस्थ मुण्डमाला, करस्थ एक ध्वस्त मुण्ड इत्यादि सभी रहस्यों का उन्होंने तार-तार विश्लेषण किया है। तारा की मूर्ति में मन्त्रोद्धार, मन्त्रचैतन्य इत्यादि का रहस्य, छिन्नमस्ता में महावाक्य-चतुष्टय एवं नादानुसन्धान का रहस्य; धूमावती में महाव्याहृति का रहस्य—इत्यादि को भी स्वामीजी ने हमारी दृष्टि के सामने खोलकर रख दिया है। इन सबको पढ़ते समय अत्यन्त सावधान और स्थिर चित्त से तत्त्वों का अनुशीलन करना होगा। जो इस प्रकार एक-एक तत्त्व के ध्यान में डूब सकेंगे, वही इस ग्रन्थ में दिये गये सब तत्त्वों के इङ्गित की सार्थकता की उपलब्धि कर सकेंगे। नहीं तो शायद ये सब कवि की कल्पना वा उच्छ्वास ही प्रतीत होगा, जैसा कि शास्त्र में देवता आदि के ध्यान, रहस्य, स्तोत्र इत्यादि के सम्बन्ध में बहुतों को लगा करता है। इसीलिए सब के अन्त में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ये सभी तत्त्व खिल उठेंगे, किन्तु केवल जप के आश्रय से। इसीलिये यह साधना का धन है, कल्पना का जाल नहीं। उस साधना का एक युक्तियुक्त, निर्भर-योग्य आधार इस ग्रन्थ में विश्लेषण-समन्वय के रूप में दिया गया है। इसलिए साधकमात्र के लिए ही इस ग्रन्थ की प्रयोजनीयता अपरिहार्य है। इस ग्रन्थ में (१।१।१, २, ३)इत्यादि में जप का जो लक्षण दिया गया है उससे जप को मानव के अध्यात्म-योग की एक गौणी शाखा वा अववाहिका नहीं समझा जा सकता; वही मुख्य धारा है, ध्यान-धारणा, मनन-विचार, भाव-भक्ति - सभी कुछ इसमें क्रोड़ीकृत हैं। इसलिए जप का जो अनुबन्ध-चतुष्टय है, अर्थात् विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन, अधिकार—उसकी सम्यक् आलोचना के लिये एक पूर्णाङ्ग दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं क्रिया-तान्त्रिक (practical) आधार की प्रस्तुति अपेक्षित है। वर्तमान ग्रन्थ में वैसा आधार ही लक्ष्य बना है।

इसके बाद पूजनीय ग्रन्थकर्त्ता स्वामीजी का परिचय? एक ओर से यह विशाल अनुपम ग्रन्थ ही उनका सर्वापेक्षा सुष्ठु परिचायक है। पूर्वाश्रम में आपका नाम था अध्यापक श्रीप्रमथनाथ मुखोपाध्याय। आप उस युग में

शिक्षाक्षेत्र में श्री रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी और श्री अरविन्द प्रभृति के सहकर्मी थे। तन्त्रानुशीलन में एवं तन्त्र-तत्त्व की व्याख्या में सर जॉन वुडरॅफ़ के साथ आप की सहयोगिता सुधी-समाज में प्राय: सर्व-जन-विदित है। वेद, तन्त्र, दर्शनादि के विषय में आपके अनेक प्रबन्ध-निबन्ध एवं मौलिक ग्रन्थ भी पहले प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु एसे ग्रन्थ की आपने इससे पूर्व रचना नहीं की है। इसके विरचन-कर्म में भी कुछ असाधारणत्व रहा है। जीवन के प्रान्तभाग में आकर आप ने मानो इस ग्रन्थ में अपनी सुदीर्घ जीवनव्यापिनी साधना की परिपक्व अभिज्ञता लुटा डाली है। आशा है साधक-मण्डली एवं सुधी-समाज में यह ग्रन्थ समुचित समादर प्राप्त करेगा।

....*

अन्त में, उपोद्घात के श्लोकों का एक संक्षिप्त विश्लेषण-सूत्र दिया जा रहा है—

सर्वप्रथम श्री गुरुरहस्य-प्रकाशिका श्लोकावली—'श्रीश्रीगुरुपादाब्जदल-पञ्चकम्' है। उसके बाद—

१—स्वरूप तीन वा Triune है—**सत्, चित्, आनन्द**।

२—साधन तीन हैं—

(i) **हंसवती ऋक्** (ii) **गायत्री ऋक्** (iii) **मधुमती ऋक्**

अथवा

कर्म ज्ञान भक्ति

३—प्राण के रूप में Triune अभिव्यक्त है—यह प्रकाश और आकाश का मिलनकेन्द्र वा मिथुनभाव, **आर्चिः और नाद का मिलित रूप**, ज्ञान और गति की संधि है।

४—इससे प्राण, काल, वायु, अग्नि, सलिल, धरित्री—ये तीन-तीन विभाग हैं।

५—तीन से पाँच—'हं', 'यं' आदि प्राण की धारा व **हंस की संचरमाणता** है।

६—छन्द वा गायत्री की धारा—**मीनशक्ति, कूर्मशक्ति, वाराही शक्ति, नारसिंही शक्ति** है।

---

* यहाँ कुछ पंक्तियों में अर्थानुकूल्य, कागज जुटाने आदि के सम्बन्ध में धन्यवाद-प्रकाश है।—अनुवादिका।

उसके बाद पञ्चधारा वा पञ्चगङ्गा है ·ॐकार में इन पाँचों का मिलन है।

७—पञ्चशुद्धि और त्रिमल—अणु, तनु और पृथु। यह त्रिमल शुद्ध होता है प्रणवजप से। इस प्रणव में ही पञ्चगङ्गा और पञ्चगव्य हैं—एक के द्वारा वाक्शुद्धि और दूसरी के द्वारा तनुशुद्धि होती है। स्वच्छन्दता और स्वाभाविकता।

८—छन्द दो प्रकार के हैं—अरिच्छन्द, मित्रच्छन्द। इस मित्र वा मधुच्छन्द की सहायता से विरूपता का निवारण और एकरूपता की स्थापना होती है।

९—घनीभूत, केन्द्रीभूत छन्द ही है प्रणव, सुतरां प्रणव के आश्रय से ही साधन होता है।

१०—प्रणवरूप ईश्वर के आश्रय में वेदोज्ज्वला बुद्धि का विकास करके उनकी शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी मूर्त्ति का दर्शन करना होगा।

११—उसी प्रकार उनकी प्रसन्ना, वरदा शक्ति की मूर्त्ति जो काली, तारा आदि हैं, उनका भी दर्शन करना होगा एवं उनके महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती—इस रूपत्रय के साथ भी परिचय करना होगा।

१२—वे फिर एक ओर मृत्युरूपिणी, दूसरी ओर अमृतस्वरूपिणी हैं।

१३—ऋतच्छन्द में सत्यबोध वा प्रमाज्ञान और मधुच्छन्द में आनन्दबोध होता है। बोधरूप में सत्य-अनृत आदि सभी बोध एक-रूप हैं, फिर भी उनमें सत्यत्व और आनन्दत्व भरता है यह छन्द।

१४—उभय छन्दों के मिलन से भूमाबोध होता है—अन्वय और व्यतिरेक भाव से।

१५—समावृत्ति है गायत्री ऋक्, मधुमती ऋक् और हंसवती ऋक् का सम्मिलित रूप—इसलिए समावृत्ति का मन्त्र है 'हंसः'।

१६—अभ्यारोह समावृत्ति के बिना नहीं होता।

१७—समावृत्ति में ही जानना व देखना और प्रविष्ट होना—ये तीन वृत्तियाँ रहती हैं। उसके बाद समावृत्ति के लक्ष्य और अङ्ग को भी जानना आवश्यक है।

१८—शुद्ध प्रणव में, अनाहत ध्वनि में या नाद में जप का लय वा शान्त-भाव होता है। यह सत्त्वोद्रेक का ही फल है। समावृत्ति ही निरुपद्रव समता

है। प्राण-मन के संयम द्वारा व्यास-विषमता परिहारपूर्वक समास-समता में, ॐकार की शान्त समता में स्थिति होती है—इसी को **समावृत्ति** समझना चाहिए।

१९—इसके साथ समावृत्ति की मूर्त्ति के रूप में **श्रीगणेश** और उनके मूषिक-रूप वाहन, आयुध आदि तत्त्व को भी समझना आवश्यक है।

२०—इस समावृत्ति के अलावा प्रत्यावृत्ति और परावृत्ति को भी समझना आवश्यक है। एवं वृत्ति के पाँच विभागों पर भी ध्यान देना चाहिए। तब समावृत्ति को ठीक से समझा जा सकेगा। अनुवृत्ति से आरम्भ करके इस चरम परावृत्ति तक समग्र व्यापार का जिसके द्वारा सुष्ठु निर्वाह होता है, वही है समावृत्ति।

२१—ॐकार के द्वारा समावृत्ति का विचार—ॐकार की किस मात्रा से क्या काम होता है एवं उनसे क्रमशः मीन, वाराही और कूर्मशक्ति का विकास, और वाद में उनसे नाद और विन्दु के आकार में नृसिंह और वामन का उदय होता है।

२२—अम्भः व जल है अज्ञान वा अविद्या, और उर्वी है तत्त्वसमूह का व्यक्त रूप। यही त्रयी—**नादविन्दुकलात्मिका, सोम-सूर्य-अग्नि-रूपा** है।

२३—सृष्टिकल्पना—नासदीय सूक्त और सृष्टिसूक्त। आविः और रात्रि, ऋत और सत्य, वायु और व्योम, गति और ज्ञान, आकाश और प्रकाश—इनके मिलित रूप ॐकार वा प्रणव से सृष्टि है। उसी प्रकार **समुद्र और अर्णव** हैं।

२४—उसके वाद आये काल और संवत्सर, सूर्य और चन्द्र, दिन और रात्रि, शुक्ल और कृष्ण। उनसे इस सूर्य को, इस तेजोरूप भर्ग को केन्द्र बनाकर आये **भुवनचक्र** और **कालचक्र**। यह काल और कलनवृत्ति ही है **ईक्षण** – इसके पहले तक अकाल वौद्ध परिणाम है। **यही समुद्र और अर्णव में भेद है।**

२५—इसके वाद आई काल की rhythmic गति, cyclic गति, शुक्ल-कृष्ण गति, धन और ऋण गति।

२६—इस भुवनकोष की नाभि में हैं सविता और पूषा—इसकी **नाभि, नेमि और अर**।

२७—**चतुर्व्यूह और छन्द**।

२८—चक्रचिन्ता—उसकी शङ्खावर्त्तगति और axis of ascent (आरोह की धुरी)।

२९—जपरूपी रहस्य खग नारायण, कृष्ण और राम।

३०—पञ्चोपासना के अंग के रूप में शिवतत्त्व, अर्थात् आदि पञ्चमूर्ति का मन्त्रवर्ण में सम्मिलित रूप एवं आदित्य-तत्त्व।

३१—तारा, छिन्नमस्ता, धूमावती और श्रीश्रीकालिकातत्त्व। ताराप्रणवादि मन्त्र-चैतन्यपूर्वक परम उपलब्धि, छिन्नमस्ता, नादानुसन्धान एवं महावाक्य-भावना द्वारा, धूमावती महाव्याहृति के साथ, काली निखिलतत्त्व के व्याकलन, सङ्कलन एवं निष्कलन द्वारा।

उपोद्घात के बाद उपक्रमणी है। इस अंग की भी जप की तत्त्वात्मक एवं क्रियात्मक दोनों दिशाओं में उपयोगिता है।

क्रान्त एवं शान्त इन दो 'दृष्टियों' से सूचना मिलती है। आवरक-आवरणीय, प्रकाशक-प्रकाश्य, सकोचक-सकोच्य, नियामक-नियन्तव्य, ह्लादक-ह्लाद्य इत्यादि विश्व में वहमान धाराओं का अनुसरण करते हुए परम तत्त्व में पहुँचने के लिए जिन-जिन सूत्रों और सङ्केतों का विशेष रूप से अनुधावन करना होता है, उनका इस उपक्रमणी में विश्लेषण किया गया है। जैसे जपादि-साधन में सन्धि, सेतु एवं मेरु इस त्रिसूत्री का। विभिन्न विचित्र धाराओं में पतित जीव की 'समावृत्ति' के लिये बुद्धियोग एवं एकान्त शरणागति-योग की आवश्यकता दिखा कर इस अंग का उपसंहार किया गया है।

इसके बाद मूल-सूत्रांश एवं उनकी कारिकायें हैं। जप का लक्षण, ऋत एवं सत्य का लक्षण; छन्द का लक्षण, व्याज एवं विघ्न का लक्षण, छन्द के मान्द्यस्थान एवं उन मान्द्यस्थानों का मुख्य प्राणाग्नि में हवन—यहाँ तक वर्तमान खण्ड में सन्निवेशित हुआ है, अर्थात् प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के कतिपय सूत्रमात्र।*

इस ग्रन्थ के अनुशीलन से यदि हमारी भ्रान्त और श्रान्त दृष्टि, क्रान्त एवं शान्त दृष्टि बनने का भरोसा पा सके तभी हमारा श्रम सार्थक होगा।

इति—

श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय

दशहरा
संवत् २००७

---

* हिन्दी अनुवाद में यह अंश द्वितीय खण्ड में जाएगा। —अनुवादिका।

निवेदन

(मूल द्वितीय खण्ड से उद्धृत)

श्रीभगवान् की असीम कृपा से जपसूत्रम् ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड प्रकाशित हो रहा है। इस अभिनव ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के मुद्रण के फलस्वरूप सुधी और साधक समाज में जो प्रतिस्पन्दन जगा है, जो विस्मय-विमिश्र कौतूहल उद्दीप्त हुआ है, उससे हम लोग परम आशान्वित हुए हैं, यह सोचकर कि भारतवर्ष इस संशय-समाकुल युग में भी अपने प्राचीन ऐतिह्य के प्रति, साधनराज्य की गहन सम्पद् के प्रति बिल्कुल उदासीन नहीं हुआ है। श्रद्धालु पाठकवर्ग द्वितीय खण्ड के लिए दीर्घकाल से साग्रह प्रतीक्षा कर रहा है—यह भी हम लोग जानते हैं एवं हमारी आन्तरिक तत्परता रहते हुए भी इस खण्ड के प्रकाश में कुछ विलम्ब हो गया, इसके लिए हमें आन्तरिक दुःख है। पूज्य-पाद स्वामीजी की दृष्टि-क्षीणता के कारण ही विशेषरूप से ग्रन्थ की प्रगति व्याहत हुई है, फिर भी उनकी अद्भुत दिव्य प्रतिभा इन सब बाधा-विघ्नों का आवरण विदीर्ण करके भी अपनी भास्वर छटा विकीर्ण करती रही है, यही परम सौभाग्य है। इस द्वितीय खण्ड में मूल ग्रन्थ के बहुत कम सूत्रों को ही स्थान मिला है। एवं इस कारण बहुत से लोग निराश भी हो सकते हैं। किन्तु बहुत-सी महत्त्वपूर्ण कारिकायें और उनकी विस्तृत व्याख्या इसमें दी गई है। इस खण्ड को प्रधानतः 'व्याहृति खण्ड' ही कहा जा सकता है। क्योंकि व्याहृति के सम्बन्ध में ही विशद आलोचना में इसका प्रायः सम्पूर्ण कलेवर नियोजित हुआ है। विश्व-वीणा इन सप्तग्रामों में सप्त सुरों में ही मिली हुई है; अपनी जीवन-वीणा के तारों में जप-रूप महासाधन के द्वारा इस सप्त-धाम की प्रज्ञाविशाल और भक्तिरसाल भूमियों का क्रम-उन्मीलन ही साधक का लक्ष्य होता है। इसीलिए व्याहृति का स्थान जपसाधना में इतना विशिष्ट और व्यापक है। आशा है प्रथम और द्वितीय खण्ड के अध्ययन से जप की प्रकृति और साधन के सम्बन्ध में एक सुस्पष्ट छवि पाठकों के मन में प्रस्फुटित हो उठेगी। पूज्यपाद स्वामीजी के लेखन में विज्ञान की दुरूह आलोचना के गुरु-गम्भीर परिवेश के बीच एक श्रेणी के पाठकवर्ग कभी-कभी कथञ्चित् श्रान्ति का अनुभव कर सकते हैं; फिर भी वे प्रायः ही भाव-मधुर एवं

रस-निविड़ स्निग्धश्यामल छायाकुञ्ज में शीतल होने का स्थान भी पाएँगे—यह आश्वासन हम दे सकते हैं।

द्वितीय खण्ड के उदय के बीच एक सज्जन के अस्त ने हमें आज गभीर-वेदनातुर बना डाला है। इस ग्रन्थ की मूल प्रेरणा उन्होंने ही पूज्यपाद स्वामीजी के अन्तर में सर्वप्रथम सञ्चारित की थी। एक ध्यान-मौन-निविड़ सन्ध्या के सान्द्र लग्न में श्री बालानन्द आश्रम* के पुण्य-परिवेश में अपने निभृत साधन-कक्ष में बैठ कर पुण्यश्लोक शुक्ल-संन्यासी श्री प्राणगोपाल मुखोपाध्याय† पूज्यपाद स्वामीजी के साथ मानस जप के अगाध रहस्य के सम्बन्ध में चर्चा में मग्न हुए थे। उस दिन माहेन्द्र-क्षण में जो शुभ-प्रेरणा-रूप बीज स्वामीजी के प्रतिभादीप्त हृदय में सङ्कल्प-रूप में आत्मसंवित् को प्राप्त हुआ, वह कुछ समय बाद ही 'जपसूत्रम्' रूपी महावनस्पति की अद्भुत अभिव्यक्ति से सबको विस्मित और पुलकित बना गया। आज इस द्वितीय खण्ड के प्रकाशन के पूर्व ही वे तनु त्याग करके अप्रकट हो गये—यह खेद पूज्यपाद स्वामीजी के हृदय में गम्भीर भाव से ध्वनित हो रहा है। वे कितने आग्रह से और कितनी साक्षात् अनुभूति के साथ इस 'जपसूत्रम्' का आलोचन और आस्वादन करते थे, वह जिन्होंने देखा और सुना है, वे ही प्रत्यक्ष जानते हैं। इसीलिए मन में केवल यही खेद उठ रहा है—और किसके लिए रस का यह पसार सजा कर परिवेशन का आयोजन हो! वह आस्वादयिता आज कहाँ है? इस ग्रन्थ को अन्तिम कुछ श्लोकों तक वे अन्तिम रोगशय्या में साग्रह सुन गये हैं। स्वामीजी के साथ जब उन की अन्तिम भेंट हुई तब उन्होंने कहा था—'भगवान् ने एक बड़े काम का भार (तुम पर) न्यस्त किया है, उनसे प्रार्थना करता हूँ कि यह निर्विघ्न परिसमाप्त हो'। उनकी यह अमोघ शुभेच्छा हमारे ग्रन्थ-समाप्ति के पथ का अक्षय पाथेय बनी रहेगी।

प्रथम खण्ड के आत्मप्रकाश के बाद बङ्गाल में बहुत से सुधी और मनीषी सज्जनों ने इसके सम्बन्ध में नाना-गम्भीर-तथ्यपूर्ण समालोचना में प्रवृत्त होकर हमें उत्साहित किया है। इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम उल्लेख करना चाहिए विबुधाग्रगण्य पूजनीय आचार्य महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज के सम्बन्ध में। वे प्रथम खण्ड पढ़ कर इतने उल्लसित हुए हैं कि केवल एक

*देवघर-स्थित। —अनुवादिका।

†श्रीगोविन्द गोपालजी के पितृचरण,,।

नातिदीर्घ सुचिन्तित समालोचना लिख कर ही क्षान्त नहीं हुए हैं, उन्होंने भविष्य में इसकी और भी विशद आलोचना करने का आश्वासन दिया है। हम लोग उसके लिए उद्ग्रीव रहेंगे। संस्कृत भाषा के एकनिष्ठ सेवक, सुरसिक शास्त्र-मर्मज्ञ अध्यापक श्रीशिवप्रसाद भट्टाचार्य की सुनिपुण विश्लेषण-पूर्ण आलोचना ने हमें मुग्ध किया है। उन्होंने प्रकाशकों के जिन कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में ध्यान रखने के लिए हमें कहा है, भविष्य में हम उन सबके विषय में तत्पर रहेंगे। सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० महेन्द्रनाथ सरकार की संक्षिप्त सारगर्भी आलोचना ने भी हमें अनुप्राणित किया है। इन सभी के प्रति हम आन्तरिक कृतज्ञता निवेदित करते हैं।

इस खण्ड के (ख) परिशिष्ट में प्रकाशित 'हंस' शीर्षक सुचिन्तित सार-गर्भ निबन्ध हमें भेज कर नीरव ज्ञानसाधक श्रीमन्मथनाथ मुखोपाध्याय महाशय ने हमें अनुगृहीत किया है।* इसलिए उन्हें आन्तरिक धन्यवाद निवेदित करता हूँ।

....‡

सब के अन्त में भूल-भ्रान्ति की व्याख्या के प्रसङ्ग में श्रीश्रीचण्डी के प्रसिद्ध नारायणी-स्तव में 'भ्रान्तिरूपेण संस्थिता'†—देवी के इस भ्रान्ति-रूप का स्वामीजी ने कुछ-एक कारिकाओं में जिस प्रकार ध्यान किया है, उसे सुधी पाठकगण के समक्ष उपस्थित करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

त्वद्भ्रान्तिर्मम मूढस्य मातुर्मद्भ्रान्तिरीदृशी।
प्रत्यक्तया जगद्भ्रान्तिः पाशभ्रान्तिः स्मितेक्षणात्॥
जपभ्रान्तिर्ध्वनिस्फोटे ज्योतिषि भ्रान्तिरस्य च।
ज्योतिर्भ्रान्तौ रसैकस्मिन् द्वैतभ्रान्तौ रसे समे॥
भ्रान्तिभ्रान्तिर्महाश्चर्ये तूष्णीम्भावे परे स्थिता।
नवधा भ्रान्तिरूपा या नमस्तस्यै नमो नमः॥

---

* अनुवाद-ग्रन्थ-माला में यह परिशिष्ट पञ्चम खण्ड में जाएगा—अनुवादिका।

‡ यहाँ कुछ पंक्तियों में मुद्रण-प्रमाद का उल्लेख है, एवं आगामी खण्डों के प्रकाशन की सूचना है। – अनुवादिका।

† दुर्गासप्तशती—५.७४ – अनुवादिका।

हे माँ! मैं तुम्हारी मूढ़ सन्तान हूँ, इसीलिए मैं तुम्हें इस प्रकार भूला हुआ हूँ, किन्तु तुमने भी क्यों मुझे इस प्रकार भुला रखा है, (त्वद्भ्रान्तिः) यह भी तो मेरी समझ में नहीं आता (मद्भ्रान्तिरीदृशी)। यदि सौभाग्योदयवशतः मेरा यह बहिर्मुख चित्त अन्तर्मुखीन हो जाय, तब मुझे इस जगत् की भी भ्रान्ति हुआ करती है; और हे माँ! यदि तुम एक बार सदान्य नयन से मेरे प्रति दृष्टिपात कर दो तो मेरे सर्वविध बन्धन एवं तज्जनित महाभय की भी भ्रान्ति हो जाती है (जगद्भ्रान्तिः, पाशभ्रान्तिः)। उसके बाद जप करते-करते नाद का सन्धान मिलने पर (ध्वनिस्फोटे) जप की भ्रान्ति हो जाती है (जप-भ्रान्तिः)। उसके बाद नाद के भीतर से ज्योतिः प्रकट होने पर नाद की भी भ्रान्ति हो जाती है (नादभ्रान्तिः)। ज्योतिः फिर स्वरूप में अपने को जब घनीभूत कर लेती है तब ज्योतिः की भी भ्रान्ति हो जाती है (ज्योतिर्भ्रान्तिः)। पुनश्च वह रस जब श्रुति-प्रसिद्ध 'एकरस' एवं 'सनन्त' हो जाता है, तब होती है द्वैतभ्रान्ति। और अन्त में जो महा अद्भुत परम तूष्णीम्भाव है—वहाँ पहुँचने पर भ्रान्ति की भी भ्रान्ति हो जाती है, परम उपरम हो जाता है (भ्रान्ति-भ्रान्तिः)। हे माँ! एवंविध नवधा भ्रान्ति के रूप में तुम संस्थिता हो; अतएव मैं पुनः-पुनः अपनी इस नवधा भ्रान्तिरूपिणी जननी को प्रणाम करता हूँ।

इति—

श्रीपञ्चमी—
बङ्गाब्द १३५८
विक्रमाब्द २००८

श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय

निवेदन

(मूल तृतीय खण्ड से उद्धृत)

'जपसूत्रम्' का तृतीय खण्ड इतने शीघ्र ही आत्मप्रकाश करेगा ऐसी आशा नहीं की थी। इसका कृतित्व हमारा प्राप्य नहीं है। यह सम्भव हुआ है केवल उस महाशक्ति के अनुग्रह से जो पूज्यपाद स्वामीजी के माध्यम से भारतीय आर्ष-विज्ञान को मानो पुनः संजीवित कर के आज के नाना-मत-विभ्रान्त आर्त्त मानव के लिये प्रवाहित करती रही है।* इसकी पावनी धारा में जो अवगाहन करने आते हैं, उनमें से बहुत से ऐसा अनुयोग करते सुने आते हैं: 'जल बड़ा गभीर है—प्रवेश करके थाह नहीं मिलती, थोड़े से में ही हाँफ उठता हूँ, इसीलिए उतरने का साहस नहीं होता।' अथच जो लोग थोड़ा-सा साहस संचय करके, धैर्य का सहारा लेकर इस अक्षय सरोवर में उतरे हैं, वे लोग एक अद्भुत और अभिनव अमृत के आस्वादन से आप्यायित हुए हैं, यह भी उन्हीं की उच्छ्वसित उक्ति में सुनने को मिलता है। बहुतों की साधना में नीरस यान्त्रिक चक्रगति के स्थान पर इसने एक सरस और सोल्लास अग्रगति ला दी है, यह भी ज्ञात हुआ है। इसी में ग्रन्थ के प्रकाशन की सार्थकता है। फिर भी दुःख यह है कि गहन के प्यासे सर्वत्र ही स्वल्प होते हैं; सरल और सहज का हठ पकड़ कर हम उसी की आड़ में तरल और लघु रस के ही कंगाल बने फिरते हैं। उच्छ्वास की मादकता में कुछ देर मन भले ही भूल जाये, किन्तु अभय का आश्वास वहाँ नहीं मिलता। इसलिए अपनी सत्ता के गहन-तल में गभीर

---

* इस ग्रन्थ की रचना के सम्बन्ध में स्वामीजी की अपनी श्लोकमय कथा है :—

चतस्रो हि गिरो गावो दोग्धा गोपाल-गीष्पतिः।
प्रत्यग्वत्सः प्रधीः श्रेष्ठं दुग्धं जपरसायनम्॥
वैखरी प्रभृति कामदुघा, चारि वाक् चारि पयस्विनी,
साक्षात् गोपाल गीष्पति तुमि, बाँधि छन्दे दुहिले आपनि।
छन्दे बाँधि मातार चरणे, प्रत्यक् पियासि वत्स-टिरे,
प्रधीजने दिले प्रियात्प्रिय, जपरसायन (कवोष्ण) दुग्धधारे।
वैखरी आदि चार वाक् चार धेनुरूपा हैं। स्वयं गोपाल गीष्पति दुहने वाले हैं। प्रधी प्रत्यक् प्यासा वत्स है और जप-रसायन श्रेष्ठ दुग्ध है।
(मूल)

रस के आस्वादन की भी योग्यता का अर्जन करना होता है, इसलिए भी प्राथमिक प्रयास अपनी ओर से आना चाहिये। इसी को गुरु-शास्त्र-महाजनों ने 'आत्मकृपा' कहा है। पूज्यपाद स्वामीजी ने भी अनेक स्थलों पर इसका इङ्गित किया है। 'पहले प्रयास, फिर प्रसाद, पहले race, फिर grace' इत्यादि। अमृत कहीं भी सुलभ नहीं है। अपने अन्तरसमुद्र के मन्थन से ही उसका उद्धार करना होता है। मन्थन के प्रयास और क्लेश से पहले सब कुछ 'विषमय' लगता है, बहुत कड़ुआ और विरस। अन्त में रस-निर्झर का उत्समुख उन्मुक्त हो जाने पर अमृत के अभिषिञ्चन से सब कुछ शीतल हो जाता है। महाजन के ग्रन्थ का भी इसी प्रकार एकान्त अभिनिवेश और अपार धैर्य धरकर मन्थन करते रहना पड़ता है, उसके अन्त में उनकी मर्मवाणी मानो अपने को स्वयं उद्घाटित करती है। एकान्त में कान में सुनाई देती है। उपनिषद् की रहस्य-भाषा में वाक् अपने अमृत का उसके लिये दोहन करके लाकर उसे पिलाती है। इसीलिए इस ग्रन्थ की आपात दुरूहता से आतङ्कित होकर शङ्कित चित्त से दूर न लौट कर इसके निकट आकर इसकी गभीर भाव-तरङ्गों की महा-कल्लोल ध्वनि को कान लगा कर सुनने का यत्न करने में लाभ ही है, क्षति नहीं।

और वह कल्लोल कैसी विचित्र है। महा ओङ्कार की भाँति अद्भुत और मधुर इसकी ध्वनि है। कितने ही विचित्र रागों का आलापन, कितने ही सुरों का अपरूप अनुरणन इसमें ध्वनित-प्रतिध्वनित होता चलता है! यद्यपि एक ही मूल सुर पूरे ग्रन्थभर में बजता चला है, तथापि कहीं भी तनिक पुनरावृत्ति या एकस्वरता-जनित अरुचि मन को पीड़ा नहीं देती – यही विचित्र है। कहीं तो कोमल परदों पर स्निग्ध सुमिष्ट रस का उल्लासमय रूपायन है, और कहीं रूक्ष और तीक्ष्ण नव्य विज्ञान वा नव्य न्याय की अवच्छेदादि दुर्धर्ष परिभाषाओं की कठोर, शृंखल-झंकार है। दोनों में ही उनका समान अधिकार है, सहज सावलील विहार है। यदि पूरे-पूरे ढंग से इस महासंगीत के सब सुरों के पर्दे न भी पहचानूँ या कान से न पकड़ पाऊँ, तब भी इस परम गुणी के आश्चर्य आलापन को विमुग्ध होकर सुन जाने पर भी हृदय और मन की अनेक कालिमा धुल जाती है, कान भी जुड़ा जाते हैं, प्राण भी शीतल, स्निग्ध हो जाता है।

हमारा परम सौभाग्य है कि इस बार ग्रन्थ के प्रारम्भ में भारतीय साधन-ज्ञान के वाणीमूर्ति पूजनीय आचार्य महामहोपाध्याय डॉ० श्री गोपीनाथ

कविराज महोदय का एक अमूल्य निवन्ध भूमिका के रूप में हम सन्निविष्ट कर सके हैं। पूर्वखण्ड की भूमिका में मैंने उल्लेख किया था कि वे जपसूत्रम् को हाथ में पाकर पुलकित और उच्छ्वसित हुए हैं एवं उन्होंने अपने आप ही इसकी एक विस्तृत आलोचना करने का वचन दिया है। यद्यपि इस बार उन्हें मूल ग्रन्थ का सूत्र पकड़ कर विस्तृत विश्लेषण करने का समय और सुयोग नहीं मिला है, फिर भी संक्षेप में मूल ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का तन्त्रादि शास्त्रों से समर्थन और परिपोषण करके उन्होंने साधारण पाठकों के लिए इसमें प्रवेश का पथ सुगम कर दिया है।* इसके लिये हम उनके प्रति आन्तरिक कृतज्ञता निवेदन करते हैं।

पूर्व खण्ड की भाँति इस वार भी परिशिष्ट में आत्म प्रचार-विमुख परम-ज्ञान साधक मेरे आचार्यदेव पूजनीय श्री मन्मथनाथ मुखोपाध्याय* का 'अर्घोदय'-शीर्षक एक लघुनिवन्ध दिया गया है। उनके ज्ञानभाण्डार का विस्तृत परिचय सभी को एक दिन मिलेगा ऐसी आशा करता हूँ।

---

* यथा, केवल एक दृष्टान्त के रूप में शास्त्ररसिक सुधी पाठक वैखरी प्रभृति के सम्वन्ध में (जो मूल ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर आलोचित और विख्यात हैं), निम्नलिखित श्लोकों की भावना करें—

त्रयी वाक्प्राणचित्तानां निर्वाहयति याऽध्वरम्।
वाङ्मुख्या वैखरी तत्र प्राणमुख्या च मध्यमा॥
सत्त्वविशालधीमुख्या पश्यन्ती च पराऽपरा।
क्रियादिभ्यः स्वतन्त्रा या जप्तर्षिश्च परो यतः॥
कल्पेक्षणतपः काम ऋषिच्छन्दाध्वदेवताः॥

भावानुवाद—अध्वर (जपयाग) की निर्वाहयित्री त्रयी है—वाक् प्राण एवं चित्त। इस त्रयी का सम्पूर्ण सहयोग चाहिए। उनमें से (व्यक्त) वाक् की मुख्यता से वैखरी (वाचिक, उपांशु, मानस); (मुख्य) प्राण की प्रधानता से मध्यमा; और सत्त्वविशाल बुद्धि की प्रधानता से पश्यन्ती हैं। ये तीन क्रिया-कारक-फल-निष्पाद्या हैं। स्थूल, सूक्ष्म, अपर कारण-भूमि के प्रान्त पर्यन्त इन तीनों की गति हैं। किन्तु अव्यक्त समता, समग्रता की कारणभूमि इन तीनों के भी परे है। उस भूमि पर परा है। यह परकारणता का स्थल है। इस स्थल में परा वाक् के सम्वन्ध में (विमर्श में) परतत्त्व स्वयं ही जपकर्त्ता एवं ऋषि हैं, जैसे प्रणव के सम्वन्ध में। एवं परतत्त्व का अनिर्वाच्य ईक्षण यहाँ ऋषि है, काम देवता है, संकल्प छन्दः है और तपः विनियोग है। सुतरां, इस दृष्टि से परा वाक् परतत्त्व की साक्षात् विमर्शरूपा है, वाङ्मयी परकारणभूमि है। अपर, पर, एवं परम में भेद है। एक प्रकार से पश्यन्ती की गति इन तीनों में ही सम्भावित होती है। (मूल)

ग्रन्थ का कलेवर इस बार कुछ दीर्घ हो गया है। प्रथम अध्याय के तीनों पाद इस खण्ड में समाप्त हो गए हैं, एवं द्वितीय अध्याय का प्रथम पाद भी समाप्त-प्राय है। विभिन्न विशिष्ट विषयों का एक संक्षिप्त सूचीपत्र आरम्भ में दिया गया है। इस बार भी ग्रन्थकलेवर में थोड़े-बहुत भ्रम-प्रमाद अनेक अनिवार्य कारणों से रह गए हैं, किन्तु वे अर्थ के बोधक नहीं, तो बाधक भी नहीं होंगे ऐसी आशा करता हूँ।

अन्त में पूज्यपाद स्वामीजी के मानसमुकुर में जिस चैतन्य-चन्द्रिका के अद्भुत उद्भासन से इस नित्य नव ज्ञान का विकिरण होता आ रहा है, उन्हीं की रचित एक वन्दनागीति के सुर में सुर मिला कर हम उस चन्द्रिका का वरण करते हैं :

आगमाक्षरनक्षत्रलाजमङ्गलरोचिषम् ।
चिन्नभःकौमुदी-चेतःसरःकुमुदिनीमुदम् ।
वृण्वे सत्स्मितसारं मे वल्लभास्यसुधाकरम् ॥
तारका वीथिर छले, आगमेर मन्त्र-वर्ण-राजि,
जार रुचिरोचिषेरे, डाले लाज मङ्गल अञ्जलि।
चिदाकाशे विकिरण, चिर जार कनक-कौमुदी,
चित्त-सरसी ते मोर, कुमुदिनी आनन्द-दीपाली।
चिदानन्दे सम्प्रसाद, सत्य स्मित अमृतेर सार,
वरि मन वल्लभेर, (सेई) मुखशशि-रुचि बारम्बार ॥

[भावानुवाद—मैं अपने वल्लभ के मुखचन्द्र का वरण करता हूँ। उनके मुख की कान्ति को आगमों के मन्त्रवर्ण नक्षत्रों के व्याज से लावे की मङ्गल अञ्जलि डालते हैं। चिदाकाश में उनकी कौमुदी का नित्य विकिरण होता है। मेरे चित्त-रूपी सरोवर में वह कौमुदी कुमुदिनी को आनन्द देती है। सत्यस्मित रूपी अमृत-सार से वह मुखचन्द्र पूर्ण है।]

महालया
वंगाब्द १३६०
विक्रमाब्द २०१०

श्री गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय

---

* ग्रन्थकार के अग्रज। यहाँ उल्लिखित निबन्ध हिन्दी ग्रन्थमाला में पंचम परिशिष्ट खण्ड में स्थान पाएगा।—अनुवादिका।

निवेदन

(मूल चतुर्थ खण्ड से उद्धृत)

विन्दु से ही सिन्धु की सृष्टि होती है। जपसूत्रम् ने जब एक दिन सूत्राकार में क्षीण और सूक्ष्म कलेवर लेकर आत्म-प्रकाश किया था, तब उसी सूत्र के ही ताने और बाने में, लम्बाई और चौड़ाई में यह सुविपुल महाग्रन्थ अध्यात्म-शिल्प के एक विचित्र निदर्शन के रूप में अपने को फैलायेगा, ऐसी कल्पना किसी ने नहीं की थी। देखते-देखते श्रीभगवान् की असीम कृपा से इसका चतुर्थ खण्ड इस बार प्रकाशित हुआ। कहाँ व कब इसका उपसंहार होगा इसका निर्देश व विज्ञप्ति देना भी हमारे लिए सम्भव नहीं है, क्योंकि साधारण आत्मसचेतन रचना में जिस प्रकार परिसमाप्ति की एक सुनिर्दिष्ट परिकल्पना लेकर सब लोग अग्रसर होते हैं, इस क्षेत्र में उसका व्यतिक्रम और अभाव है। पूज्यपाद स्वामीजी सर्वदा ही यह अनुभव करते हैं कि यह रचना उनकी कृति नहीं है; जो निखिल के **'दृष्टिमतिरतिप्रदः'** हैं यह उन्हीं का अपना विचित्र विलास है, इस क्षेत्र में वे स्वयं यन्त्रमात्र हैं। संस्कृत में लिखित मूलग्रन्थ— पंचशताधिक सूत्रों में एवं द्विसहस्राधिक कारिकाश्लोकों में पहले से ही प्रस्तुत रहने पर भी सूत्रों के व्याख्यान-विवृति-विस्तार में एवं प्रसङ्गतः नव-नव छन्दो-भाव-वैभवमयी श्लोकसृष्टि में, ग्रन्थ-कलेवर अचिन्तित रूप से विपुल से विपुलतर हो चला है, अतएव जपसूत्रम् की प्रतिपाद्य मूलवस्तु-संस्था सुनिर्दिष्ट रहने पर भी उस सम्बन्ध में ध्यान-मनन आदि की जो धारा क्रम-वर्धमाना हो चली है, वह कब परिपूर्णता में पहुँचेगी, यह एक-मात्र वे सर्वपरिपूर्णताधार ही जानें।

बहुत लोगों को इस प्रकार परिसमाप्ति के विषय में परिकल्पना-हीन रचना, कहीं-कहीं असम्बद्ध, दुर्बोध-भावयुक्त और भाषा विलास-मात्र प्रतीत हो सकती है, किन्तु शास्त्र-रसिक-मात्र ही जानते हैं कि स्थूलतः नाना परस्पर-विरोधी विच्छिन्न वाक्यराशि के बीच समन्वय का स्वर्णसूत्र खोज निकालना ही विशारदी बुद्धि का यथार्थ काम है। जो लोग इतने-से परिश्रम से पराङ्मुख हैं, उन्हें वेद उपनिषद् गीतादि सभी अध्यात्म-शास्त्र अनेक स्थलों में विविध व्यामिश्र वाक्यों की जटिलता के रूप में ही प्रतीत होंगे। वे लोग सोचते हैं कि स्तूपीकृत काचखण्डों के बीच दो चार मणिखण्ड भी शायद बिखरे हुए हैं।

इसीलिए वेदान्त-दर्शन 'शास्त्रयोनित्वात्*'—इस सूत्र में ब्रह्म वा आत्मा का प्रमाण एकमात्र शास्त्र को कहकर ही क्षान्त नहीं हुआ है, परवर्त्ती सूत्र में ही 'तत्तु समन्वयात्†' कहकर उसने इस अमूल्य समन्वय-तत्त्व की प्रयोजनीयता समझाई है।

जपसूत्रम् में भी सर्वप्रथम वह मूल रागिणी पहचान लेना आवश्यक है। जपसूत्रम् मुख्यतः मन्त्रशास्त्र है, इसीलिए इसकी नाना सुर-लहरी घूम-फिर कर सर्व-मन्त्र-मूल उस परम ओङ्कार को ही स्पर्श करके आवर्त्तित होती रही है। ॐकार का द्विविध प्रकाश है—एक उसकी पाद की दिशा है, दूसरी मात्रा की दिशा है। चेतना के विभिन्न पर्वों में व्याप्त जो प्रकाश है, वह पाद की अभिव्यक्ति है, वैसे ही ठीक तदनुरूप स्पन्दन का उन्मेष मात्रा का निर्देश करता है। एक ओर ज्ञान की धारा है, दूसरी ओर क्रिया की धारा है। स्पन्दन के आश्रय से चेतना का उन्मेष ही जपादिसाधन का लक्ष्य है। जपसूत्रम् में भी इन दोनों दिशाओं की आलोचना सर्वत्र फैली हुई है; एक दुरूह तत्त्वालोचना की धारा है, दूसरी मन्त्रादि स्पन्दन के नियामक वर्ण-रसायन का निपुण विश्लेषण है। जैसे इस खण्ड में 'अक्षर' प्रभृति को दार्शनिक तत्त्वालोचना में स्थान मिला है, वैसे ही ॐकार के विभिन्न विवर्तनों में किस प्रकार साधारण लोगों के लिए सुगम 'राम' वा 'माँ' नाम प्रकट हुआ है, इसका भी विचित्र विवरण दिया गया है। हमारे देश के अध्यात्म-शास्त्र ने सर्वत्र ही इन दो क्रमों का अनुसरण किया है। पातञ्जल योगदर्शन में समाधि-पाद में समाधि का लक्षण इत्यादि तत्त्वविचार उपन्यस्त करके साधन-पाद में समाधि-लाभ की उपयोगी क्रिया का वर्णन किया गया है। गीता में पहले ही द्वितीय अध्याय में दुरूह सांख्ययोग में आत्मतत्त्व की दुरधिगम्य आलोचना की अवतारणा है, एवं बाद में कर्मयोगादि के प्रसङ्ग में उसी की साधन-सरणि विभिन्न पर्वों में अष्टादश अध्याय तक सुविन्यस्त है। योगवासिष्ठ ने भी **'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य'** कहकर इस युग्म पक्ष का इङ्गित दिया है। एक **'सम्यगवेक्षणम्'** वा ज्ञानधारा है, दूसरी **'प्राणस्पन्द-निरोधनम्'** वा क्रिया की धारा है। इस उभयधारा के बीच से गुप्ता सरस्वती की भाँति भक्ति की फल्गु धारा बहती है एवं इस त्रिधारा के सार्थक समन्वय-रूप महात्रिवेणी-सङ्गम में जो अपने को निमज्जित कर सकते हैं, उन्हीं की साधना सिद्धि की सफलता और पूर्णता की महिमा से मण्डित होती है।

* ब्रह्मसूत्रम् १।१।३ —अनुवादिका।
† ,, १।१।४ ,, ।

दुःख की बात है कि आधुनिक युग के प्रयास-विमुख जनसाधारण में किसी भी धारा को निष्ठा के साथ पकड़ने या समझने का धैर्य नहीं है, अनुष्ठान तो दूर की बात है। किसी महापुरुष का निश्चिन्त पदाश्रय-लाभ करके आयास के बिना भवसिन्धु-उत्तरण के लिये ही सभी व्याकुल हैं। किन्तु यथार्थ 'आश्रय'-लाभ' होने पर निरुद्वेग और निरापद अवस्था का जो बोध जीवन को अनाविल प्रशान्ति से भर डालता है, उसका कोई लक्षण किसी के भी चित्त में प्रस्फुटित होते देखा नहीं जाता। हम लोग सभी भूल बैठे हैं कि संसार में वासना का धन व साधना का धन जो कुछ भी खरीदना चाहें वह यथार्थ मूल्य के बिना नहीं मिलता। **'कृष्ण-भक्ति-रस-भाविता-मतिः*'** अति उपादेय और आकांक्षणीय वस्तु है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इसीलिये क्या केवल गद्‌गद् उच्छ्‌वास से दो बिन्दु अश्रुपात से ही वह मिल जायेगी? इसीलिये भक्त-महाजन साथ-साथ मूल्य भी तय कर देना भूले नहीं हैं—**'तत्र लौल्यमपि मूल्यमेकलम्'** एवं वह भी फिर **'जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते'**। 'जपसूत्रम्' की आलोचना से लोगों को प्रवुद्ध करने में आशानुरूप प्रतिस्पन्दन जो नहीं मिलता, उसका कारण यही है कि इस युग का मनुष्य मूल्यदान में असम्मत है, तपस्या से विमुख है, परिश्रम में कातर है। मेरे पूजनीय-चरण आचार्यदेव महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराज महाशय इसीलिये दुःख व्यक्त कर रहे थे कि वे सभी को इस अपूर्व ग्रन्थ के पठन और आलोचन में प्रोत्साहित करते हैं, किन्तु सभी इसकी दुरूहता के कारण अग्रसर होना नहीं चाहते। दुरूह को बोधगम्य करने के लिए बुद्धि का जितना-सा प्रयास और सुस्थिर विनियोग अपेक्षित है, उतना-सा वे करने को राजी नहीं हैं। किन्तु काल भी अनन्त है, देश भी असीम है; सुतरां यह महाग्रन्थ जिस-किसी देश वा काल में किसी निष्ठावान् साधक के हाथ में पड़ कर उसे अवश्य ही उत्फुल्ल और उल्लसित कर देगा एवं उसकी साधना में नूतन प्रेरणा और रस का संचार करेगा इस उद्देश्य से हमारा ग्रन्थ-प्रकाशन है।

'जपसूत्रम्' के और एक वैशिष्ट्य की ओर सभी की दृष्टि आकृष्ट हुई होगी, एवं वह है एक-एक शब्द को पकड़ कर उसके प्रत्येक वर्ण का विश्लेषण करते हुए उसका निगूढ़ मर्मार्थ पकड़ने का प्रयास। यहाँ भी कई लोगों के मन में

---

*कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र लौल्यमपि मूल्यमेकलं जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते॥
(पद्यावली—१४)—अनुवादिका।

धारणा हो सकती है कि यह केवल यादृच्छिक कष्ट-कल्पना है, किन्तु यह हमारी सुप्राचीन पद्धति का ही पुनरुज्जीवन है। वेदमन्त्रों की व्याख्या में भी निरुक्त-कार यास्क एवं उनके भी पूर्ववर्ती और्णनाभ, स्थौलष्ठीवि, शाकपूणि प्रभृति आचार्यों ने इसी रीति का अनुसरण करके वेद के रहस्यार्थ के उद्घाटन की चेष्टा की है। यहाँ तक कि उन लोगों से भी पहले स्वयं ऋषिवृन्द ने उप-निषद् में विविध विद्याओं के प्रसङ्ग में, जैसे उद्गीथ-विद्या में 'उत्+गी+थ' प्रत्येक अक्षर की व्यञ्जना का इस प्रकार विश्लेषण किया है। हमारे आधु-निक मार्जित (?) भाषाविज्ञानी की बुद्धि को यह सब अब हास्यकर प्रयास प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु साधनराज्य के गहन लोक में जो भी प्रवेश करना चाहते हैं, वही इनका निगूढ़ संकेत-मूल्य समझ कर धन्य होते हैं। जैसे निगम में, वैसे ही आगम में भी इस वर्ण-विश्लेषण ने एक विशिष्ट स्थान पर अधिकार कर रखा है, एवं बीज-मन्त्रादि सब कुछ ही इन स्वर-व्यंजनों के नानाविध संश्लेष-समन्वय के रहस्य पर प्रतिष्ठित हैं। यहाँ तक कि समस्त सृष्टि का विकास-रहस्य भी इस वर्णमाला के बीच ही संगोपन में सुरक्षित है। मन्त्र-महेश्वर अभिनव-गुप्ताचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध तन्त्रालोक नामक महाग्रन्थ में तीन मूल स्वर 'अ इ उ' के आश्रय से ही विश्व-सृष्टि की व्याख्या की है—

'योऽनुत्तरः परः स्पन्दो यश्चानन्दः समुच्छलन्।
ताविच्छोन्मेषसंघट्टाद् गच्छतोऽतिविचित्रताम् ॥'

सबके मूल में 'अनुत्तर' रूप में परम परिसीमा में पड़ा हुआ है 'अ'कार; उसके बाद अपने को कुछ दीर्घ, विस्तृत करके 'आ'कार में उच्छल 'आनन्द' का समुल्लास है; उस आनन्द से ही 'इ' कार में सृष्टि की 'इच्छा' वा काम-बीज की उत्पत्ति, एवं बाद में 'उ'कार में उस बीज का ही उन्मेष वा अङ्कुरोद्गम है। सुतरां 'अ आ इ उ' इन कुछ-एक स्वरों के संघट्ट वा परस्पर सम्मिलन से ही इस अतिविचित्र विश्व का विकास हुआ है। साधक के लिये इस संकेत का मूल्य अपरिसीम है, क्योंकि यही उसे ध्यान की निविड़ता में समाधि के गभीर गहन में डुबा देता है। 'जपसूत्रम्' में भी इसी प्रकार इतने स्तोत्र-मन्त्रों पर अभिनव प्रकाश डाला गया है कि सोच कर विस्मित होना पड़ता है। पूज्यपाद स्वामीजी ने इन सब क्षेत्रों में आर्ष ऋषियों की सनातन धारा का ही पुनरुज्जीवन किया है एवं उस ऋषि-जुष्ट पथ से ही नाना विलुप्त मणि-मणिक्यों का समुद्धार करके ला दिया है। यह सब उनकी कष्ट-कल्पना का व्यर्थ प्रयास नहीं है—यह बताने के लिए ही ऊपर कुछ-एक बातों की अवतारणा की गई।

'जपसूत्रम्' का तृतीय खण्ड पूजनीय आचार्यदेव महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज महाशय की अमूल्य भूमिका से समृद्ध हुआ था। उसमें विशेषतः तन्त्रशास्त्र की ओर से जपसाधना के अनेक गूढ़ तात्पर्य और अज्ञात तथ्य सब के लिये उद्घाटित हुए हैं। इस बार हमारे विशेष सौभाग्यवशतः और एक विशिष्ट साधक और मनीषी श्रीमद् अनिर्वाण* वेद की दृष्टि से जप-रहस्य के उद्घाटन में अग्रसर हुए हैं। एवं उन्होंने एक बहुमूल्य संक्षिप्त निबन्ध में वेद में जपादि साधन का जो मूल सुगोपन में संरक्षित है, उसका कुछ परिचय अपनी साधनलब्ध प्रज्ञा के भास्वर आलोक से प्रकाशित किया है।† स्वप्न देखता हूँ कि कब इन सब महामनीषी और साधकों के समवेत सार्थक प्रयास से पुनः आर्ष साधन-विज्ञान पूर्ण गौरव से आत्मप्रकाश करेगा! शायद हमारा यह विच्छिन्न प्रयास उसी की सूचना वा पूर्वाभास मात्र है।

जपके सम्बन्ध में नाना तथ्य और तत्त्वों के भार से पीड़ित होकर बहुतों का मन शायद इसकी वास्तव कार्यकारिता के सम्बन्ध में आस्था खो बैठे, यह केवल सार्थकता-विवृत वाक्य-विलास एवं भावविलास प्रतीत होने लगे। किन्तु निष्ठा के साथ साधना में आत्म-नियोग करने पर श्रीगुरु-दत्त नाम वा महामन्त्र अब भी साधक पर किस प्रकार कृपा करते हैं इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति का सामान्य विवरण इसीलिये इस बार परिशिष्ट के रूप में सब से अन्त में ग्रन्थ के उपसंहार में दिया गया है। यह सब साधक की एकान्त गुह्यातिगुह्य अनुभूति का परम गोप्य विवरण है, इसीलिए साधारण के सामने प्रकाशित करने में स्वभावतः ही कुण्ठा होती है। किन्तु यह महासाधक अब लोकलोचन अगोचर दिव्य धाम में चले गये हैं, इसलिये इस विवरण के प्रकाश से उनकी महिमा के प्रचार से किसी क्षति की सम्भावना नहीं है, वरं नाम की महिमा के उद्घोषण से लाभ ही है, यह सोचकर ही इसके प्रकाशन का हमने साहस किया है। 'जपसूत्रम्' के प्रकाशन में इन महापुरुष की प्रेरणा ही प्रथम और प्रधान थी, वही थे इसके प्राण। 'जपसूत्रम्' की प्रत्येक बात उनकी दिव्यानुभूति

---

* स्वामी अनिर्वाण जी वैदिक वाङ्मय के अपूर्व अनुसन्धित्सु हैं। आपके विशाल ग्रन्थ 'वेदमीमांसा' के प्रथम दो खण्ड राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, कलकत्ता से प्रकाशित हो चुके हैं।—अनुवादिका।

† हिन्दी अनुवाद की ग्रन्थमाला में जपसूत्रम् के सभी परिशिष्ट पंचम खण्ड में दिये जायेंगे।

की वीणा में जो झङ्कार जगाती थी, उसी का उल्लास नित्य नवीन रचना में ग्रन्थकार को उद्बुद्ध करता था। वह आश्चर्यमय आदान-प्रदान, भाव-विनिमय केवल अन्तर का ही आस्वाद्य था एवं उस दिव्य आस्वादन की स्मृति आज भी हृदय को अमृत से भरे हुए है। यह अपूर्व विवरणी पढ़ते समय दो बातें ध्यान में रखने की हैं, प्रथमतः यह कि साधक में नाम मानो अपने आप क्रिया करता हुआ चलता रहा है, वे स्वयं केवल नीरव साक्षी या द्रष्टा के रूप में देह के विभिन्न अवयवों से नाम के उत्थान और गतिभङ्गी को ध्यान में लेते चले हैं। द्वितीयतः केवल ध्वनि के स्पन्दन व गुञ्जन का अनुसरण करने पर वह यान्त्रिक क्रिया-मात्र ही रह जाती है। किन्तु नाम जो चैतन्यशक्ति है, उसका परिचय तभी मिलता है जब संकीर्ण जैव चेतना प्रसारित होते-होते दिव्य चेतना में स्थिति-लाभ करती है। क्रिया की सार्थकता बोध के उन्मेष और व्याप्ति में ही है, विवरणी के शेषांश में इसी का इङ्गित दिया गया है। **'सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'** *यह जपरूप कर्म में विशेष भाव से प्रयोजनीय और सर्वदा स्मरणीय है।

प्रत्येक बार परिशिष्ट में जिनकी एक ज्ञानगर्भ रचना सन्निविष्ट करके हम ग्रन्थ का गौरव बढ़ाते थे, अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि मेरे उन परम पूजनीय अध्यापक श्रीमन्मथनाथ मुखोपाध्याय को इस बीच हम खो बैठे हैं। वे पूज्यपाद स्वामीजी के अग्रज थे एवं इसीलिए अपने प्रतिभावान्, सर्वत्यागी अनुज की इस रचना के प्रति उनका केवल गम्भीर ममताबोध था इतना ही नहीं, अन्तर के अनुभव से वे इसका आस्वादन करते थे। सद्गुरु से नाद-साधना में दीक्षित होकर पूरा जीवन भर गम्भीर महानिशा की स्तब्ध मौनता में वे विश्वसंगीत के छन्द और सुर में अपनी वीणा मिलाने का नियमित प्रयास करके कृतकृत्य हुए थे। कर्म-जीवन में वे सरकारी शिक्षा-विभाग में दर्शन के अध्यापक थे, एवं कृष्णनगर कॉलेज के उपाध्यक्ष के रूप में प्रायः बीस वर्ष पहले उन्होंने अवकाश ग्रहण किया था, उसके बाद बर्धमान के अन्तर्गत अपने ग्राम चाण्डुली में प्राकृतिक परिवेश के बीच उन्होंने सबके अलक्षित रहकर नाम-साधना में एवं ज्ञानानुशीलन में अपने को डुबाये रखा था। दर्शन उनके अवसर-विनोदन का विलास नहीं था, जीवन का नियामक था। ज्ञान एवं रस दोनों से ही उनका जीवन सुसमृद्ध था। उनका पठन का विषय इतना विस्तृत था कि वह

* श्रीमद्भगवद्गीता ४,३३—अनुवादिका।

दर्शन की सीमा का अतिक्रम करके साहित्य, विज्ञान, ललित कला-प्रभृति सभी क्षेत्रों में समान रस और प्रेरणा प्राप्त करता था। अपनी गम्भीर चिन्ताराशि को वे प्रतिदिन ही लिपिबद्ध करके रखते थे। इन दिनों वेद के अनेक तत्त्व, विशेषत: 'सोम' उन के एकान्त ध्यान का विषय बना हुआ था। उनकी रचनावली के अंश-विशेष भविष्य में प्रकाशित कर सकूँगा, ऐसी आशा है। 'जपसूत्रम्' के विरल बोद्धाओं में से और भी एक चले गये हैं। यह शून्यता फिर से पूर्ण होने की नहीं है।

श्री गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय

कलकत्ता
दशहरा
वंगाब्द १३६३
ज्येष्ठ,
विक्रमाब्द २०१३

से समझाया है। फिर भी हमारा दुरूहता-पराङ्मुख मन सहज और सरल का हठ करके बैठा है, इसलिए उन सब को अग्राह्य करके वा आलस्यवश उनकी उपेक्षा करके ही चलना चाहता है। किन्तु चाहे जो साधन हो, उसके सिद्धान्त वा तत्त्व के सम्बन्ध में सुस्पष्ट धारणा न रहने पर अधिक दूर अग्रसर नहीं हुआ जाता एवं इस सुस्पष्ट धारणा के लिए ही, लक्षणादि को इतना रगड़ना और माँजना पड़ता है। इसीलिए हमारे देश में भक्तिशास्त्र ने भी केवल लीला-चिन्ता में विभोर होकर ही अपनी सार्थकता का प्रतिपादन नहीं किया है, अन्त-रङ्गा, बहिरङ्गा, तटस्था आदि शक्ति-प्रभृति की परिभाषा से अपने सिद्धान्त के संस्थापन में उसने प्राण-पण से प्रयास किया है। चैतन्यचरितामृत के पूजनीय ग्रन्थकार श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने श्रीश्रीगौर-लीला का वर्णन करते हुए भी इन सब वैष्णव-सिद्धान्तों का प्रसङ्ग आरम्भ में ही उठाया है, एवं कहीं लीला के सरस वर्णन के श्रवण में उत्सुक और अधीर पाठकवर्ग इस अंश को नीरस और दुर्बोध्य, एवं इसीलिए गौण व अप्रयोजनीय मान कर इसकी उपेक्षा न कर बैठें, इसलिए वे सावधान वाणी का उच्चारण करना भी भूले नहीं हैं। उनकी वह अमूल्य वाणी प्रत्येक साधक का कण्ठहार होने योग्य है—

> 'सिद्धान्त बलिया चित्ते ना करो आलस।
> इहा हइते कृष्णे हय सुदृढ़ मानस॥*'

सुतरां भक्ति भी केवल तरल उच्छ्वास ही रह जाती है, यदि वह सुचिन्तित सिद्धान्त पर सुप्रतिष्ठित न हो। जो लोग समझते हैं कि ज्ञान के प्रखर ताप से भक्ति की निर्झरिणी विशुष्क हो जाती है, वे लोग श्रीभगवान् के निज मुख की उक्ति 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते†' को ही भूल जाते हैं। श्रीमद्भागवत के भी ध्यान के विषय 'जन्माद्यस्य यतः‡' वे 'सत्यं परं' हैं, जो 'न खलु गोपिकानन्दनः§' किन्तु 'अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्' हैं।

यहाँ यह प्रसङ्ग अवान्तर लग सकता है, किन्तु इसकी अवतारणा केवल यही दिखाने के लिए है कि हमारी बुद्धि को स्वाभाविक अलसता और ताम-

---

* चैतन्यचरितामृत १.२.११३—अनुवादिका।
† श्रीमद्भगवद्गीता ७.१७—अनुवादिका।
‡ श्रीमद्भागवत १.१.१— " ।
§ " १०.३१.४— " ।

सिकता में उद्बद्ध करने के लिये महाजनों के अनलस निरवच्छिन्न प्रयास के स्वाक्षर भारत के विविध अध्यात्म-शास्त्रों में उत्कीर्ण है। 'जपसूत्रम्' में भी उसका व्यतिक्रम नहीं हुआ है। पूज्यपाद स्वामीजी ने एक ओर जैसे आधार, अधिष्ठान, निधान, आश्रय, इत्यादि वेदान्त के तत्त्वों का लक्षण-निर्देश करने में कार्पण्य नहीं किया है, वैसे ही वराह, नृसिंह, वामन आदि पौराणिक तत्त्वों के रहस्योद्‌घाटन में भी वे तत्पर हुए है, एवं साथ-साथ तत्त्व की दृष्टि से अकार, इकार, उकार आदि वर्णों के अन्तर्निहित तात्पर्य के विश्लेषण में भी उनका समान आग्रह है। उनकी समन्वयी दृष्टि के स्वच्छ आलोक में वेदान्त, पुराण, तन्त्र आदि प्राचीन अध्यात्मशास्त्र, यहाँ तक कि आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान के तत्त्व भी एक अखण्ड तात्पर्य से समुद्‌भासित है। इसीलिये जपसूत्र का जो निष्ठा के साथ पाठ करेंगे, उनकी आर्यसाधना की विभिन्न शाखाओं की परिक्रमा भी साथ-साथ हो जायेगी, एवं नव्य विज्ञान के आलोक में सनातन सत्य मिथ्या वा म्लान नहीं हो गये हैं, और भी प्रोज्ज्वल और परिपुष्ट हो गये हैं, इस प्रत्यय-लाभ से वे धन्य होंगे।

उपसंहार में और एक विषय के प्रति पाठकवर्ग की दृष्टि आकर्षित करके क्षान्त हो जाऊँगा। पूज्यपाद स्वामीजी ने इस महाग्रन्थ में वेदान्त, तन्त्र, पुराण वा विज्ञान के जो भी प्रसङ्ग उठाये हैं, उन सभी का मूल लक्ष्य एक ही है—जपविज्ञान को ही नाना-भाव से समझने का प्रयास। नहीं तो केवल कुछ-एक तत्त्व या लक्षण जान लिए या सीख लिये या उनके द्वारा अपने पाण्डित्य का ख्यापन किया यह यहाँ का लक्ष्य नहीं है। जैसे **'निरपेक्षाक्षरत्वमाधारत्वम्'** (मूल पंचम खण्ड पृ० १) इस लक्षण में 'निरपेक्ष' 'अनपेक्ष' इत्यादि शब्दों के सूक्ष्म विश्लेषण-पूर्वक आधार को समझ लेने से ही नहीं हो जायेगा, ओङ्कारादि-जप में आधार क्या है, एवं कैसे उस आधार में जप को मिलाना होता है, यह जानने पर ही आधार को ठीक से जानना व समझना हुआ—ऐसा मानना होगा। वैसे ही आधार को सामान्यतः वस्तु दृष्टि से 'वज्रसत्त्व' वा क्षयहीन तल के रूप में, शाक्ती दृष्टि से 'मूलाधार' के रूप में, मान्त्री दृष्टि से ओङ्कार व गायत्री के रूप में एवं यान्त्री दृष्टि से 'हृल्लेखा' के रूप में विभिन्न दृष्टि-कोणों से जानने या पहचानने पर ही बोध पूर्णाङ्ग होता है। जपसूत्रकार ने बार-बार स्मरण करा दिया है कि आर्ष दृष्टि से बोध तभी पूर्णाङ्ग एवं फल-पर्यवसायी होता है जब 'विद्यया-श्रद्धया-उपनिषदा' उसका अनुशीलन होता है।

हम भी अपनी-अपनी जप-क्रिया में यदि इन तीनों का सम्मिलन साध कर जप का 'आधार' वा 'अधिष्ठान' क्या है, जप के बीच ही 'वामन' वा 'नृसिंह' आदि कहाँ कैसे छिपे हुए हैं, जप के अक्षरों में से अकारादि किसकी व्यञ्जना वा इङ्गित वहन कर के ला रहे हैं, इत्यादि—इस प्रकार 'ध्यान लगायें' अर्थात् गम्भीर-गहन में प्रवेश का प्रयास करें तभी ग्रंथ की सार्थकता, ग्रन्थकार के सुविपुल आत्मनियोग की चरितार्थता एवं हमारे अपने अपने जीवनसाधन की भी कृतार्थता होगी।

कलकत्ता,
महाविषुव सङ्क्रान्ति,
वङ्गाब्द १३६४
विक्रमाब्द २०१४

श्रीगोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय

करके 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' 'सुखदुःखे समे कृत्वा' इत्यादि क्रम से 'निर्दोषं हि समं' ब्रह्म में पहुँचने के लिए ही गीतादि शास्त्रों के उपदेश एवं साधन के प्रयास हैं। इसीलिए आरम्भ में यह बहुत आयास-साध्य, कृति-साध्य लगता है। किन्तु यह कृति-जप ही एक दिन रुचिजप और रतिजप में परिणत होता है (मूल षष्ठ खण्ड पृष्ठ १९६) तब इसका रूप बदलता रहता है। कृत्रिम प्रयास के स्थान पर तब सहज स्वाभाविक प्राणधारा में जप पतित होता है। 'जपसूत्रम्' की परिभाषा में तब स्थूल वाक् का पतन हो जाता है, मध्यमा वाक् माला पकड़ती है। इस प्रकार जप अजपा में परिणत होता है। 'शिव-सूत्र-विमर्शिनी' की भाषा में तब 'आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति' अर्थात् आसन पर बैठते ही अनायास हृदय का अमृत-ह्रद में निमज्जन हो जाता है, एवं **कथा जपः** अर्थात् शब्दमात्र ही जप में परिणत हो जाता है। किन्तु इस अजपा में ही धारा का अन्त नहीं है। अजपा की इस स्वच्छन्द धारा की सीमा कहाँ तक है? यह क्या लक्ष्यहीन अभिसार है? नहीं, इसकी भी सीमा है 'आजप' (मूल षष्ठ खण्ड पृ० २४८)। अर्थात् 'अजप' तक (आ+अजप) इस की गति है। जप जब तक अजप में, जप-शून्यता में अर्थात् कृत्रिम-अकृत्रिम सब क्रियाओं के ऊर्ध्व में, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं होता—'**यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय**'*—जब तक नहीं होता, तब तक इस यात्रा की छुट्टी नहीं, स्पन्दन का विराम नहीं। इसीलिये इस अन्तिम खण्ड में जप अजपा के द्वार में से अजप में पहुँच गया है। जप के बहु-विचित्र रूप भी प्रसङ्ग-क्रम से इस में उद्घाटित हुए हैं। इसीलिए जप-अजपा-अजप—इस क्रम वा परिणति को प्रत्येक साधक को अपने अनुभव के साथ मिला लेना होगा।

किन्तु इस गति वा परिणति का सब कुछ ही श्रीगुरु-रूपी उस मुख्य अनुग्रह शक्ति द्वारा नियन्त्रित है, जिसकी अनुकम्पा ही '**निखिल-शमन-मूलम्**' है। इस श्रीगुरु-तत्त्व के सम्बन्ध में आजकल नाना प्रकार की भ्रान्तिमूलक धारणायें प्रवर्तित और प्रचलित हैं। कोई अपने गुरु को सब अवतारों में से श्रेष्ठ, त्रिभुवन में अतुलनीय, कह कर उनके ही गुण-गान वा उनके ही वर्णन के विज्ञापन में मुखर हैं—ये लोग गीता की भाषा में '‡**नान्यदस्तीतिवादिनः**'। दूसरे कोई लोग एक गुरु के आश्रय में कुछ दिन काट कर बिना क्लेश के अन्य

---

* मुण्डकोपनिषत् ३. २. ८—अनुवादिका।

‡ श्रीमद्भगवद्गीता २. ४२ – अनुवादिका।

एक गुरु का आश्रय ग्रहण करने में किसी द्विधा का अनुभव नहीं करते, मानो गुरु-शिष्य का सम्बन्ध इतना ही भङ्गुर और कोमल है कि इच्छा-मात्र से ही उसका स्थापन व वियोजन किया जा सकता है ! इन सब विभ्रान्तियों के निरास के लिए जपसूत्रकार ने इस तत्त्व को यथायथ भाव से साधक के सम्मुख उद्घाटित किया है। उनकी भाषा में भगवान् की सर्वव्यापिनी जो अनुग्रह-शक्ति है, उस शक्ति की अनन्य-साधारण मूर्त्त व्यक्तिरूपता विशेष-विशेष गुरु-शक्ति है (मूल षष्ठ खण्ड पृ० ३०४)। इसीलिये यह गुरुशक्ति निखिल-व्यापिनी है, 'सब साधु महापुरुषों में ही विद्यमान है'। इसलिये यह बात ध्यान में रखकर चित्त की सङ्कीर्णता का परिहार करके सभी महाजनों के चरणों में अपने को लुटा देना होगा। साथ-साथ यह भी स्मरण रखना होगा—'मेरे गुरु में वह अनुग्रह-शक्ति मेरे लिये असाधारणी, अतुलनीया, अनुत्तमा है'। मेरे मन के मर्म में जिनके स्पर्श ने युग-युगान्तर की नींद खुलवाई है, नयन उन्मीलित कर दिये हैं **'तस्मै श्रीगुरवे नमः'*** बारम्बार उन्हीं के चरणों में मेरी प्राण-न्यौछावर सहित प्रणति है। उनके साथ मेरा सम्बन्ध चातक और वारिद के सम्बन्ध की भाँति ही अच्छेद्य जो है। मेरे हृदय की ज्वाला, प्राण की पिपासा मिटाने के लिये उस 'जलधरश्याममनोहर' के बिना और तो कोई नहीं, 'दूसरो न कोई'। तब क्या दूसरे किसी को नहीं मानूँगा ? अन्य किसी साधु-महापुरुष के चरण में प्रणत नहीं होऊँगा ? अथवा उस प्रकार अन्य के चरणों में प्रणत होना क्या अपने गुरु को छोटा करना नहीं होगा ? या उस प्रकार के आचरण से अपने सद्गुरु के प्रति श्रद्धा का शैथिल्य प्रकाश नहीं पायेगा ? इस प्रकार के विषम शङ्काकुल साधक को जपसूत्रकार अपनी ऋषि-दृष्टि से अभ्रान्त निर्देश देना भूले नहीं हैं : "अन्यान्य साधु महापुरुषों का सङ्गादि भी तुम्हारा साधनाङ्ग है अवश्य, किन्तु इस प्रकार के सङ्ग में एकमात्र आकूति वा प्रार्थना रहेगी 'मुझे मेरे गुरु, इष्ट-साधन में पूर्णा मति-रति एवं एकान्त निर्भरा अचला निष्ठा दो।' तुम्हारा अपना भाण्डार नित्य पूर्ण है; किसी साधु से वर माँगना—'जिस से मैं अपने भाण्डार के द्वार पर ही सर्वक्षण निश्चिन्त होकर लौट सकूँ' (मूल षष्ठ खण्ड पृ० ३०५)।" तुलसीदास ने केवल श्रीरामचन्द्र का ही गुणगान नहीं किया, अन्यान्य नाना देव-देवियों की वन्दना गाई है, किन्तु सब के पास उनकी केवल एक ही प्रार्थना है :—

---

* अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ —अनवादिका।

जपसूत्रम् (भूमिका)

ग्रन्थकार की भूमिका

स्वाभाविक शब्द अथवा मन्त्र (१)
(Natural Name)

इस नाम से दो वक्तृता सावारण श्रोतृवर्ग के लिये बहुत वर्ष पूर्व दी गई थीं। आज ऐसा लगता है कि दोनों वक्तृता अनेक दिन पूर्व की होने पर भी, वर्तमान ग्रन्थ का जो मुख्य प्रयोजन है, उसके सावन में कुछ सहायता कर सकेंगी। इसी कारण दोनों वक्तृता ग्रन्थ की भूमिका में पुनर्मुद्रित आकार में अन्तर्निविष्ट की जा रही हैं। वे मूलतः जिस रूप में थीं प्रायः उसी रूप में यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं। व्याख्यान की प्राञ्जलता एवं सम्भवतः थोड़ी सरसता भी इनमें बनी रही है, ऐसा लगता है। किन्तु पुरानी वस्तु को नयी में स्थान देने जाएँ तो सब प्रकार से पूरी तरह मेल बैठाना कठिन होता है। परिभाषा और विवृतिभङ्गी में उस (पुरानी) के और इस (नयी) के बीच कुछ पार्थक्य होने पर भी मूलतः एवं मुख्यतः कहीं कुछ बेमेल नहीं है। जपविज्ञान का सम्बन्ध मुख्यतः मन्त्र से है। यह 'मन्त्र'-वस्तु क्या है, यह समझने में ये दोनों वक्तृता काम दे सकेंगी।

यहाँ, एवं प्रयोजनानुसार अन्यत्र भी, प्रस्तावित आलोचना में आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान (natural science) का सहयोग लिया गया है। कैसे और कितना, यह तो आलोचना-प्रसंग में ही देखा जाएगा। जप-विज्ञान मुख्यतः अध्यात्म-विज्ञान है। कहा गया है, वाक्, प्राण और मन जप-कर्म के निर्वाहक हैं। जप-कर्म इस 'स्थूल' शारीर-यन्त्र को एवं इस की अवस्थिति-परिस्थिति को 'अमान्य' करके नहीं होता। सुतरां जिसको हम 'स्थूल' समझते है उसीमें जप का कम से कम मूल 'पाद' न्यस्त है। यहाँ के नियम-कानून जप के कम से कम उस पाद के सम्बन्ध में अप्रयोज्य अथवा अप्रासंगिक नहीं है। इन कतिपय बातों को भूमिका में अन्यत्र एवं मूल ग्रन्थ में स्पष्ट करके कहा गया है। जपकर्म प्राण के प्रयत्नविशेष से साध्य है। इस प्रयत्नविशेष में सौष्ठव (symmetry, harmony) रहना आवश्यक है, जैसे संगीत के स्वर-विन्यास में। सौष्ठव के बिना जपकर्म सुष्ठुभाव से नहीं होगा, फलतः कर्म 'समर्थ' नहीं होगा, सिद्ध भी नहीं होगा। एक दृष्टान्त—'कृष्ण' इस नाम का कोई-कोई 'कृ स् न' (षकार का दन्त्य स की तरह उच्चारण करके) 'ग्रहण' करते देखे जाते हैं। इसमें सचमुच जो 'अपराध' होता है, वह वाह्यतः

जप अथवा अन्य जो कोई भी कर्म हों, उनकी सामर्थ्य-सिद्धि के निमित्त इन तीन की अपेक्षा होती है—(१) विद्या (correct technique) (२) श्रद्धा (working belief and interest से जिसका आरम्भ होता है) एवं (३) उपनिषद् (रहस्यज्ञान–grasp of basic principles) विद्या के लिये 'विज्ञान-सम्मत' अभिज्ञ-उपदेश मिलना चाहिये एवं वह विज्ञान आधुनिक विज्ञान (जड़, प्राण तथा मन-विषयक) की कुछ भी अपेक्षा नहीं रखेगा—उसका यह हठ नितान्त अचल है।

वस्तुतः विज्ञान में वैजात्य है भी नहीं; कोई भी विज्ञान अन्त्यज नहीं है, अव्यवहार्य वा अस्पृश्य नहीं है। यह अवश्य है कि अध्यात्मविज्ञान में ही पूर्ण विज्ञान होने की योग्यता है। स्थूल के क्षेत्र में समन्वय, सामञ्जस्य साध कर ही उसे पूर्णता प्राप्त करनी होती है। स्थूल के तथ्य एवं तत्त्व अङ्गीकार करके ही उन्हें समाधान-समन्वय से पूर्णाङ्ग बनाने का यत्न करना होता है। इस प्रयास में जड़-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान दोनों को ही श्रेयोलाभ है। भूत-विज्ञान के तथ्य और तत्त्व अध्रुव हैं; अथच उसकी गति अथवा पद्धति क्रमशः अग्रगा (आगे बढ़ने वाली) है। किन्तु उसका प्रयोग कहीं भद्र तो कहीं भीषण है। अध्यात्म-विज्ञान का लक्ष्य होगा—जो अध्रुव है उसको ध्रुव का सन्धान मिला देना; जो अग्रगा है, उसे ऋताध्वगा करना; जो कभी भयावह है, कभी 'कृपालु' है उसे सर्वतोभद्रभाव में प्राप्त करना। जप (जिस उदार अर्थ में यहाँ गृहीत है) अध्यात्म-विज्ञान के अन्तर्गत साधन है, इसमें सन्देह नहीं। तथापि, पूर्वोक्त विचार में, ध्वनि के सम्बन्ध में, प्राण-प्रयत्न और प्रवाह के सम्बन्ध में, एवं आनुषङ्गिक और पारिपार्श्विक आदि बहुत कुछ के सम्बन्ध में, जप को भूतविज्ञान के नियम मान कर चलना पड़ता है। माना कि जपकर्ता को 'लेबोरेटरी' (प्रयोगशाला) के यन्त्रादि के सहयोग से परीक्षा में साक्षात् रूप से प्रवृत्त होना नहीं पड़ता (जैसे स्वरशिल्पी या वर्णशिल्पी को नहीं होना पड़ता), किन्तु उसे परीक्षालब्ध तथ्य और तत्त्वों के ऊपर निर्भर करना होता है। अवश्य ही अध्यात्मसाधना में आत्मा की गम्भीर भूमि से उत्थित शक्ति-प्रवाह की मुख्यता है। माना कि 'बाहर' का जो कुछ है वह 'बाह्य' है, किन्तु त्याज्य नहीं है, अग्राह्य भी नहीं है। जीव की सत्ता के सभी स्तरों में ही एक 'मन्थन' आवश्यक है।

वेद में हम देखते हैं कि सृष्टि शब्दपूर्विका है—जगत् शब्द-प्रभव है। यह शब्द कौन सा शब्द है? हम कान से जो शब्द सुना करते हैं, क्या वही शब्द

एवं मस्तिष्क के अनुभूति-केन्द्र गुच्छ-विशेष को वह यदि अपेक्षानुसार धक्का न दे सके तो हमें शब्दज्ञान नहीं होता। यह भी परीक्षा द्वारा प्रतिपन्न हो चुका है। और इन सभी उपादान और निमित्तों के अतिरिक्त और भी एक वस्तु की अपेक्षा है, - वह है न्यूनाधिक मनःसंयोग। एक बजे की तोप के साथ जिस दिन हमें घड़ी मिलानी हो उस दिन हमें उद्ग्रीव रहना होता है। यह है इच्छाकृत मनःसंयोग। अन्धकार में कुटीर के गवाक्ष में बैठ कर श्रावण की वर्षा के सुरों की मूर्च्छना और लय सुन रहा हूँ एवं प्रथा के अनुसार 'वातायनिक' की बात ही सोच रहा हूँ; ऐसे समय चपला घनीभूत अन्धकार-राशि को 'शकलानि' (खण्ड-खण्ड) बनाते हुए चमकी, एवं थोड़ी देर बाद ही गुरु-गम्भीर मेघमल्हार का एक छन्द विपुल उच्छ्वास के साथ उतर कर वर्षा के सब कोमल सुरों को भग्न कर गया। सब भावनाओं के बीच में से जाग कर मुझे यह शब्द सुनना ही पड़ा है। यह हुआ अनिच्छाकृत मनःसंयोग। यहाँ धक्का इतना प्रबल है कि मुझे सुनना ही पड़ता है। किन्तु ताक कर देखता हूँ कि इस अमावस्या में 'घोर बादल' में मेरी कुटीर में आज जो अतिथि है, उसका नासा-गर्जन पूर्ववत् ही चल रहा है। धक्का उसको जगा नहीं सका। उसका मनःसंयोग नहीं हुआ। अतएव केवल बाहर के वायु का स्पन्दन ही यथेष्ट नहीं है। और भी अनेक उपादान और निमित्तों की अपेक्षा है।

एक धातु पात्र में ठोकर मारी; झन-झन कर उठा। किन्तु क्रमशः शब्द मृदु से मृदुतर होता चलता है। शेष काल में फिर हम कुछ भी नहीं सुन पाते है। किन्तु धातुपात्र की कणिकायें तब भी प्रहार की वेदना नहीं भूल पाई हैं, वे उस समय भी काँप रही हैं। किन्तु काँपने से क्या होता है? वह कम्पन इतना मृदु है कि उससे उत्पन्न वायु का कम्पन हमारी अनुभूतियों को नहीं जगा पाता। कम्पन-वेग की एक निम्न संख्या है जिसके नीचे पहुँच जाने पर साधारणतः हम फिर कुछ नहीं सुन पाते। किन्तु सुन न पाने से कम्पन या स्पन्दन भी थम गया है, ऐसा नहीं। किसी एक स्पन्दन का वेग जब पूर्वोक्त अधःसीमा (lower limit) को पार कर जाए तब साधारणतः हमारे सुनने की सम्भावना होती है। इसके अतिरिक्त कान और मस्तिष्क में भी नियमानुकूल उत्तेजना होनी चाहिए एवं न्यूनाधिक मनःसंयोग चाहिए, यह बात पहले कह चुके हैं। या सीधी भाषा में यों कहें कि एक क्षण में कम से कम कुछेक बार वायु-कणिकाओं का स्पन्दन नहीं होने पर हम सुनते नहीं हैं।

है—इस समस्या के समाधान का भी प्रयास हम आपाततः नहीं करेंगे। ऐसा लगता है कि इस समस्या का सन्तोषजनक कोई समाधान है भी नहीं। सृष्टि और लय की बात छोड़ देने पर प्राथमिक स्पन्द को केवल स्पन्द ही कहना होगा। आपाततः यह कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी एक प्रकार की जागतिक सुषुप्ति के बाद यह जागतिक जागरण है; किसी एक महामौन के पश्चात् यह विश्व-कलरव है; किसी एकरूप साम्यावस्था के बाद इस विचित्र वैषम्य का उन्मेष है। सीधे-सादे रूप से समझने जाएं तो भी हमारे सब प्रकार के ज्ञान (experience) के मूल में जो व्यापार है, उसे हम स्पन्द कह सकते हैं और मान सकते हैं। हमारे रूपज्ञान, शब्दज्ञान, रसज्ञान प्रभृति सकल-ज्ञान-व्यापार के मूल की बात स्पन्द (चाञ्चल्य - stressing) है। 'ईथर' में किसी स्थान में एक चाञ्चल्य उत्पन्न हुआ; उसने तरङ्ग की भाँति चारों ओर फैलकर हमारे चक्षु और मस्तिष्क को चञ्चल कर दिया; इस चाञ्चल्य (stress) का हमारी चेतना में जो प्रकाश अथवा अभिव्यक्ति (resultant manifestation) होती है, वही तो हमारा वस्तु का रूप-ज्ञान है। आलोक, ताप, शब्द प्रभृति सभी प्रकार की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में यह विवरण लागू होता है। किसी एक द्रव्य के अणु-अणु अस्थिर होकर काँप रहे हैं, 'ईथर' अथवा तज्जातीय किसी एक अतीन्द्रिय, सूक्ष्म वाहन (medium) ने उस कम्पन को वहन करके ला कर हमारे स्नायुओं को उत्तेजित कर दिया; इस उत्तेजना की चेतना में जो प्रतिक्रिया (response) है, वही तो हमारा ताप का अनुभव है। *'बाग-बाजार' का रसगुल्ला मैंने मुख में डाल दिया, इसके साथ मुखामृत का संयोग हुआ। इस रासायनिक क्रिया को देखने पर इसमें शक्ति का आदान-प्रदान मिलता है, और गहराई में जाकर देखने से वह स्पन्द का ही व्यापार है। रसना की स्नायुएँ उस शक्ति की क्रीड़ा में चञ्चल हुई हैं। चेतना में इसकी जो छाप है, वही मेरा रसगुल्ले का रसास्वाद है। वाहन 'ईथर' हो, या वायु हो, अथवा अन्य जो कुछ भी हो, इसे लेकर कलह करने से कोई लाभ नहीं। सब प्रकार की अनुभूति की उत्पत्ति चाञ्चल्य (stir, agitation) में ही है, इस पक्ष में हमारा सन्देह न करना भी चल सकता है।

अनुभूति वा प्रत्यय की ओर से देखने पर जो सिद्धान्त स्थिर होता है, अर्थ वा विषय की ओर से भी वही सिद्धान्त हम पाते हैं। कैसे जानते हैं?

---

* कलकत्ता का एक मुहल्ला। —अनुवादिका।

प्राय: दो लाख मील। यही है उनका बाहर का व्यापार। पर इलॅक्ट्रॉन के भीतर कैसा है? उसके भीतर की बात समझने के लिये कुछ दिन पहले तक भी विज्ञान ने साहस नहीं किया था; तडिन्-अणु में ब्रह्म की 'अणोरणीयान्' मूर्ति का जो परिचय हमें मिला, उससे हमारी कल्पनाशक्ति मुग्ध-स्तम्भित हो गई थी; और भी सूक्ष्म, और भी छोटा सोचने की अवस्था तब भी हमारी नहीं हुई थी। किन्तु सचमुच ही इलॅक्ट्रॉन को अणुत्व की पराकाष्ठा (absolute limit) मानना चल सकता है क्या? ऊर्मिविज्ञान (wave mechanics) ने इलॅक्ट्रॉन की भी हृल्लेखा (inner pattern) देखने का प्रयास किया है। इलॅक्ट्रॉन भी तो सावयव द्रव्य है एवं उसका एक माप भी है; सुतरां उसकी अपेक्षा भी छोटा अंश होना ही संभव है। उसकी भी कोई एक प्रकार की 'कला' एवं वर्ण (partial and element) होने ही चाहिएं; यदि है तो वे भी क्या अस्थिर, चंचल नहीं है? एक-एक 'इलॅक्ट्रॉन' को 'ईथर' का एक-एक आवर्त्त समझ लें क्या? यदि वैसा ही हो तो 'ईथर' के वे सूक्ष्मतम अवयव (ether elements) भी तो चञ्चल होकर घूम रहे हैं। पुनश्च, 'ईथर' क्या है एवं उसके सूक्ष्म अवयव क्या हैं, इस समस्या में गणित के पराभव स्वीकार न करने पर भी हमारी कल्पना भय से निरस्त होकर लौट आती है। अथवा 'अवास्तव ईथर' को छोड़कर यदि विज्ञान के नूतन ढाँचों (आपेक्षिकतावाद इत्यादि) पर विचार कर तो नापजोख का अनावश्यक जंजाल काफ़ी परिमाण भले ही दूर हो जाय, किन्तु उससे जगत् का कोई एक सरल 'चित्र' अवश्य ही नहीं मिलता। ऐसा क्यों न समझें कि 'संभाव्यता-ऊर्मि-गुच्छ' के द्वारा समझना चाहें तो नापजोख की दिशा में चाहे जितनी सुविधा हो जाय, किन्तु कल्पना की दिशा में कुछ सरलता हुई क्या? अवश्य ही, जगत् की जो हृल्लेखा (मूल ढांचा) है, उसे कोई कल्पनायोग्य चित्र होना चाहिए,—इस धारणा को विज्ञान ने प्रायः छोड़ ही दिया है। अणु के क्षेत्र में भी और विपुल के क्षेत्र में भी। इस विज्ञान का पागलपन है कि सब कुछ हिसाब के अनुसार रहे, हिसाब दुरुस्त रखना होगा। किन्तु इस साध में भी कमी है—मूल में हिसाब को लाँघ कर आना पड़ता है—मानना होता है अनिश्चित सम्भावना-मात्र को।

गणित की कल्पना वस्तु-तन्त्रता के नाग-पाश में बद्ध नहीं है; गणित ने 'ईथर' को काट कर टुकड़ा-टुकड़ा कर के जिन सूक्ष्मतर अवयवों (elements) को तैयार कर लिया है, एवं जिनके साहाय्य से जगत् के चल-फिर व्यापार को

एक व्याख्या देने का प्रयास हो रहा था उन्हें गणित की परिभाषा (mathematical concepts) के भीतर ही आबद्ध कर के रखेंगे, अथवा वास्तव समझेंगे इस सम्बन्ध में आपाततः वितण्डा करने से लाभ नहीं है। सीधे ढंग से कहें तो सूक्ष्म में खोज करने पर हम अन्त तक वही घूम-फिर, हिल-डोल ही पाते हैं। सूक्ष्म की ओर से भी देखने पर मिला स्पन्द, चाञ्चल्य। जगत् में इतना छोटा कुछ नहीं है, जिसके भीतर और बाहर भाग-दौड़ न हो। जो चलता है वह जगत् है; अणु भी चलता है, सुतरां अणु भी जगत् है, इलैक्ट्रान भी चलता है, सुतरां वह भी जगत् है, व्योमांश (ether elements) भी चलते हैं। अतः वे भी जगत् हैं। अतएव ब्रह्माण्ड के मूल की बात और मर्म की बात यही चलने-फिरने का व्यापार है। इसी चल-फिर का नाम दिया है स्पन्द — इसे सञ्चलन (translation) ही कहो या आवर्तन (rotation) ही कहो, अथवा इन का विविध सम्मिश्रण ही कहो, छोटे की ओर से जो बात मिली, बड़े की ओर से भी वही बात मिलती है। हमारी वसुन्धरा चञ्चला है, हमारे सविता चञ्चल हैं, हमारा ध्रुवलोक भी चञ्चल है। कोई अधिक है, कोई कम है। विश्व वोवण्णु है। जिसे स्थिर समझते हैं वह केवल स्थूल रूप से देखने पर स्थिर है, वस्तुतः नहीं। किसी स्थान पर विश्रान्ति ऐकान्तिक नहीं है, कहीं भी निरतिशय भाव से सुस्थिरता (absolute rest) नहीं है, ब्रह्म की जो **'महतो महीयान्'** मूर्ति है, वह भी तो महानटराज की मूर्ति है, शान्त-समाहित मूर्ति नहीं है। जगत् के संहार का भार जिस देवता के ऊपर है, उन्हें भाँग के नशे में ताण्डव नृत्य करने का पागलपन है ऐसा सुना है; किन्तु जो देवता आधारकमल पर बैठ कर शब्दब्रह्म के रूप मे इस निखिल सृष्टि को वेद और वेद्य दोनों को ही — **'निःश्वसित'** कर रहे हैं, उनका **'ज्ञानमयं तपः'** सुन कर हम समझे थे कि विश्वात्मा की समाधि का शान्त, मग्न भाव ही इस सृष्टि के आरम्भ की बात है; किन्तु अब देखते हैं—वह तो बाहर को समेट कर भीतर में आत्मस्थ करने की समाधि नहीं है. वह तो भीतर से बाहर अपने को बिखेर देने का विपुल प्रयास है, विराट् आयोजन है, वह एक का बहु होने के लिये गम्भीर प्रसव-चाञ्चल्य है। इसीलिये सृष्टि-कर्ता का अक्षसूत्र, कमण्डलु प्रभृति तपस्या का इतना आयोजन देख कर सृष्टि के आरम्भ की बात कहीं हम भूल न जाएं। और जो देवता यह 'अजब कारखाना' बनाये रखने का भार लिए हुए हैं, उनके हाथ में नियत चलिष्णु चक्र की ओर देखने पर फिर हमारी भूल नहीं होगी कि किस प्रकार और किसके जोर से यह इतना बड़ा कारखाना चल रहा है। इसीलिए हम

कह रहे थे कि चलना ही जगत् के आरम्भ में है, चलना ही जगत् के मध्य में है एवं चलना ही जगत् के शेष में है।

जगत् का सब कुछ चलता है, किन्तु अचल क्या कुछ भी नहीं है? अचल के साथ मिलाये बिना क्या सचल को सचल समझा जा सकता है? चल रहा हूँ यह समझने और मन में लाने के लिए कोई एक अचलायतन हमें ठीक कर लेना पड़ता है। सकल सचल को अपनी छाती पर रख कर जो स्वयं अचल हो एसी कोई भूमि वा आयतन (absolute frame of reference) है क्या? यदि है तो वह क्या है? वेद जिसे 'अक्षर परम' कहते हैं क्या वही है? अथवा अन्य कुछ है? इन प्रश्नों का भी आपाततः उत्तर देने की चेष्टा नहीं करूँगा। हाँ, एक बात कह रखना अच्छा है, कि श्रुति वा आर्ष-विज्ञान ने इस विपुल-चञ्चलजगत् को एक शाश्वत सुस्थिर भूमि में प्रतिष्ठित कर के रखा है; सुतरां इस हिसाब से हमारी अनुभूति की अचल (quiescent), सचल (stressing) ये दो दिशा हैं। इन दोनों दिशाओं को समेट कर ही तत्त्व (fact) रहता है; एक दिशा छोड़ कर दूसरी दिशा लेने पर तत्त्व का भग्नांश मात्र (fact-section) हम पाते हैं। अभी इस बात को यहीं तक कहेंगे। अपि च, स्पन्द से केवल जड़ की हलचल ही नहीं समझनी चाहिए। जड़ का अर्थ यहाँ इन्द्रियग्राह्य मूर्त द्रव्य (matter) ही है। ग्रह-नक्षत्र दौड़ रहे हैं, 'ईथर' अथवा आकाश में अणु, 'इलैक्ट्रॉन' दौड़ते हैं यह पूरी हल-चल (motion) जड़ की है। किन्तु बाग-बाजार का रसगुल्ला खाने के पश्चात् मन में एक घूंट जल पीने की इच्छा होती है, मन एक अवस्था से दूसरी एक अवस्था में परिणत होता है; मन की जो इस प्रकार परिणति (becoming) है, वह तो उस प्रकार का तथ्य नहीं है, जैसा कि रसगुल्ले का हाथ से मुख-विवर में पहुँच जाना है। मन एक देश से दूसरे देश में सचमुच जाता नहीं है; यह ठीक दैशिक अथवा स्थानिक परिवर्तन (change of configuration) नहीं है। बालक का मन (पाठ्य-पुस्तक के) द्वितीय भाग के 'ऐक्य-वाक्य-माणिक्य' को छोड़ कर सड़क पर जो लट्टू घूम रहा है या आकाश में जो पतंग उड़ रही है उसकी ओर गया; किन्तु यह जाना गुरुमहाशय के वेत्रदण्ड के निकट बैठ कर ही हो रहा है। जड़ द्रव्य के समान मन का भी सञ्चलन होता है या नहीं, इस बात की यहाँ आलोचना करने से लाभ नहीं है। भाव का बहिःसंचार (thought transference) यथार्थ हो भी सकता है, किन्तु यहाँ हम जिस पार्थक्य की बात कहते हैं, उसे स्मरण रखना अच्छा है।

जड़ का अर्थ यदि दृश्य अथवा पदार्थ मात्र ही हो तो स्पन्द या चाञ्चल्य जड़ का ही धर्म है, चैतन्य का नही, यह बात कही जा सकती है; किन्तु जड़ का अर्थ यदि इन्द्रिय-ग्राह्य जड़-द्रव्य हो तो स्पन्द शब्द को मात्र जड़ से ही आबद्ध कर के रखना नहीं बनेगा। जगत् के मूल की बात जो स्पन्द है वह मात्र जड़ का ही स्पन्द नहीं है। जगत् के मूल में एक विराट् नीहार समूद्र (nebulae) की कणिकाएँ काँप रही थीं, दौड़ रहीं थी, उन्हें छोड़ कर और कुछ भी नहीं था केवल इतना ही हम नही कहते है। हम उस प्रकार के जड़वादी होने को वाध्य नहीं है।

यह स्पन्द, चाञ्चल्य अथवा विक्षोभ ही शब्द है, जिस शब्द से जगत् चला है। हम सचराचर जिसे शब्द कहते हैं, वह इस मौलिक और विश्वप्रसू वाक् की ही एक प्रकार की विशिष्ट अभिव्यक्ति (one stream of effectual manifestation) है। इस प्रकार विशिष्ट अभिव्यक्ति होने के लिये जिन सब उपादान और निमित्तों की अपेक्षा रहती है, उन्हें हम पहले कह चुके हैं। मौलिक-स्पन्दात्मक शब्द को नाम दे दिया जाय परशब्द, और जो शब्द हम या हमारी तरह इन्द्रियविशिष्ट जीव कान से सुनते हैं, उसको नाम दिया जाय अपरशब्द, अथवा केवल शब्द। परशब्द हेतुभूत है, अपरशब्द कार्यभूत है। परशब्द वा चाञ्चल्य हो रहा है, इसीलिये हम शब्द सुनते हैं। ट्राम की घण्टी के रेणु काँपते हैं, वायु को कँपाते हैं, एवं हमारी स्नायुमण्डली को कँपाते हैं, इसीलिये हम घण्टाध्वनि सुनते हैं। अपरशब्द अभिव्यक्त शब्द है। कितने ही सहकारी कारण और अवस्थाओं का योगायोग होने से परशब्द, अपरशब्द के रूप में अभिव्यक्त होगा, अन्यथा नहीं होगा। किन्तु उस रूप में अभिव्यक्त हो अथवा न हो, परशब्द का परशब्दत्व उससे व्याहत नहीं होता। हिमालय के किसी जनसम्पर्कशून्य स्थान पर एक जलप्रपात ने शिला के ऊपर टूट कर, गिर कर ध्वनि-प्रतिध्वनि द्वारा पर्वतमाला को भले ही चिरसजग बना रखा है, इस क्षेत्र में जलकणिकाओं के कम्पन, वायु के कम्पन प्रभृति से सचलता का, स्पन्दन का आयोजन खूब ही प्रचुर है, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु सुननेवाला कान यदि उस स्थान पर न रहे तब वह विपुल चाञ्चल्य भैरवगर्जन रूप में अपने को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। यहाँ परशब्द तो है, किन्तु अपरशब्द वा श्राव्य शब्द नहीं है। वायु, श्रवणेन्द्रिय, मनःसंयोग प्रभृति निमित्त अथवा सहकारी कारण न पाने पर परशब्द केवल ——ल्य-रूप में ही रह जाता है, श्रवण-ग्राह्य शब्दरूप में उपस्थित नहीं

होता। चन्द्रमण्डल में, कहते हैं, वायु नहीं है। अग्न्युत्पात में चन्द्रमण्डल का कोई अंश भीषण रूप में फट गया; हमारी पृथ्वी का अथवा मङ्गल-ग्रह का कोई वैज्ञानिक कान खड़ा करके बैठा है, किन्तु कुछ भी सुन नहीं पाया। क्योंकि शब्द इतना अभिजात व्यक्ति है कि वाहन के विना एक पग नहीं चलता; इस क्षेत्र में वाहन का अर्थात् वायु का अभाव है। इस दृष्टान्त में भी परशब्द तो है, किन्तु अपरशब्द नहीं है। अतएव अपरशब्द और परशब्द इन दोनों को हम मिला न दें। अपरशब्द अथवा ध्वनि जहाँ है, वहाँ परशब्द वा चाञ्चल्य मूल में रहेगा ही, किन्तु परशब्द रहने से ही हम या दूसरा कोई व्यक्ति ध्वनि सुन सकेगा, ऐसी कोई नियत व्यवस्था नहीं है। जहाँ सुन सकते हैं वहाँ सहकारी कारण विद्यमान हैं, जहाँ नहीं सुन सकते वहाँ स्पन्द भले ही हो, किन्तु सहकारी कारण रीतिमत (बाक़ायदा) नहीं हैं।

सहकारी कारणों के केवल रहने से ही काम नहीं चलेगा, उन्हें रीतिमत रहना चाहिये। कारण व हेतु-समूह का रीतिमत भाव से रहने का नाम ही हमारी देशी परिभाषा में योग्यता है। इसीलिये हेतु या निमित्त के रीतिमत भाव से न रहने पर स्पन्द वा चाञ्चल्य श्रवणयोग्य नहीं बनता। जो परशब्द श्रवणयोग्य नहीं है, उसे अश्राव्यशब्द कह डालने का लोभ अभी-अभी हुआ था, किन्तु यह नीरस कठिन बातें चला कर पहले ही आप लोगों की सहिष्णुता की सीमा की परीक्षा करना पड़ रहा है, उस पर भी यदि ये बातें फिर अश्राव्य हों तो शायद आप लोग कान में उँगली देकर उठ जायेंगे। सुतरां शब्द के श्राव्य और अश्राव्य इस द्वैविध्य को छोड़कर, परशब्द और अपरशब्द इस प्रकार का द्वैविध्य लेकर ही मुझे सन्तुष्ट होना पड़ रहा है। पहले ही कह चुका हूँ, स्पन्द अथवा चाञ्चल्य चाहे जैसा (अव्यवस्थित) हो, किसी प्रकार भी तो हमारे कान में वह शब्द-रूप से पकड़ में नहीं आता। अणु-परमाणुओं का सञ्चलन हम नहीं सुनते हैं। चीनी का ढेला जल में फेंक दिया। वह जल में घुल रहा है। शर्करा-कण का जल में बिखर जाना हम नहीं सुन पाते, यद्यपि उस शर्करा-मिश्रित जल का दूसरी एक वाचाल और सरस इन्द्रिय से सम्पर्क होने पर हमारी केवल पिपासा मिटती हो ऐसा नहीं, प्राण भी मधुर हो जाता है। अणु के बीच इलेक्ट्रॉन का एक चञ्चल जगत् है; किन्तु हमारे पास उस जगत् की भाषा नहीं है। जीव के जीवनकोष (cell) के बीच जैव पदार्थ ('प्रोटोप्लाज्म') चक्कर काट रहे हैं (rotation of protoplasm); निदाघ काल के मध्याह्न में वनस्थली जब नीरव हो

जाती है, उस समय वृक्ष-समूह के पत्ते-पत्ते तक में जैवपदार्थ का नृत्यशब्द एक महामुखरता की रचना कर देता, यदि उस शब्द को सुनने लायक कान हमारे रहते। बहुत दिन पहले से अध्यापक हक्सले (Huxley) ने हमें उस विपुल जीवन-संगीत को सुनने का निमन्त्रण दे रखा है। आपाततः उस निमन्त्रण की रक्षा करना हमारे लिये साध्य नहीं है। अभ्युदयवाद (evolution theory) की कृपा से हमारे कानों का दैर्घ्य बढ़ जाने पर कोई बड़ी सुविधा नहीं होगी; हाँ, श्रवणशक्ति का विस्तार यदि बढ़ जाय, तब शायद हम एक दिन आचार्य महाशय के निमन्त्रण की रक्षा करने सवान्बव जायेंगे। मैक्सवेल (Maxwell) के भूत ने तापविज्ञान के समीकरण का एक बहुत ही कठिन गणित बैठा डाला है, एवं चंचल जगत् के अणुओं को लेकर दो कमरों में अपने हिसाब के अनुसार वह बाँट रहा है। हमारे सतर्क दृष्टिवाले आचार्य रामेन्द्रसुन्दर ने जीवित रहते उस वैज्ञानिक भूत के साथ हमारी मुलाकात करा दी थी। विश्वास है कि जिस दिन वैजयन्तधाम से रथ उतर कर हमारे रामेन्द्रसुन्दर को विश्वोत्तीर्ण पदवी में, सत्यलोक में वहन करके ले गया, उस दिन उनकी आत्मा ने अव्याहत, अनाविल दृष्टि से उस भूत के हिसाब का खाता अच्छी तरह देख लिया होगा; केवल इतना ही नहीं, किन्तु उसके क्षेत्रान्तर्गत चंचल जगत् को वाङ्मय या शब्दमय जगत् के रूप में भी पहचान लिया होगा। हमारे लिये अणु का जगत् अब तक केवल चंचल जगत् ही है—उसकी भाषा नहीं है।

संयम-प्रक्रिया (अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि) द्वारा सूक्ष्मादपि सूक्ष्म शब्द सुन सकता है। अर्थात् अणु परमाणु, 'इलेक्ट्रॉन' समूह की चंचल चरणों से दौड़-धूप, उसके लिये भाषा-हीन या नीरव नहीं भी हो सकती। इसीलिए श्रवण-सामर्थ्य (capacity of hearing) आपेक्षिक (relative), तारतम्य-विशिष्ट (variable) एवं अवस्थाधीन ((conditional) होता है। यह योग्यता देश, काल, पात्र की अपेक्षा करती है। तुम-मैं सचराचर जिस शब्द को सुनते हैं, उसे स्थूल शब्द कहा जा सकता है। यन्त्र की सहायता से जो शब्द सुना जाता है अथवा योगी जो शब्द सुन पाते हैं, उसे सूक्ष्म (subtle) शब्द कहा जा सकता है। किन्तु सभी यन्त्र एक समान नहीं हैं, सभी योगियों का अनुभव-सामर्थ्य तुल्य-मूल्य नहीं है, सुतरां सूक्ष्म शब्द के भी नाना स्तर (gradations) अवश्य ही होंगे। वैज्ञानिक अथवा योगी भी शब्द को ठीक रूप में अथवा पूर्ण रूप में (perfectly and unconditionally) सुन नहीं पाते हैं, कारण, उनका भी श्रवण-सामर्थ्य आपेक्षिक और अवस्थाधीन है। अतः प्रश्न उठता है—क्या किसी अवस्था में शब्द का ठीक रूप से, निरतिशय रूप से श्रवण होता है? ऐसा कोई श्रवण-सामर्थ्य है क्या जो सम्पूर्ण और निरतिशय (perfect and absolute) हो! सचमुच ही है कि नहीं कौन जानेगा? हाँ, गणित के प्रमुख अधिकारी (president) को पकड़ कर यह मान लिया जाय कि ऐसा कोई अनुभव-सामर्थ्य है—ऐसी कोई ज्ञानभूमि है, जहां किसी उपादान या निमित्त की अपेक्षा किये बिना ही आत्मा स्पन्दमात्र को शब्द के रूप में यथायथ ग्रहण कर सकता है। हवा या 'ईथर' रहे अथवा न रहे, वस्तु का चाञ्चल्य वा स्पन्द यदि किसी चैतन्य में यथायथ अथवा निरतिशय भाव से शब्द के रूप में अभिव्यक्त हो तो श्रवण-शक्ति की जो पराकाष्ठा हम खोज रहे थे वही यहाँ मिल जायेगी। इस प्रकार का जो श्रवण-सामर्थ्य है उसे absolute ear वा निरतिशय श्रवण-सामर्थ्य कहा जा सकता है। इस पारिभाषिक शब्द का यदि हम आक्षरिक अनुवाद करें तब शायद हास्यास्पद होगा। निरपेक्ष कर्ण अथवा निरतिशय कर्ण ऐसी कोई अद्भुत बात सुन कर हम लोगों में से कोई भी सहिष्णु नहीं रह सकेगा। किन्तु परिभाषा जो कुछ भी हो, यह बात हँस कर उड़ा देने लायक नहीं है।

हम लोग कर्ण कहने से साधारणतः जो समझते हैं यह उस प्रकार का कर्ण नहीं हो सकता। हमने देखा है कि शब्दानुभव-सामर्थ्य कम-बेशी हुआ करता

इस प्रकार के कर्ण (absolute ear) को क्या पारमार्थिक कर्ण कहेंगे? नाम जो भी दिया जाय, स्मरण रखना होगा कि यह निरतिशय श्रवण-सामर्थ्य है। सुनने के लिए इस कर्ण को केवल एक हेतु की अपेक्षा रहती है—और वह है—स्पन्द या चाञ्चल्य। चाञ्चल्य या उत्तेजना के रहते ही यह कर्ण सुन सकेगा, एवं इस प्रकार कि उस सुनने को अपेक्षा शुद्ध और अविक सुनना और कुछ नहीं हो सकता।

इस पारमार्थिक कर्ण द्वारा जिस शब्द का अनुभव होता है, उसे इस प्रसंग में शब्द-तन्मात्र कहते हैं। दर्शनशास्त्र के व्यवसायी लोग इस व्याख्या के याथार्थ्य का विचार करेंगे। पारमार्थिक कर्ण द्वारा हम शब्द की विशुद्ध और निरतिशय मूर्ति (sound as it is) ग्रहण कर सकते हैं। यह मानो शब्द की प्रकृति है; और तुम, मैं, यहाँ तक कि वैज्ञानिक और योगी भी जो शब्द सुनते हैं, वह न्यूनाधिक शब्द की विकृति है—इस शब्द में कमी-बेशी होती है, भूल-भ्रान्ति होती है, किसी ने अधिक सुना, किसी ने कम; मैंने जिस रूप से सुना, तुमने उस रूप से नहीं सुना; मैंने गलत सुना, तुमने कुछ-कुछ ठीक सुना; मैं जहाँ बिलकुल नहीं सुन सका हूँ, तुमने वहाँ कुछ सुना है, इसीलिये यह शब्द की विकृति है। तभी हमारे लक्षणानुसार शब्दतन्मात्र शब्द की प्रकृति ठहरा—शब्द की प्रकृति, प्रसूति नहीं। अर्थात् शब्दतन्मात्र एवं परशब्द एक वस्तु नहीं है। परशब्द कारणीभूत (causal) चाञ्चल्य (stress) मात्र है—जिस चाञ्चल्य के कारण शब्दज्ञान होता है, वही मात्र है, वह स्वयं श्रुतशब्द (sound) नहीं है। यह शब्द की प्रसूति है। किन्तु शब्दतन्मात्र श्रुतशब्द है; हाँ, वह तुम्हारे मेरे कान में सुना गया शब्द नहीं है, पारमार्थिक कर्ण में सुना गया निरतिशय शब्द है। इसलिये शब्द-तन्मात्र भी अपरशब्द के भाग में ही पड़ता है। अवश्य ही अपरशब्द का सर्वोच्च स्तर वा पराकाष्ठा शब्दतन्मात्र में है। उसके नीचे नाना स्तरों का शब्द है। उन्हें स्थूल रूप से दो प्रकार का समझ सकते हैं। वैज्ञानिक यन्त्र की सहायता से अथवा ध्यान-धारणा द्वारा जो शब्द हम सुन पाते हैं, किन्तु जिन्हें सचराचर हम नहीं सुनते हैं, वे सूक्ष्म शब्द हैं, उनकी पराकाष्ठा शब्दतन्मात्र में है। और सचराचर कान में हम जो शब्द सुनते हैं (जैसे वंशी का शब्द, वृष्टि का शब्द, मेघ का गर्जन इत्यादि) वे स्थूल शब्द हैं। अतएव अपरशब्द अथवा श्रुतशब्द (sound) के स्थूल रूप से तीन विभाग मिले—प्रकृत प्रस्ताव में, किन्तु स्तर (gradations) गणनातीत हैं। जितने प्रकार के कान हैं उतने प्रकार के

श्रवण है, देश, काल, पात्र के बदलते ही सुनना भी बदल जाता है। तीन विभाग ये हैं—शब्दतन्मात्र (या शब्द की प्रकृति); सूक्ष्म शब्द (अतीन्द्रिय कहेंगे क्या ?); एवं हमारा आठ पहर (हर समय) सुना जाने वाला शब्द (normal sound)। इन तीन के अतिरिक्त एवं इन तीनों के मूल में जिस चाञ्चल्य का बीज है, जिसके न रहने पर कोई भी नहीं सुन सकता, यहाँ तक कि स्वयं प्रजापति भी नहीं सुन सकते; उसे हम आरम्भ से ही परशब्द कहते आ रहे हैं। तीन प्रकार के श्रुत शब्द के लिए तीन स्तर का कर्ण अथवा श्रवणसामर्थ्य आवश्यक है।

शब्दतन्मात्र के लिये पारमार्थिक कर्ण (absolute ear) है; सूक्ष्म शब्द के लिये दिव्य कर्ण (yogic ear) एवं स्थूल शब्द के लिये भौतिक कर्ण (normal ear) है। निष्कर्ष यह है कि शब्द की ओर से हिसाब लगाने पर हमारे जगत्-प्रत्यय की पाँच अवस्थाएँ हैं। अनुभव का यदि कोई तुरीय भाव हो, जहाँ बिल्कुल क्षोभ या चाञ्चल्य नहीं है, तो वह अशब्द की अवस्था है; कारण, चाञ्चल्य के न रहने पर शब्द नहीं रहता। उसके बाद चाञ्चल्य रहता है, किन्तु सुनने के लिये किसी प्रकार का कान नहीं है; यही परशब्द है। उसके बाद चाञ्चल्य रहता है एवं वह निरतिशय भाव से सुना जाता है, यही शब्दतन्मात्र है। उसके बाद, चाञ्चल्य को हमारा भौतिक कर्ण नहीं पकड़ पाता, किन्तु दिव्य कर्ण पकड़ लेता है; यही सूक्ष्म शब्द है। सबके अन्त में, चाञ्चल्य भौतिक कर्ण को भी उत्तेजित करके शब्दज्ञान उत्पन्न कराता है, यही स्थूल शब्द है।

एक बात, सभी प्रकार के शब्द के मूल में जो चाञ्चल्य (stress) रहता है, उसे 'शब्द' कहते ही क्यों हैं ? जब हम उसे सुनते हैं तभी वह शब्द है, जब नहीं सुनते तब वह शब्द की सम्भावना (possibility) मात्र है, शब्द नहीं है। ठीक है; किन्तु परशब्द को शब्द कहने के लिये एक कैफियत हमारे पास है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द—हमारी अनुभूति की ये पाँच धाराएँ हैं। ये पाँचों पुनः जिस उत्स से निर्गत होती हैं वह परशब्द अथवा चाञ्चल्य है। चाञ्चल्य आरम्भ में है यह तो समझ में आता है, किन्तु उसे रूप, रस प्रभृति आख्या न देकर शब्द आख्या क्यों देते हैं ? शब्द का ऐसा विशेषत्व क्या है जिस से उसे ही सबका model (आदर्श) बना कर बैठाना होगा। पर-शब्द वास्तव में शब्द (sound) नहीं है, यह पहले ही कह चुके हैं। इसलिये उसे शब्द कहने पर हमें अध्यास (impose) करना पड़ता है।

एक कारण के यदि अनेक कार्य हों तो उनमें से सबसे अधिक स्पष्ट कार्य को हम कारण के संकेत (symbol sign) के रूप में ग्रहण किया करते हैं। इस क्षेत्र में भी वही है। ह्रद की सुस्थिर जलराशि के पास खड़ा हो कर नीरवता का अनुभव करता हूँ; जल में चाञ्चल्य नहीं है तो शब्द क्यों होगा? और, पुरी के समुद्रतट पर खड़ा होकर विपुल सिन्धुगर्जन सुनता हूँ; सुनूँगा क्यों नहीं, लवणाम्बुराशि की धारानिबद्धा तरङ्गमाला वेलाभूमि पर नियमित रूप से पछाड़ खा कर गिर, उछल जो रही है। नीरवता सुस्थिरता का संकेत है; मुखरता चाञ्चल्य का संकेत है। जहाँ शान्ति है वहाँ मौन है, जहाँ क्षोभ, दौड़-भाग है, वहाँ कोलाहल है। साम्यावस्था, शान्ति को समझाने के लिये मौन जैसा स्पष्ट संकेत कहाँ मिलेगा? वैषम्य, अशान्ति, चाञ्चल्य को समझाने के लिये शब्द के समान स्पष्ट संकेत है क्या? जहाँ हम रूप देखते हैं, रसास्वाद करते हैं, गन्ध पाते हैं, वहाँ भी मूल में किसी न किसी प्रकार का चाञ्चल्य होता है, सन्देह नहीं, किन्तु वह चाञ्चल्य स्पष्ट नहीं है—परीक्षा से पकड़ा जा सकता है। हरिद्वार में चण्डी पर्वत पर बैठ कर हिमालय के तुषार-मण्डित कुछ-एक शिखर देख रहा हूँ, अथवा मसूरी के सेना-निवास-पर्वत पर बैठ कर सामने चिरतुषाराच्छन्न गिरिश्रेणी के कर्पूर-कुन्देन्दु-धवल विराट् शरीर को निषण्ण देख रहा हूँ। यह जो रूपज्ञान है, इसके मूल में भी 'ईथर' की तरंगों का अथवा ऐसा ही कुछ चंचल अभिसार अवश्य है। किन्तु मैं ताक कर देखता हूँ मानो एक विपुल भास्वर निसर्ग गौरव चित्रार्पित होकर विद्यमान है—कहीं पर भी कोई क्षोभ नहीं, चाञ्चल्य नहीं, सब शान्त समाहित है। किन्तु यह मेरी दृष्टि की स्वाभाविक कृपणता है, मेरी समझ की भूल है। इतना सूक्ष्म चाञ्चल्य मेरी पकड़ में नहीं आता। मन्दिर में पूजा पर बैठ कर देवता के चरण पर एक प्रस्फुटित पद्म मैंने निवेदित कर दिया है, उसका स्निग्ध सौरभ मेरे भाव को और भी गाढ़ बना रहा है। अवश्य ही गन्धवह (वायु) पद्म-पराग-रेणु को वहन करके ला कर मेरी नासिका की त्वक् में बिखेर न दे तो मुझे गन्ध नहीं मिल सकती; किन्तु गन्ध पाकर इतने आहरण, विकिरण और वितरण की बात कहाँ मेरे ध्यान में आती है? मैं मन में सोचता हूँ मानो पद्म-सन्निभ एक स्निग्ध शान्ति-प्रलेप की भाँति मेरे प्राण पर लगा हुआ है। यहाँ भी 'चाञ्चल्य अनुभव की पकड़ में नहीं आता, परीक्षा से पकड़ में आता है। इसलिये रूप, रस प्रभृति चाञ्चल्यहेतुक होने पर भी सब समय चाञ्चल्य के स्पष्ट प्रतीक नहीं हैं। किन्तु शब्द और चाञ्चल्य सिक्के के दो पृष्ठों की भाँति हैं। देखने पर सन्देह वा भ्रम हो भी सकता है

कि जिसे देख रहा हूँ, वह अस्थिर है या सुस्थिर, किन्तु पुकार सुनने पर फिर सन्देह नहीं रहता कि जो पुकार रहा है, वह अस्थिर है। इसीलिये शब्द चाञ्चल्य का खूब स्पष्ट और अव्यभिचारी संकेत है। कान में वायु-तरंग का धक्का बहुत कुछ धक्के जैसा ही लगता है, किन्तु आँख (retina) पर 'ईथर'-तरंग का धक्का प्रायः धक्के के रूप में हमारे अनुभव में नहीं आता।

शब्द की शक्ति भी अद्भुत है। अभिधा शक्ति, लक्षणा शक्ति, स्फोट प्रभृति को लेकर तार्किक लोग झगड़ा किया करें, हम आपाततः उस क्रिया में नहीं भिड़ेंगे। एक मसृण काँच के ऊपर सूक्ष्म धूलिरेणु-समूह पड़ा हुआ है। मैं पास बैठ कर बेला (वायलिन) पर एक गत बजा रहा हूँ। शब्दतरंगें धूलिरेणुओं को धीरे-धीरे सजा कर एक निर्दिष्ट आकार में आकारित कर देंगी। शब्द में अपने छन्द (harmony) के अनुरूप एक मूर्ति-सृष्टि करने की शक्ति होती है। अतएव शब्द केवल चाञ्चल्य का संकेत नहीं है; उसमें गढ़ने व तोड़ने की शक्ति है। जगत् में गढ़ने और तोड़ने का अर्थ है चाञ्चल्य। शब्द भी गढ़ और तोड़ सकता है, अतएव शब्द चाञ्चल्य का आत्मीय एवं प्रतिनिधि है। रूप या रस की सचमुच बाहर कुछ गढ़ने या तोड़ने की शक्ति का परिचय हमें विशेष कुछ नहीं मिलता। भीतर से रूप या रस की तोड़ने व गढ़ने की शक्ति को अस्वीकार करने का मेरा साहस नहीं है। शब्द स्पष्टतः शक्तिस्वरूप (dynamic) एवं स्रष्टा (creative) है। केवल धूलिकणों को लेकर नहीं, अन्यान्य उपाय से भी शब्द का यह स्वरूप और सामर्थ्य परीक्षित हो सकता है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के सन्धिकाल में आविष्कृत 'रेडियम' नामक द्रव्य नियमित रूप से ताप-विकिरण करता हुआ देखा जाता है। इस ताप का भाण्डार मानो अशेष है। हम जानते हैं कि ताप किसी भी वस्तु के अणुओं का अस्त-व्यस्त-भाव से स्पन्दनमात्र (irregular molecular quiver) है, जिस वस्तु के दाने इस प्रकार काँपते हैं वह वस्तु हमारी अनुभूति में गरम मालूम देती है। 'रेडियम' को इतना ताप कहाँ से मिलता है? व्याख्या शायद इस प्रकार है—रेडियम के अणु (atoms) फट रहे हैं; सभी एक साथ नहीं, बारी-बारी से—विज्ञान का अणु सावयव और परिमित द्रव्य है, ध्यान रखिएगा। अणु के टुकड़ों को दहराणु अथवा अवमाणु (sub-atoms) कहा जा सकता है। उन अवमाणुओं में से कुछ-एक रेडियम के भीतर से भीषण वेग में बाहर दौड़ कर आते हैं, कुछ-एक रेडियम के अन्यान्य अणुओं से धक्का (collision) खाकर उन्हें कँपा देते हैं :

अणुओं का इस प्रकार दोलन ही ताप-रूप में अभिव्यक्त होता है। कुछ-एक समिध सजा कर 'शिक्षा' नामक वेदाङ्ग के ठीक निर्देशानुसार 'अग्निमीले' प्रभृति वेदमन्त्रों का उच्चारण कर रहा हूँ। इस शब्द के मूल में जो स्पन्द (vibration) रहता है, वह जिस प्रकार वायु को कँपा कर तुम्हारा-हमारा शब्दज्ञान उत्पन्न करता है, उसी प्रकार समिध के दानों को भी धक्का देता है। वह धक्का इस प्रकार से छन्दोबद्ध है कि उस धक्के के फलस्वरूप समिध के सूक्ष्म दाने फट भी जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, अणु के भीतर इलॅक्ट्रॉन एक निर्दिष्ट वेग व रीति से घूम रहे हैं; उनके घूमने का एक छन्दस् (harmonic motion) है। हमारे उच्चारित मन्त्रों के छन्दस् (supe.-sonic शब्द-तरङ्ग के छन्दस्) इलक्ट्रॉन के गतिछन्दस् के अनुरूप अथवा अनुपाती होने पर उसके सहित संयुक्त (compounded) होकर उसे उपचित कर सकते हैं। दो वेला (वायलिन) यदि एक स्वर में बजाये जाएँ तो जैसे स्वर-द्वय का संयोग और उपचय होता है, उसी प्रकार। अब इलॅक्ट्रॉन का वेग यदि उपचय के फल से एक निर्दिष्ट सीमा (critical value) लाँघ जाय तो वे (इलॅक्ट्रॉन) कक्षच्युत होकर छिटक जायेंगे। उनके छिटक जाने पर ही अणु अंग फट जाता है; ग्रहों के कक्षच्युत हो कर छिटक जाने पर सौर जगत् की जो अवस्था होगी, उसी प्रकार। कक्ष-च्युत कुछ-एक इलॅक्ट्रॉन अवश्य ही प्रबल वेग से समिध के दानों को धक्का देंगे एवं उन्हें कँपाते रहेंगे। इस कम्पन की अभिव्यक्ति किसमें होती है? ताप में। पुनः-पुनः कुछ क्षण तक यह व्यापार चलने पर ताप क्रमशः उपचित होकर समिध को जला सकता है। इस क्षेत्र में मन्त्रशक्ति से समिध जल उठा। 'रेडियम' में अथवा अन्य दृष्टान्त में इस बात को नितान्त पागलपन कह कर उड़ाया नहीं जा सकता। समझ कर देखना होगा एवं परीक्षा करनी होगी। परीक्षणीय व्यापार में सुसंस्कार-कुसंस्कार की बात अवान्तर है – वहाँ विश्वासी और अविश्वासी दोनों को ही सावधान हो कर रास्ता टटोल कर चलना होता है। विज्ञान के परीक्षागार में अणु का 'केन्द्र' (nucleus) विदीर्ण कर के महाविपुल शक्ति को उन्मुक्त करने की जो नूतन पद्धति (टेकनीक) आविष्कृत हुई है, उससे एक क्षुद्रादपि क्षुद्र वस्तु के बीच केवल सामान्य अग्नि क्यों, प्रलयाग्निपर्यन्त के, कभी महात्रास रुद्र-रूप में और कभी सर्वतोभद्र विश्वशिल्पी के रूप में, आविर्भूत होने में बाधा नहीं है।

दहराणुओं को हिलाने का सामर्थ्य यदि शब्द में हो (होना असम्भव नहीं) तो उन्हें बिखेर कर, सजा कर शब्द अनेक अघटन-घटना कर सकता है।

हम ने पहले एक धूलिधूसरित काँच के सामने बेला (वायलिन) पर गत बजा के कर ली है। कम से कम इन सब परीक्षित क्षेत्रों में भी हम शब्द को स्रष्टा (creative) कह कर पहचान पा रहे हैं। सूक्ष्म पर्याय (super-sonic) के शब्दों (silent sound) के रासायनिक, जैविक इत्यादि नाना क्षेत्रों में अद्भुत गठन और भंग करने की क्षमता हम जान चुके हैं। रोग-निरामय से आरम्भ कर के अनेक कुछ अन्यथा-सिद्धि-शून्य अघटन-घटन भी इसके द्वारा सम्भावित हुआ है, अथवा हो सकता है। इसलिये मैं कह रहा था कि शब्द जगत् के मौलिक स्पन्द (causal stress) का बहुत ही उत्तम संकेत है। आदि-कारण के कार्य-प्रवाह-रूप में, ब्रह्म के जगत्-रूप में आविर्भूत होने का जो उपक्रम और अवस्था है उसे 'शब्दब्रह्म' कहना बहुत ही सुसंगत है। यह मानो एक विराट् सुषुप्ति के पश्चात् विराट् जागरण है, महामौन व्रत के भङ्ग के पश्चात् प्रथम आलापन है। इसका उपक्रम एक चाञ्चल्य में है—"मैं एक हूँ, मेरे एक रहने से काम नहीं चलेगा, बहुत होना होगा" इस प्रकार 'ईक्षण' में। मौन की अवस्था अशब्द की अवस्था है, उसके पश्चात् आदिम चाञ्चल्य की जो प्रथमा वाक् अथवा वाणीमूर्त्ति है, वही प्रणव है। इस बात का आगे परिष्कार होगा।

सृष्टि प्रजापति महाशय की शौक की यात्रा है। वे दल के अधिकारी हैं। उन्होंने जो एक दिन 'एते' यह शब्द किया, तभी तैंतीस करोड़ देवता यात्रा के दल में छोकरों की तरह सजधज कर पास में आकर अवतीर्ण हो गए। अतएव देव-सृष्टि शब्द-पूर्विका है – वेद की ऐसी व्याख्या करने के दिन अब नहीं रहे। शब्दब्रह्म का अर्थ यह नहीं कि कोई एक जना रह-रह कर एक-एक शब्द कर रहा है और एक-एक पदार्थ सृष्टि के रूप में सामने प्रस्तुत हो रहा है। यह स्थूल बात भीतर की सूक्ष्म बात का संकेत मात्र है। हम देख चुके हैं, शब्द का सृष्टि-सामर्थ्य असम्भव नहीं है। किन्तु प्रजापति जिस शब्द की सहायता से सृष्टि करते हैं, वह शब्द कौन सा है? वेद में, पुराण में देख सकते हैं कि प्रथमतः उन के ध्यान में वेदशब्द आविर्भूत हैं। वेदशब्द कहने से क्या समझें? ऐसा एक शब्द जिसके साथ एक निर्दिष्ट अर्थ का एवं एक निर्दिष्ट प्रत्यय का नित्य सम्बन्ध है। 'गौः' शब्द सुना, मन में नैयायिक महाशय के दिये हुए लक्षण और आकृति से युक्त एक जन्तु की छवि उदित हुई; ताक कर देखता हूँ ठीक एक गौ स्वच्छन्द मन से घास खा रही है। प्रथम शब्द है, द्वितीय प्रत्यय है एवं अन्तिम अर्थ वा

विषय है। तुम्हारे-हमारे अनुभव में इन तीनों का सम्बन्ध घनिष्ठ होने पर भी पूरा-पूरा नित्य नहीं है। 'गौः' शब्द का अर्थ यदि हमें विदित नहीं हो तो उसे सुन कर हम में किसी विशेष प्रत्यय अथवा चित्तवृत्ति का उदय नहीं होगा। अपिच 'गौः' इस शब्द का वाच्य अथवा अर्थ गाय नामक जन्तु ही होगा ऐसा कोई बँधा हुआ कानून नहीं है। हम पाँच आदमी आज से परस्पर परामर्श कर के केवल असाक्षात् में नहीं, साक्षात् में भी यदि परस्पर को गाय कह कर पुकारना आरम्भ करें तो हमें कौन रोक सकता है ?

जिन की भाषा भिन्न है, वे लोग गाय को गाय न कह कर और कुछ कहते हैं। हम भी चाहें तो गाय को गाय न कह कर और कुछ कह सकते हैं। इसलिये शब्द और अर्थ, वाचक और वाच्य के मध्य नियत सम्बन्ध कहाँ है ? शब्द सुन कर प्रत्यय अथवा चितवृत्ति भी सब के मन में एक ही प्रकार की होगी, ऐसा नहीं है। 'गौः' शब्द सुन कर हमारे मन में आई वह श्यामला गाय, जिस का दूध प्रसन्न ग्वालिन बेच कर ही मरती थी, कभी पीती नहीं थी। एव जिस का साक्ष्य देने के लिये स्वयं कमलाकान्त को कटघरे में खड़ा होना पड़ा था; तुम्हें शायद याद आयें कैलास के वे वृषराज, जो देवादि-देव के रजतगिरि-सम वपु को वहन कर के स्थावर-जंगम में सर्वत्र झूम-झूम कर घूम रहे हैं। प्रत्यय ठीक एकरूप नहीं हुआ। अतएव हमारा व्यवहृत कोई भी शब्द एक निर्दिष्ट प्रत्यय मन में जगा भी सकता है अथवा नहीं भी जगा सकता है; उसका एक चिरनिर्दिष्ट वाच्य अथवा अर्थ हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। शब्द, अर्थ और प्रत्यय के सम्बन्ध में हम आगे विशेष रूप से आलोचना करेंगे। अभी प्रश्न यह है—प्रजापति को ध्यान में जो वेदशब्द मिला, वह भी क्या ऐसा ही है ? उत्तर पाने के लिये कुछ बातें हमें स्पष्टतः मन में रखनी होंगी। प्रथम, प्रजापति अथवा ब्रह्मा के मन में सृष्टि करने की जो इच्छा या सिसृक्षा है वह शब्द बिल्कुल नहीं है, वह चाञ्चल्यात्मक, उन्मेषात्मक परशब्दमात्र है। हम बार-बार कह चुके हैं, यही सृष्टि के आरम्भ की बात और मर्म-कथा है। तत्पश्चात् ध्यान में वेदशब्दों का आविर्भाव है। ये शब्द-समूह शब्दतन्मात्र है।

प्रजापति ने ध्यान में जो शब्द सुना, वह वही निरतिशय शब्द है जिस की बात हम पहले कह चुके हैं। उन का कर्ण पारमार्थिक कर्ण (absolute ear) है। हमारी, यहाँ तक कि योगियों की भी ठीक उस शब्द को सुनने की सम्भावना नहीं है। मैं जिस शब्द को 'गौः' रूप में सुनता हूँ,

प्रजापति के कर्ण में उसके श्रवण का निश्चय ही अन्य रूप है। उनका जो श्रवण है, वही 'गौः' इस शब्द की प्रकृति है। हमारा-तुम्हारा श्रवण उस शब्द की अल्पविस्तर विकृतिमात्र है। योगी उस शुद्ध शब्द के आस-पास जाते हैं, किन्तु स्वयं प्रजापति की भूमि पर उठ न पाने पर उन लोगों को भी ठीक शुद्ध शब्द का श्रवण नहीं होता। प्रणव, ऐं, ह्रीं, क्रीं, प्रभृति शब्द हम जिस प्रकार से सुनते या कहते हैं वह उनकी प्रकृति नहीं है, विकृति है। जितना ही ऊपर के स्तर (plane) पर चढ़ेंगे उतना ही शब्द स्व-स्व प्रकृति के अनुरूप होते जायेंगे। एक वर्तिका से आलोकरश्मि विभिन्न स्तरों के वाहन (medium) में से हो कर मेरी आँख पर आ कर गिर रही है; मान लें, स्तर क्रमशः ही घने (dense) होते जा रहे हैं। इस अवस्था में रश्मि ठीक सरल भाव से हमारी आँख में नहीं पहुँचेगी, टेढ़ी-मेढ़ी हो कर छिन्न-भिन्न हो कर आएगी। यही रश्मि का विकार (refraction) है। शब्द के विषय में भी बहुत कुछ इसी प्रकार है। इस बात को हम अन्य प्रबन्ध में विशेष रूप से दिखाने का यत्न करेंगे। प्रजापति अपनी पारमार्थिक शक्ति के द्वारा जो शब्द उच्चारण करते और सुनते हैं, उनके एक मानसपुत्र अविकल उसी का न उच्चारण कर सकते हैं और न उसे सुन ही सकते हैं, उनका बोलना और सुनना थोड़ा सा बेठीक होता है; यदि समझा जाय तो वे प्रजापति से एक स्तर नीचे हैं। और उनके बाद जिन्होंने बोला और सुना उनमें और भी एक दोष सम्भावित हुआ। इस प्रकार गुरुपरम्परा से उतर कर वही आदिम शब्द-माला जब हमारी रसना और कर्ण में पहुँचती है, तब उसकी निरतिशयता अपगत हो चुकती है, स्वाभाविकता बहुत अंश में नष्ट हुई रहती है। अत एव ब्रह्मा के ध्यान में जो वेदशब्द प्रकाशित हुआ है, वह हमारे-तुम्हारे श्रुत और उच्चारित शब्दों के साथ हू-ब-हू मिल नहीं पाता। नाना कारणों से हमारे स्तर पर आते-आते शब्द का संकर और विकार हो चुकता है। इस बात की आलोचना भी आगे होगी। हाँ, गुरु-पारम्पर्य के होने से, साङ्कर्य (confusion) और विकृति (degeneration) जितनी हो सकती थी, उतनी नहीं हुई है। प्रत्येक गुरु ने प्रयास किया है कि उनके शिष्य को उनकी अपनी शब्द-सम्पदा अक्षुण्ण भाव से प्राप्त हो जाय, यह काण्ड ही वेद का प्रथम अङ्ग है—शिक्षा। शिष्य की शिक्षा की व्यवस्था में इसका स्थान प्रथम है। सर्वदा ही यथायथ भाव में शब्दधारा प्राप्त करने और आगे बहा देने के लिये गुरुशिष्य-परम्परा सचेष्ट थी और है।

यह चेष्टा न होती तो और भी विकृति और गड़बड़ होती। परिशिष्ट में, १ सं० के चित्र में 'क' 'ख' रेखा द्वारा यदि हम शब्द की प्रकृति (pure, normal transmission) समझाते हैं तो दूसरी दो 'क' 'ग' और 'क' 'घ' वक्र रेखाओं में से बीच वाली गुरुपरम्परा में शब्दसन्तति (transmission of sounds) बताती हैं, एवं बाहर की वक्ररेखा, गुरु-परम्परा नहीं होने पर जितनी विकृति हो सकती है, उसे समझाती है। समानान्तराल रेखाओं (horizontal lines) द्वारा विभिन्न स्तरों का अनुभव-सामर्थ्य दिखाया गया है।

केवल रमेशदत्त का वेद अथवा मैक्समूलर का वेद पढ़ कर नहीं, काशी जा कर रीति के अनुसार ब्रह्मचर्य पालन कर के वेदपारग आचार्य के निकट शिक्षा, कल्प प्रभृति अङ्ग के सहित जो वेदशब्द हम सुनते और पढ़ते हैं, वह वेदशब्द भी परिशुद्ध, अविकृत वेदशब्द नहीं है, हो भी नहीं सकता है। वेद-शब्द का विशुद्ध और निरतिशय रूप प्रजापति के ध्यान के बीच ही आविर्भूत हो सकता है; ऋषियों के दर्शन में शब्द का अथवा मन्त्र का जो रूप गृहीत होता है, वह भी प्रायः विशुद्ध (approximate) है; तुम्हारी-हमारी रसना में और कर्ण में वह बहुत कुछ विकृत है। इस विकृति के हेतु आगे आलोचित होंगे। अभी जो बात हम समझना चाहते हैं वह यही है। गङ्गा विष्णुपादोद्भवा हैं, सुतरां वैकुण्ठधाम में उनकी उत्पत्ति है। वैकुण्ठधाम भी गोलोकधाम है, एवं गो-शब्द का अर्थ है वाक्, यह आप लोग स्मरण रखेंगे। स्वयं शिवजी पता नहीं कौन सा नशा कर के गा रहे हैं और नाच रहे हैं? और "बजावत गजबदन लम्बोदर मृदङ्ग नन्दभरे।" इस विराट् नृत्य में सर्वभूतान्तरात्मा जो विष्णु हैं, उन्हें सात्त्विक भाव हुए, वे चञ्चल हुए। यह चाञ्चल्य क्या सहज चाञ्चल्य है? सृष्टि के आरम्भ में सर्वव्यापी चिच्छक्ति में जो दो होने के लिए, बहुत होने के लिये चाञ्चल्य देखा जाता है, यह वही चाञ्चल्य है। गोलोक की परावाक् पर-शब्द बन गई। परशब्द का जो लक्षण हम दे चुके हैं, उसे आप लोग मन में रखेंगे। **"तद्विष्णोः परमं पदं"**—वही विष्णुपद जब चञ्चल हुआ, तभी गङ्गा आविर्भूत हुई। यह कौन सी गङ्गा हैं? यह सनातनी वेदमयी, शब्दमयी गङ्गा हैं। इसकी तीन धाराएँ हम जान सके हैं—ऋक्, साम, यजुः; वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती। वास्तव में कितनी धाराएँ हैं, यह कौन जानता है? विष्णुपद से गङ्गा का उद्भव हुआ, तब प्रजापति ब्रह्मा ने उन्हें कमण्डलु में धारण कर लिया। यहाँ परा वाक् अपरा वाक् हो गई, परशब्द शब्द-तन्मात्र हो गया, शब्द का मूली-

भूत वाञ्चल्य विशुद्ध और निरतिशय शब्द-रूप में प्रकाशित हुआ। कहाँ ? प्रजापति के कमण्डलु (ध्यान) में, अथवा पारमार्थिक कर्ण में। ब्रह्मा में आ कर शब्द की प्रसूति शब्द की प्रकृति हो गई। नास्तिक महोदय! इस व्याख्या पर क्रोध न कीजियेगा। हम आपाततः जिन्हें प्रजापति कह रहे हैं वे हमारे ही अनुभव-सामर्थ्य की पराकाष्ठा मात्र हैं। जीव में अनुभव-सामर्थ्य के नाना स्तर हैं (a variable magnitude, a series)। इस श्रेणी (series) की पराकाष्ठा (limit) कहाँ है ? इसका ही अनुसन्धान करते हुए प्रजापति को हम ने पकड़ लिया है। गणितशास्त्र और विज्ञान में इस प्रकार की पराकाष्ठा का अन्वेषण हमेशा चलता है। इसमें किसी को कुछ भी आपत्ति नहीं होती। मेरे प्रजापति को नास्तिक महोदय यदि केवल एक कल्पित पराकाष्ठा (conceptual limit) ही समझ लें, तब भी मैं आपाततः प्रतिवाद नहीं करूँगा। इस मामले में हम ने अब तक गणित और विज्ञानशास्त्र के नज़ीर का लंघन कर के राय नहीं दी है। इस बात को यहाँ अब तक खुलासा कर के नहीं कह पाया हूँ तो बङ्किमचन्द्र की भाँति वृथा ही बकता रहा हूँ। आस्तिक और नास्तिक दोनों को ही मैंने पत्तल परोस कर बैठा दिया है। जो जिस प्रकार ग्रहण करें, किया करें। रसगुल्ला पत्तल पर पड़ने पर जो बिना नानुकर के उसे मुंह में डाल कर रसास्वादन करेंगे, उन्हें भी हम ने बुला कर बैठाया है, और जो पत्तल के रसगुल्ले की ओर देख कर "यह संज्ञामात्र है, कल्पनामात्र है अथवा सचमुच ही कुछ है" इस प्रकार विचार करते हुए हाथ बाँध कर बैठे रहेंगे, वे भी हमारे निमन्त्रण से वञ्चित नहीं हुए हैं। जो कुछ भी हो, प्रजापति के कमण्डलु में जो गङ्गा (पश्यन्ती) रहीं, वह ठीक हमारे मर्त्य की गङ्गा नहीं है। ज्ञान-शक्ति की पराकाष्ठा में जो शब्दराजि है, जो वेद है, हमारे कुण्ठित, कृपण ज्ञान में उस शब्दराजि की, उस वेद की ठीक रूप में और पूर्णरूप में पाने की सम्भावना कहाँ है ? अतएव—वेद की भी नाना श्रेणियां (Veda-series) हैं। कोई एक यदि चरम स्तर हो (हम अब भी गणित के नजीर के अनुसार चल रहे हैं) तो वही पूर्ण और विशुद्ध वेद (pure and perfect Veda) है। जो कहानी मैं ने शुरु की थी वह आगे चले।

ब्रह्मा के कमण्डलु से हरजटा में पहुँच कर गुरु-गंभीर [illegible] कल ध्वनि करने लगीं। यह हुई शब्द की एवं वेद की [illegible] (मध्यमा), जिस शब्द को योगी लोग दिव्य कर्ण से सुन पाते हैं। [illegible]

एवं सजा-सँवार कर 'रुपया' गढ़ देंगे, टकसाल खोल बैठेंगे, ऐसी आशा कोई न करे। हमारे अभिप्रेत पदार्थ की रचना कर देने की शक्ति हमारे चालू शब्दों में नहीं है। कहते हैं कि ऋषि-मुनियों द्वारा उच्चारित शब्द में किसी हद तक यह सामर्थ्य—वस्तु को गढ़ कर प्रस्तुत कर देने की शक्ति थी। कपिञ्जल श्वेतकेतु के आश्रम में जाते समय शून्यपथ में विमानचारी किसी सिद्ध को जल्दी से ज्यों ही लाँघ कर गये, त्यों ही सिद्धपुरुष ने उन्हें शाप दिया—'घोड़ा हो जाओ'; कपिञ्जल को घोड़ा होना ही पड़ा। यहाँ शब्द-शक्ति है या और कुछ? दुर्वासा ऋषि ने कण्व-मुनि के द्वार पर खड़े होकर पुकारा – **'अयमहं भो'**। शकुन्तला बेचारी स्वामी की चिन्ता में मग्न थी, सुन नहीं सकी। दुर्वासा ने क्रोध में भर कर **'आः अतिथिपरिभाविनि!'** इत्यादि कह कर शाप दिया। शाप फलित हुआ। किसके जोर से? इन सब दृष्टान्तों में जो कुछ भी हो, हमारे शब्द साधारणतः ऐसे खोखले हैं कि 'वाक्सर्वस्व' की बात हमारे लिए कपोल-कल्पना ही रह गई है। शब्द होने से ही यदि अर्थ अपने आप जुट जाता तो बंगाली जैसा सार्थक और कौन होता ?

जो भी हो, अर्थ को गढ़ कर प्रस्तुत करने का सामर्थ्य-विशिष्ट जो शब्द है, वही निरतिशय शब्द है। यहाँ भी वही पराकाष्ठा (limit) की बात है। सभी शब्द कुछ-न-कुछ हिला-डुला कर तोड़ने और गढ़ने की चेष्टा करते हैं। वे वायु के तरंग हैं, स्नायुस्पन्द करना ही उनका काम है, कोई शब्द अधिक, कोई शब्द कम; सूक्ष्म-पर्याय (super sonic) के शब्दों में यह शक्ति खूब अधिक है। साधारणतः छन्दोबद्ध शब्द गढ़ने की ओर कुछ कृतित्व दिखाते हैं। छन्द ही है प्राण-व्याकरण। इसलिए वेद ने छन्द से सृष्टि बताई है। किन्तु इतने से ही ज्यों ही मैं जलद-गंभीर सुर से गाऊँगा—'वृष्टि पड़िछे टुप-टाप' (टप-टप वर्षा हो रही है), त्यों ही पर्जन्यदेव सचमुच ही एक बौछार बरसा जायेंगे, ऐसा मेघ-मल्हार मैं साध नहीं सका हूँ। हाँ, तानसेन दीपकराग से जल मरे थे यह बात भी स्मरण रखनी होगी। अर्थात् मेरे जो छन्दोबद्ध शब्द अनेक परिमाण में व्यर्थ हैं, गुणी व्यक्ति के सधे गले से निकल कर वही सार्थक होते हैं। इसलिये प्रश्न उठता है— शब्द का कुछ गढ़ डालने का सामर्थ्य कहां तक है ? यहां भी नास्तिक महोदय को मैं सिर हिलाने नहीं दूंगा। यदि शब्द के सृष्टि-सामर्थ्य (dynamic or creative functions) की एक पराकाष्ठा हो तो वही निरतिशय शब्द है। इसे ही स्वाभाविक शब्द (natural name) कहता हूँ। अंग्रेजी में कहने जायें तो स्वाभाविक

शब्द का लक्षण (test) इस प्रकार होगा—The sound being given a thing is evolved, conversely, a thing been given, a sound is evolved. यदि शब्द है तो उसकी अभिधेय वस्तु गठित हो जायेगी, यदि वस्तु है तो उसका शब्द (अवश्य ही सुनने का कान रहने पर) अभिव्यक्त होगा। अर्थात् शब्द और अर्थ मानों मेरे हाथ के दोनों पृष्ठों की भाँति है (हथेली की दोनों ओर की सतह अथवा पन्ने के दोनों पृष्ठ की भाँति)।

सिर के ऊपर पखा घूम रहा है, उसका शब्द मैं सुनता हूँ, किन्तु मेरे चश्मे के ऊपर एक जल-बिन्दु या धूलिकण पड़ा हुआ है। उसका शब्द क्या मैं सुन पाता हूँ? उसका भी शब्द है क्या? नहीं तो क्या? हमारे भौतिक कर्ण के निकट नहीं है, वैज्ञानिक अथवा योगी के दिव्य कर्ण के समीप शायद हो सकता है, पारमार्थिक कर्ण के समीप निश्चय ही है। किस रूप में? याद रखियेगा, चाञ्चल्य होते ही जो कर्ण निरतिशय रूप में सुन पाता है वही पारमार्थिक कर्ण है। इलॅक्ट्रॉन का संचलन ही हो, 'ईथर' की तरंगों का अभियान ही हो, अणु-परमाणुओं का कम्पन ही हो अथवा इन सब की अपेक्षा स्थूल-सूक्ष्म किसी प्रकार का चाञ्चल्य ही हो, पारमार्थिक श्रवण-सामर्थ्य में सभी श्रुत होगा। दिव्य कर्ण से भी इनमें से बहुत से सुने जा सकते हैं। अब देखा जाय, चश्मे के ऊपर का यह जलकण क्या है? बहुसंख्यक सूक्ष्म-सूक्ष्म जल के दानों ने एक दूसरे को बाँध-पकड़ कर इस जलकण को बना रखा है। प्रत्येक दाने (molecule) के बीच पुनः oxygen और hydrogen के अणु हैं; उनके भीतर इलॅक्ट्रॉन पुनः सौरजगत् में ग्रह-उपग्रह की भाँति चक्कर काट रहे हैं। दाने काँपते हैं; अणु अपनी एक व्यूहरचना करके (रसायनशास्त्र इसे space-representation कह कर समझाने का प्रयत्न करता है) स्पन्दित होते हैं, और इलॅक्ट्रॉन प्रभृति की तो बात ही नहीं। अत एव जलकणादि चाञ्चल्य-विशिष्ट हैं; विशेष रूप से गहराई में जाकर देखने से यह चिद्वस्तु के भीतर एक चाञ्चल्य-विशेष के अलावा और कुछ नहीं है। सुस्थिर जल में एक ढेला फेंका; एक केन्द्र बना, उत्तेजना की सृष्टि हुई। दूसरी जगह और एक ढेला फेंकने पर दूसरा एक उत्तेजना का केन्द्र हम पाते हैं। इस प्रकार बहुत से उत्तेजना-केन्द्र (centres of disturbance) हम पा सकते हैं। जगत् में जिन वस्तुओं को हम एक-एक द्रव्य कहते हैं, वे और हम स्वयं इस प्रकार के एक-एक उत्तेजना-केन्द्र हैं। आधार या उपादान क्या है, इसे आपाततः सोच कर देखने की आवश्यकता नहीं है; शास्त्र ने उसे चिद्वस्तु या

चित्सत्ता कहा है। विज्ञान भी उन्मुख है। कुछ-एक शक्तियों (forces) द्वारा एक-एक उत्तेजना-केन्द्र की सृष्टि और स्थिति होती है। जल में आवर्त उत्पन्न करने के लिये एवं उसे कुछ क्षण तक बनाये रखने के लिये कुछ-एक शक्तियों का समावेश आवश्यक है। ये शक्तियाँ ही आवर्त की सृष्टि और स्थिति की स्वामिनी हैं। उन्हें constituting forces कह सकते हैं। तुम मुझे खींचते हो, मैं तुम्हें खींचता हूँ; तुम एक शक्ति-प्रयोग करते हो और मैं दूसरा एक। किन्तु यदि इस खींचा-खींची के व्यापार को समस्त करके देखा जाय तो उसकी अंग्रेजी परिभाषा होगी st:ess (शक्तिगुच्छ या शक्ति-व्यूह); वर्तमान दृष्टान्त में शक्तिव्यूह के दो अंश (elements or partials) हैं—तुम्हारा खींचना और मेरा खींचना। अतएव शक्तिव्यूह शब्द का व्यवहार कर के हम कह सकते हैं कि जल के आवर्त के मूल में शक्तिव्यूह (causal st ess) है; तुम्हारे मूल में भी एक शक्तिव्यूह है, मेरे मूल में भी एक शक्तिव्यूह है; सभी वस्तुओं के मूल में एक-एक शक्तिव्यूह है। हम अपने प्रयोजन के अनुसार ब्रह्माण्ड का टुकड़ा-टुकड़ा देखते हैं; और समझते हैं कि एक टुकड़े के साथ दूसरे एक टुकड़े का सम्पर्क नहीं है, सब शक्तिव्यूह दुर्भेद्य और परस्पर के सम्बन्ध में निरपेक्ष, उदासीन हैं। किन्तु प्रकृत व्यापार उस प्रकार का नहीं है। यह ब्रह्माण्ड एक विराट् अविच्छिन्न शक्तिव्यूह (an infinite system of stresses) है; जिसे जल का या 'ईथर' का अथवा सम्मिलित देश-काल-सत्ता में आवर्त कहते हैं; वह उस विराट् व्यूह का एक अंग या अवयव (partial) मात्र है। अब जल-कण के कारणीभूत शक्ति-व्यूह ने जो चाञ्चल्य जगा रखा है—इलॅक्ट्रॉनों के कहें अथवा स्थूलतर दानों के कहें—उसी चाञ्चल्य के पारमार्थिक कर्ण (absolute ear) में श्रुत होने पर जो शब्दाभिव्यक्ति होती है, वही शब्द जलकण का शुद्ध स्वाभाविक शब्द है। जलकण के लिये जो बात है, इस खड़िया के टुकड़े या अन्य किसी भी द्रव्य (चेतन-अचेतन उद्भिज् के लिये भी वही बात है) की सृष्टि और स्थिति के मूल में शक्तिव्यूह (constituting forces or causal stress) रहता है; निरतिशय शब्द-सामर्थ्य में उस शक्तिव्यूह की जिस शब्द वा रूप में अभिव्यक्ति होती है, वही पदार्थ का विशुद्ध स्वाभाविक शब्द है। जीव-कोष का संचलन होता है; ह्रास-वृद्धि होती है; उसके भीतर टूट-फूट (anabolism, katatbolism) चलता है; इस सर्वविध चाञ्चल्य के मूल में जो शक्तिव्यूह है, वही जब शब्दज्ञान उत्पन्न करता है, तब हम जीवकोष का स्वाभाविक शब्द पाते हैं। हम अवश्य इस शब्द को भौतिक कर्ण से सुन

नहीं पाते हैं, इलैक्ट्रॉन का संचलन, ईथर का अथवा अतिसूक्ष्मसत्ताक अन्य किसी का आवर्त हम किस प्रकार सुनेंगे ? वैज्ञानिक और योगी दिव्य कर्ण से अतीन्द्रिय शब्दों में से कुछ-एक को शायद सुन पाते हैं; हमने पारमार्थिक कर्ण की जो संज्ञा दी है, उससे ज्योंही शक्तिव्यूह किसी प्रकार का चाञ्चल्य जगाएगा त्योंही वह चाञ्चल्य पारमार्थिक कर्ण में शब्द-रूप में श्रुत होगा; एवं वही उस क्षेत्र में स्वाभाविक शब्द है। जिस वस्तु का जो स्वाभाविक शब्द है, वही उसका नाम रख देने पर हमें स्वाभाविक नाम (natural name) मिलता है।

स्वाभाविक शब्द वस्तु का बीजमन्त्र है। जैसे 'रं' अग्नि का बीजमन्त्र है। जिस वस्तु को हम अग्नि कहते हैं, उसके मूल में अवश्य शक्तिव्यूह (constituting forces) हैं; वही शक्तिव्यूह हमारे चक्षु को उत्तेजित कर के अग्नि का रूपज्ञान जन्माता है, त्वगिन्द्रिय के स्नायुओं को उत्तेजित करके तापज्ञान जन्माता है; किन्तु साधारणतः हमारी श्रवणेन्द्रिय को उत्तेजित करके कोई भी शब्दज्ञान उत्पन्न नहीं करता; किन्तु पारमार्थिक कर्ण में उसका एक शब्द है; दिव्य कर्ण भी उस शब्द को कुछ-कुछ पकड़ सकता है। दिव्य कर्ण ने उस शब्द को 'रं' के रूप में सुना है; यह परीक्षणीय व्यापार है— जिस प्रकार कि रसायनशास्त्र के अनेक व्यापार हैं; हम जब तक परीक्षा करके मिला नहीं लेते हैं, तब तक गुरुमुख से और शास्त्रमुख से हमें केवल सुन कर ही रखना पड़ता है कि 'लं' 'वं' 'रं' 'यं' 'हं' ये यथाक्रम से क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योम के स्वाभाविक नाम एवं बीजमन्त्र हैं। पारमार्थिक कर्ण की संज्ञा हमने बना ली है, किन्तु उस कर्ण को स्पर्श करने का अधिकार हमें नहीं है; हम लोग अधिक से अधिक दिव्य कर्ण को लेकर कुछ हलचल कर सकते हैं। इस दिव्य कर्ण के नज़ीर से हम कहते हैं कि अग्नि अथवा व्योम के मूल में जो शक्तिसमूह है, उसकी जो शब्दरूप में अभिव्यक्ति (acoustic equivalents) है, वही अग्नि अथवा व्योम का बीजमन्त्र है --'रं' अथवा 'हं'। अवश्य दिव्य कर्ण का श्रुत शब्द प्रायः विशुद्ध, निरतिशय नहीं है; इस लिए 'रं' वा 'हं' हैं approximate acoustic equivalents of the underlying stresses or constituting forces of fire and ether. केवल पञ्चभूत का क्यों, जहाँ जीव वहाँ शिव, जहाँ शिव वहाँ शक्ति; क्योंकि जीवमात्र का क निजस्व बीजमन्त्र है। हम दीक्षा के समय गुरु-मुख से जो मन्त्र पाते , वह हमारे निजस्व बीजमन्त्र के अनुरूप अथवा अनुकूल होना चाहिए;

विरोध होने पर, हमारा भीतरी शक्तिव्यूह (causal stress) अस्वस्थ, यहाँ तक कि व्याहत हो जायगा। गान में गले के स्वर और यन्त्र के स्वर का गैरमेल (disharmony, discord) होने पर जो होता है, बहुत कुछ वैसा ही। वीजमन्त्र की अथवा स्वाभाविक नाम की, और अधिक दृष्टान्त लेकर, आलोचना करने का अभी हमें समय नहीं है। वीजमन्त्र मौलिक (simple) और यौगिक (compound) हो सकता है। आपेक्षिक रूप से 'रं' मौलिक वीज है, 'हंसः' 'ह्रौं' 'क्रीं' प्रभृति यौगिक हैं। और एक बात। स्वाभाविक शब्द अथवा वीजमन्त्र को हम लोग भूल न जायें। मैंने शंख बजाया अथवा कौवा बोला। यहाँ शंख के शब्द अथवा कौए की पुकार को हम साधारणतः स्वाभाविक शब्द कहते हैं, किन्तु हमारे लक्षण के अनुसार वह ठीक स्वाभाविक शब्द नहीं है। जिस शक्तिव्यूह ने शंख को शंख बना रखा है, उसी की शब्द रूप में जो अभिव्यक्ति है (पारमार्थिक कर्ण में ही हो अथवा दिव्य कर्ण में ही हो) वही शंख का स्वाभाविक नाम व वीजमन्त्र होगा। अवश्य ही शंखध्वनि शंख की वीजशक्ति के साथ संबद्ध है, संबन्ध-शून्य नहीं है। काक की पुकार सुन कर हमने काक का नाम रखा है 'काक'; यह नाम काक का वीजमन्त्र नहीं है; हाँ, काक की आवाज़ काक के काकत्व से निःसृत हो रही है; इसीलिए काक के वीजमन्त्र का नाम यदि मुख्य (primary) स्वाभाविक नाम हो तो उसकी ध्वनि सुन कर उसका जो नाम हमने रखा है, उस नाम को हम कहेंगे गौण (secondary) स्वाभाविक नाम।

स्वाभाविक नाम अथवा वीजमन्त्र का मोटा-मोटी विवरण आप पा चुके। स्वाभाविक नाम का जो श्रेणीविभाग है, वह विशेषरूप से देखने का विषय है। वह श्रेणी-विभाग (classification) अन्य प्रवन्ध मे विशेष रूप से आलोचित हो तो अच्छा। आज आप लोगों का कौतूहल निवृत्त करने के लिये नहीं, किन्तु जगा देने के लिये उस श्रणी-विभाग का मैंने उल्लेखमात्र किया। वीज-मन्त्र के आरम्भ की बातें (principles) हम इस प्रवन्ध में बहुत कुछ उलट-पलट कर देख चुके हैं; श्रेणीविभाग समझ लेने पर मूल की कुछ बातें समझने में हमें और भी सुविधा हो सकती है। आपाततः स्वाभाविक नाम अथवा वीज-मन्त्र के दो पहलू आप लोग स्मरण रखियेगा। किसी द्रव्य का मतलब है एक शक्तिव्यूह और चाञ्चल्य का केन्द्र; यह होने पर ही उसकी एक शाब्दिक प्रतिकृति (acoustic equivalent) होगी - पारमार्थिक कर्ण में हो अथवा दिव्य कर्ण में हो, यही उसका वीजमन्त्र है। यह एक पक्ष है

पक्षान्तर में, वीजमन्त्र या स्वाभाविक शब्द के होने पर द्रव्य संजात अथवा आविर्भूत होगा ही; योगी लोग समर्थ रूप से 'रं' उच्चारण करें तो अग्नि के आविर्भाव की संभावना है। तुम-हम 'रं' अथवा 'अग्निमीले' प्रभृति यौगिक मन्त्र पुनः पुनः रीत्यनुसार छन्द में उच्चारण करें तो शक्ति की संहृति (summation of stimuli, superposition of motions) होकर *अग्नि ज्वलित हो सकती है, कम से कम जठरानल तो अवश्य ही।* इलॅक्ट्रॉन पुनः पुनः वक्का देकर सिर पर स्थित इस तार में जैसे विजली की वत्ती जला दे सकते हैं, यहाँ भी उसी प्रकार है। हमारा उच्चारित मन्त्र विशुद्ध रूप से स्वाभाविक नहीं है, इसीलिये उसका फल दिखाने के लिये ध्वनि, छन्द प्रभृति को अक्षुण्ण रख कर वार-वार मुझे उसका जप-पुरश्चरण करना पड़ता है।

अन्तिम वात। मन्त्र की वातें परीक्षा करके देखने की हैं, विज्ञान की वातों की तरह ही। *हो सकता है कि परीक्षा में वे सव 'हिं टिं छट्'* (लौकिक छूमन्तर) के रूप में ही पकड़ में आएँ; किन्तु आपाततः वैसा ही मान लेने का कोई कारण नहीं है। वरन् सम्भावना दूसरी ओर ही अधिक है। यह भलीभांति विदित है कि भारत के ३० कोटि हिन्दुओं (केवल हिन्दुओं की वात ही कह रहा हूँ) के जीवन-मरण, विवाह-श्राद्ध, क्रियाकर्म और नित्यनैमित्तिक अनुष्ठानों में जो मन्त्र अव भी इतना आधिपत्य रखता है, उसे हम दो चार जने वाचाल कूपमण्डूक वेकार आलोचना करके उड़ा देने का यत्न करेंगे तो उससे वड़ी 'काम की वात' कम ही देखने में आयेगी।

स्वाभाविक शब्द अथवा मन्त्र (२)

पिछली बार हम शब्द के मूल की बात की कुछ सीमा तक चर्चा कर चुके हैं। शब्द की ओर से देखने पर हम अपने जगत्-प्रत्यय (experience of the world) के पाँच स्तरों का आविष्कार कर पाये हैं—अशब्द, परशब्द, शब्दतन्मात्र, सूक्ष्मशब्द एवं स्थूलशब्द। अन्तिम तीन को हमने एकत्र अपरशब्द संज्ञा दी। मान लें, सामने विशाल जलराशि है। जल में यदि चाञ्चल्य का लेश भी न हो, जलराशि यदि एक प्रकार से स्फटिक के दर्पण की भाँति सम्मुख पड़ी हो, तब उसकी अवस्था अशब्द की अवस्था है। जल में चाञ्चल्य जाग उठा है, तरङ्गें दौड़-भाग रही हैं, टूट रही हैं और ऊपर उठ रही हैं, यह हुई परशब्द की अवस्था। मैं अथवा अन्य कोई उस ऊर्मि-चाञ्चल्य को सुनने के लिये उपस्थित न रहें तो भी वह परशब्द है। क्योंकि हमने ऐसा तय कर लिया है कि स्पन्द या चाञ्चल्य-मात्र को ही परशब्द कहेंगे, वह चाञ्चल्य श्रवणयोग्य और श्रुत हो या न हो। उसके बाद, प्रजापति महाशय ने अपने कर्ण में, अर्थात् निरतिशय श्रवणसामर्थ्य द्वारा जलराशि के उस चाञ्चल्य को अवश्य इस प्रकार सुना जिससे अधिक और शुद्ध रूप से सुनना हो ही नहीं सकता। यही हुआ शब्दतन्मात्र—वर्तमान क्षेत्र में, तरङ्ग-चाञ्चल्य की शुद्ध अविकृत वाणीमूर्ति। यही शब्द की प्रकृति और आदर्श (standard) है। तरङ्गें चाहे जितनी छोटी क्यों न हों, चाञ्चल्य कितना ही मृदु क्यों न हो, यहाँ तक कि बाहर स्पष्टतः किसी प्रकार का चाञ्चल्य न रहने पर भी यदि केवल अणु, परमाणु, इलॅक्ट्रॉन प्रभृति का ही चाञ्चल्य रहे, तब भी वह प्रजापति के कान में अश्रुत नहीं रहेगा, क्योंकि हमारी संज्ञा के अनुसार वह कर्ण श्रवणशक्ति की पराकाष्ठा है, निरतिशय श्रवणसामर्थ्य है; जो इसे कल्पित पराकाष्ठा कहना चाहें वे वैसा ही कह कर तृप्त हों। पक्षान्तर में चाञ्चल्य चाहे जितना विराट्, विपुल क्यों न हो, उसे भी प्रजापति शब्द के रूप में सुन रहे हैं। किसी भी स्पन्द को तुम्हारे या मेरे श्रवणयोग्य बनने के लिये एक अधोरेखा-ऊर्ध्वरेखा के बीच की किसी अवस्था में रहना होगा। सूक्ष्मता की एक सीमा अतिक्रम कर जाने पर वह हमारे श्रवणयोग्य नहीं होगा, और विपुलता की एक सीमा लङ्घन करने पर भी वह हमारे कान में शब्द रूप में पकड़ में नहीं आएगा। प्रजापति के पक्ष में इस प्रकार की कोई सीमारेखा नहीं है। इस प्रकार श्रवणसामर्थ्य की बात

की पूर्व-प्रबन्ध में हम विशेष रूप से आलोचना कर चुके हैं। जहाँ सीढ़ी पर सीढ़ी अथवा स्तर के ऊपर स्तर दिखाई देते हैं, वहीं पर एक पराकाष्ठा की बात, चरम की बात हम सोच सकते हैं। वह पराकाष्ठा की भूमि ही प्राजापत्य-पदवी ऐश्वर्य है, योगशास्त्र ने जिसका लक्षण देते हुए कहा है -- "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्वबीजम्"।*

जो कुछ भी हो, अब अगस्त्य यदि एक गण्डूष में समुद्र-पान करने का सङ्कल्प कर के हमारे समुद्र-तट पर जा कर उपस्थित हों तब वे अपने दिव्य कर्ण से शायद समुद्र के इतने मृदु स्पन्दों की भाषा सुनेंगे जो हमारे-आप के भौतिक कर्ण में बिलकुल भी प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न कर सकती। आधुनिक वैज्ञानिक युग में भी वैज्ञानिक योगी अपने यन्त्ररूप दिव्य कर्ण के साहाय्य से जिन समस्त 'सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट' वस्तु-स्पन्दों को ध्वनि-रूप में पकड़ते हैं, उनकी भाषा किसी समय हम सुन सकेंगे, ऐसी बात पहले हम कल्पना में भी लाने का साहस नहीं करते थे। अब विज्ञान के कल्याण से यत्किञ्चित् दक्षिणा डाल देने पर ही टेलीफोन नामक यन्त्र की नली को कान के समीप ला कर उसे दिव्य कर्ण बना ले सकते हैं, एवं उसी दिव्य कर्ण के माहात्म्य से आप काशी में रह कर बात करेंगे और मैं इस तत्त्वविद्या-समिति के गृह में रह कर ध्यानस्थ (clairvoyant) हुए बिना ही उसे अविकल सुन सकूंगा। तत्त्वविद्या के अनुशीलन-कर्ता ध्यान-धारणा के प्रसाद से वह कार्य बिना द्रव्य-व्यय के कर सकते हैं; सुतरां उन्हें यहाँ खर्चा कर के टेलीफोन की व्यवस्था करनी नहीं पड़ी है। हाँ, मालूम होता है, विज्ञान भी तत्त्वविद्या का इङ्गित अनुसरण करके ही चलता है। टेलीफोन में हमारे-तुम्हारे बीच तार लगानी होती है। उस पर भी अनेक हंगामा है, अधिक व्यय होता है। हमें जिस परिमाण में जड़ की सहायता ले कर अभिलाषा पूर्ण करनी होगी, उसी परिमाण में जड़ के समीप हस्ताक्षर लिख कर देकर उसकी गुलामी करनी होगी। इच्छा की, और कार्य हो गया ऐसा नहीं होगा; कार्य करने जाने पर बाहर की जिन पाँच वस्तुओं के उपयोग पर मुझे निर्भर रहना पड़ता है, उनके अनुरूप योगायोग कर लेना होगा। इसलिए वैज्ञानिक का टेलीफोन हमारी अनेक सुविधाएँ सम्पन्न कर देने पर भी हमें स्वाधीन नहीं कर सका है। केवल टेलीफोन क्यों, वैज्ञानिक के और भी अनेक आयोजन हमें दास बना रहे हैं बाहर के सामने, पराये के पास। दीवाल पर बटन दबाते हैं और शिर पर सुसज्जित काँचपुरी (बल्ब) के

* पातञ्जल योगसूत्र १.२५।—अनुवादिका।

भीतर निमिष मात्र में बिजली बत्ती जल उठती है, बहुत आनन्द है। किन्तु जिस विराट् तार के व्यूह ने हमारे शहर के सिर पर आकाश को छा रखा है अथवा हमारे पैरों के नीचे २ सर्वसहा धरित्री के कलेवर की शिरा-प्रशिरा की भाँति अपने को फैला रखा है, उस तार के स्थल-विशेष में यदि थोड़ा सा भी गोलमाल हो जाय तो मैं दीवार का बटन दबाना तो क्या, माथा फोड़ कर अपनी श्मशान-प्राप्ति की सम्भावना भी खड़ी कर लूं, तो मेरे घर के भीतर अन्धकार का जमाव बिल्कुल भी टूटेगा नहीं। आचार्य रामेन्द्रसुन्दर ने विज्ञान की मायापुरी से हमारी पहचान करा दी है; किन्तु वह गुलामखाना भी है, यह बात भी हमें याद रखनी होगी।

विज्ञान भी भीतर-भीतर इसे अच्छी तरह अनुभव करता है। इसीलिये टेलीफोन, टेलीग्राफ़ के खम्भों को उखाड़-फेंक कर विज्ञान ने सूक्ष्म और दूरवर्त्ती स्पन्दों को पकड़ने के और एक प्रकार के उपाय का आविष्कार किया है। इस क्षेत्र में मन्त्रद्रष्टा ऋषि आचार्य मैक्सवेल और हॉर्ज़ हैं। मार्कोनी नाम के पुरोहित की कर्मकुशलता से उस मन्त्र का यथायथ विनियोग हुआ है, एवं उसके फलस्वरूप हमें मिला है तारहीन वार्तावह। समुद्र के गम्भीर जल में तार (cable) डाल रखने की अब वैसी आवश्यकता नहीं, लम्बे-लम्बे खम्भे गाड़ कर शत-शत योजन तार लटकाये बिना भी समाचार का विनिमय चल सकता है। इस दृष्टान्त में तार की हमारी गुलामी तो अवश्य कम हो गयी, किन्तु बाहर का जो यन्त्र हमें तैयार कर के रखना पड़ रहा है, समय-समय पर वह इतनी विशाल मूर्त्ति में दर्शन देता है कि उसके सामने हमारे जैसे अदरक के व्यापारियों के प्राण विस्मय और भय से बिल्कुल अभिभूत हो जाते हैं। तारहीन वार्तावह में एवं मूर्तिवह में हमारी शक्ति का विस्तार बढ़ गया है, एवं बाहर की गुलामी अपेक्षाकृत कम हो गई है, किन्तु शक्ति की पराकाष्ठा पर हम निश्चय ही नहीं पहुँचे हैं एवं हमारी गुलामी भी पूर्णतया अपगत नहीं हुई है। शक्ति की पराकाष्ठा जहाँ है, वहीं प्राजापत्य पदवी है; जिस भूमि तक उठने पर सब कुछ आत्मवश है, वही स्वाराज्य-सिद्धि है। यही लक्ष्य है। विज्ञान भी नाना भूल-भ्रान्ति, संशय-संस्कार के बीच से इस लक्ष्य के अभिमुख ही चल रहा है। तत्त्वविद्या और भारतवर्ष का अध्यात्मशास्त्र यदि ठीक है तो उनके अनुशीलन के फलस्वरूप मनुष्य इस लक्ष्य की ओर और भी समीप पहुँच सकता है। जिन 'ईथर'-तरंगों को तारहीन वार्तावह यन्त्र (cohearer) फैलाकर पकड़ता है, उन्हें एवं उनसे भी सूक्ष्म कम्पनों को यदि हम केवल ध्यान

से ही पकड़ सकें तो हम शक्ति की पराकाष्ठा की ओर अधिक अग्रसर तो हुए ही, अपितु वह शक्ति बाहर के सम्बन्ध से बहुत अधिक निरपेक्ष और स्वाधीन हो गई; दूर के सूक्ष्म स्पन्दों को ग्रहण करने के लिये बाहर एक यन्त्र बना कर रखना नहीं पड़ा। इस दृष्टान्त से पहले की बात का ही परिष्कार हुआ — दिव्य-कर्ण अथवा योगज शब्द-प्रत्यक्ष के नाना स्तर होते हैं, जैसा यन्त्र वैसा श्रवण; और ध्यान-धारणा जितनी गाढ़ी होती है, अनुभव भी उतना ही गम्भीर होता है। इस दिव्य कर्ण की चरम परिणति पारमार्थिक कर्ण में होती है; सकल योगज विभूति का पूर्ण विकास स्वयं योगेश्वर में है। कहना न होगा, तुम्हारे-हमारे स्थूल कर्ण के शब्द-ग्रहण-सामर्थ्य का भी तारतम्य होता है, विभिन्न जाति के जीवों की तो बात ही नहीं।

जलराशि का दृष्टान्त ले कर हम ने अब तक पूर्व-प्रबन्ध में व्याख्यात कुछ मुख्य बातें दोहरा लीं। शब्द के पाँच स्तर एवं शब्द-ग्रहण-सामर्थ्य के तीन स्तर, यही एक प्रधान बात है। और एक बात है, स्वाभाविक शब्द अथवा बीजमन्त्र का लक्षण। द्रव्य एक शक्तिव्यूह है। वह शक्तिव्यूह जिस चाञ्चल्य को जगाये रखता है, वह यदि किसी भी निरतिशय श्रवणसामर्थ्य द्वारा शब्दरूप में गृहीत हो, तब वही शब्द उस द्रव्य का स्वाभाविक नाम अथवा बीजमन्त्र है।

इस प्रकार के विशुद्ध बीजमन्त्र में अपने द्रव्य अथवा अर्थ को गढ़ लेने की शक्ति है। हम गुरुमुख से अथवा साधना में जो बीजमन्त्र पाते हैं, वे अल्पविस्तर परिमाण में विकृत और संकीर्ण हैं। इस प्रकार होने का जो कारण है, उसका हम संक्षेपतः पूर्व-प्रबन्ध में निर्देश कर चुके हैं। हमारे चलित अर्थात् प्रयोगगत बीजमन्त्र विशुद्ध नहीं है इसलिए उन की स्वाभाविक शक्ति (अर्थ गढ़ लेने की शक्ति) एक प्रकार से सुप्त है, ऐसा कहा जा सकता है। मन्त्रोद्धार और मन्त्रचैतन्य एवं जप-पुरश्चरण प्रभृति द्वारा उस शक्ति को धीरे-धीरे जगा लेना पड़ता है। दृष्टान्त और युक्ति दिखा कर इन कुछ-एक बातों को हम ने पूर्व प्रबन्ध में प्रतिपन्न करने का प्रयास किया है।

जड़ जगत् के 'सविता' ग्रह-उपग्रहों की आदिम अवस्था के रूप में एक विपुल नीहार-समुद्र की कल्पना करना वैज्ञानिकों को अभी भी अच्छा लगता है। ऋषियों ने भी जगत् के (केवल जड़ जगत् के नहीं) आदि कारण अथवा उपादान को कारण-सलिल के रूप में समझा है। ऋषि लोग और कुछ हों या न हों, कवि अवश्य हैं। उनके वेदपुराण काव्य-सम्पद् में अतुल-

नीय हैं, यह अत्युक्ति नहीं है। अब, इस अपूर्व चित्र की आप लोग परीक्षा कर के देखेंगे क्या? कारण-सलिल में अनन्त शेष-शय्या पर लेटे हुए भगवान् विष्णु योगनिद्रा में आच्छन्न हैं। उनके नाभिकमल पर पद्मयोनि ब्रह्मा समासीन हैं। ऐसे समय विष्णु के कर्णमल से उत्पन्न मधु-कैटभ नामक दैत्य-द्वय प्रादुर्भूत हो कर-'ब्रह्माणं हन्तुमुद्यतौ'* ब्रह्मा को मारने के लिए उद्यत हो गए। ब्रह्मा ने विपन्न हो कर योगनिद्रा का स्तव कर के विष्णु को जगाया। विष्णु ने जाग कर दोनों दैत्यों के साथ युद्ध किया। दोनों दैत्य प्रसन्न हो कर विष्णु से बोले-"हम प्रसन्न हुए, तुम हम से वर ले लो।" विष्णु ने कहा-"तुम हमारे वध्य बनो।" इस गल्प का रहस्य क्या है? हम जिस शब्द-विज्ञान की आलोचना इन दो दिनों से कर रहे हैं, उस के ही मूल की बातें इस गल्प के भीतर छिपी हैं। विष्णु सर्वव्यापी आत्मा अथवा चैतन्य हैं। वे एक के अलावा दो नहीं हैं। किन्तु अकेले-अकेले रहने पर तो सृष्टि नहीं होती। सृष्टि के लिए अपने को मानो विभक्त कर के दो बना लेना होता है। उसका एक भाग या प्रकार (aspect) हुआ आधार वस्तु दूसरा भाग या प्रकार हुआ आधेय वस्तु। अनन्त शेष-शय्या—यह जागतिक आधार-वस्तु का संकेत है; एवं वह विराट् आधार वस्तु एक अपरिसीम शक्ति-व्यूह (an infinite system of stresses) है। हम समझते हैं, इस जलविन्दु को दो-चार शक्तियों ने गढ़ कर इसे धारण कर रखा है; हमारे हिसाब की संभावना और सुविधा के लिये हमें किसी भी व्यापार को नितान्त छोटा कर के देखना पड़ता है; किन्तु प्रकृत प्रस्ताव में जो आधार-शक्ति जलविन्दु के अणु-परमाणु प्रभृति को धर-बाँध कर रखती है, वह ब्रह्माण्ड के निखिल शक्ति-व्यूह को छोड़ और कुछ नहीं हो सकती। जलविन्दु क्या जलविन्दु के रूप में बना रहता, यदि उसे पृथ्वी, हवा प्रभृति के कण खींच कर, दबा कर और पकड़ कर न रखते? पृथ्वी और उसका यह साज-सरंजाम क्या सम्भव था, यदि सौरजगत् और ब्रह्माण्ड के अपरापर द्रव्य उसे खींच कर, दबा कर या सम्हाल कर न रखते? इस प्रकार खींच कर और दबा कर रखने का नाम हम ने एक शब्द में दिया है, शक्तिव्यूह (stress)। अतएव जगत् में ऐसा कुछ भी छोटा या अल्प नहीं है, जिस की आधारशक्ति को हम अनन्त शेष-शय्या के रूप में समझ न सकें। कारण, हम देखते हैं, कि उसकी आधार-शक्ति (constituting forces) निखिल शक्तिव्यूह

*दुर्गासप्तशती १.६८।—अनुवादिका।

सकल प्रकार की शब्दाभिव्यक्ति के मूल में जो नाद या प्रणवोच्चार है, वह तो नाभिस्थान को विशेषतः आश्रय कर के ही हुआ करता है। नादध्वनि निखिल ध्वनि-वैचित्र्य का मूल उत्स जो है। प्रणव की आलोचना के प्रसंग में इस बात की हम विशेष रूप से आलोचना करेंगे। आपाततः, नाभिकमल में शब्द-ब्रह्म-रूप ब्रह्मा ने क्यों निवास किया, इसकी एक कैफियत हम ने पाई। सर्वव्यापी आत्मा अथवा चिद्वस्तु अपने को मानो दो भागों में विभक्त कर के, एक भाग में निखिलशक्तिव्यूह-स्वरूप आधार या आश्रय हुआ, अपर भाग में निखिल वेदशब्दात्मक कलेवर धारण करके आधेय या आश्रित हुआ। शब्द का स्रष्टृत्व हम पहले अनेक दृष्टान्तों द्वारा समझाने का यत्न कर चुके हैं। शब्द का ऐसा सृष्टि-सामर्थ्य ध्यान रखने पर हमें समझने में कठिनाई नहीं होगी कि क्यों विष्णु के नाभिकमल के ऊपर स्थित शब्दब्रह्म को सृष्टि का स्वामी बना दिया गया है। इसीलिये ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता हैं। उनके ध्यान में निखिल वेद-शब्द आविर्भूत होता है, उसी वेद-शब्द से सृष्टि होती है—जगत् उसी शब्द से उद्भूत है। वेदशब्द अर्थात् स्वाभाविक शब्द है; यह याद रखना चाहिये। अर्थात् किसी भी पदार्थ का मूलीभूत चाञ्चल्य जब पारमार्थिक कर्ण में श्रुत होता है तब जो विशुद्ध, निरतिशय शब्द होता है, वही वेद है, हम जिन्हें वेदशब्द कहते और सुनते हैं, वे ठीक वैसे नहीं है। हमारे आप्त (inspired, revealed) शब्दों में भी थोड़ी बहुत विकृति और सांकर्य हो गया है।

ब्रह्मा केवल आधार-कमल में बैठे रहते हैं, ऐसा नहीं; उनका एक वाहन भी हम ने जुटा दिया है; वह है हंस। हंस क्या है? किसी भी प्रकार के शब्द का उच्चारण और श्रवण करने जाएं तो प्राणशक्ति का परिस्पन्द (vital functioning) आदि में होता ही है, इस बात में आज का विज्ञान सन्देह नहीं करता। उसी प्राणन-व्यापार का स्वाभाविक शब्द और बीजमन्त्र 'हंस' है, प्राणिमात्र में ही, केवल मनुष्य में नहीं। गम्भीर रात्रि में जाग कर, स्थिर होकर बैठकर सुनने पर हमारे श्वास-प्रश्वास का शब्द मोटामोटी (roughly) हंस जैसा ही लगता है। साधक के दिव्य कर्ण में प्राणन-क्रिया की जो प्रायः विशुद्ध ध्वनि (approximate acoustic equivalent) पकड़ में आती है, वह सचमुच 'हंस' ही है; इस विषय में शास्त्र, गुरु और महाजन एक वाक्य से साक्ष्य दे रहे हैं। यह अपने हाथ से परीक्षा करके देखने की वस्तु है; सुन कर ही सिर हिलाकर विश्वास या अविश्वास प्रकट करने से कोई लाभ नहीं। वाहन का

परिचय तो हम पा चुके। वाग्देवी सरस्वती का भी वाहन हंस है—यह आपको स्मरण रखना है। फिर विरञ्चि के हाथ में अक्षसूत्र है। यह वर्णमाला, अर्थात् शब्दसमूह के मौलिक अंग (units or elements of sounds) हैं। जैसे 'गौः' इस शब्द में **'गकारौकारविसर्जनीयाः'**—ग्, औ, :। (यह वर्णमाला) महामेघ-प्रभा, घोरा, मुक्तकेशी, चतुर्भुजा है, जो अन्य किसी देवता के गलदेश में मुण्डमाला के रूप में लटकती है। किन्तु वास्तव में यह मातृकावर्णमयी है। कमण्डलु,. चतुरानन प्रभृति का विवरण देने जायेंगे तो हमारी पोथी फिर पूरी नहीं होगी। आपाततः शब्द की ओर से मोटी-मोटी कुछ और भी दो-एक बातें हम समझ कर देखेंगे। नादध्वनि प्रधानतः नाभि-स्थान में उत्तेजना-विशेष से उत्पन्न होती है, एवं वाहन हंस प्राणन-क्रिया की शाब्दिक मूर्त्ति है—ये दो बातें ध्यान में रखने पर हमें फिर यह समझना बाकी नहीं रहेगा कि शब्दब्रह्म अथवा ब्रह्मा शब्दतन्मात्र-शरीर हैं, अर्थात् निरतिशय और विशुद्ध शब्दसमष्टि ही ब्रह्मा का कलेवर है; और वे जिसके ऊपर आश्रय करके एवं जिसे वाहन बनाकर रहते हैं, वही नाभिकमल और हंस स्पन्दात्मक परशब्द की प्रतिमूर्ति है। अत एव स्पन्दात्मक परशब्द को मूल बनाकर शब्दतन्मात्र, सूक्ष्मशब्द और स्थूल शब्द—इस त्रिविध अपरशब्द की जो व्याख्या हमने दी है, उसका एक सांकेतिक विवरण (symbolic representation) गल्प के बीच में हम पाते हैं। आपाततः इसे गल्प कहा जाता है, किन्तु यह ठीक गल्प नहीं है। विष्णु सर्वव्यापी और सर्वाधार आत्मा हैं। ब्रह्माण्ड में जिस किसी की भी अभिव्यक्ति होती है, उसका मूल विष्णु मे है। विष्णु ही अभिव्यक्त हो रहे हैं। हम जिन्हें विष्णु का नाम देते हैं, उन्हें प्राचीन वैज्ञानिकों के प्रतिनिधि वकील हर्बर्ट स्पेंसर शायद 'अज्ञेय शक्ति' (Inscrutable power) कहकर छोड़ देंगे। नाम जो भी दिया जाय, विष्णु कहें या आदिशक्ति कहें, इस विश्वाभिव्यक्ति के मूल में और अन्तराल में कुछ रहता है, निखिल सृष्टि की सम्भावना, सूचना और प्रेरणा उसी के भीतर है। वही वस्तु शब्दतन्मात्र के रूप में, शब्द-पराकाष्ठा के रूप में अभिव्यक्त होती है—अर्थात् प्रजापति ब्रह्मा उस मूल वस्तु से आविर्भूत होते हैं। उस प्रकार के आविर्भाव के लिए परशब्द की आवश्यकता है, यह पहले ही हम कह चुके हैं। किन्तु परशब्द होने से ही काम नहीं चलेगा; दो-एक बाधा या अन्तरायों का अतिक्रम किये बिना उस प्रकार की अभिव्यक्ति नहीं होगी। मैं शब्द सुनता हूँ; मेरा सुना हुआ शब्द निरतिशय शब्द अथवा शब्दपराकाष्ठा नहीं है। क्यों नहीं है? पूर्व-प्रबन्ध में हमने शब्द-श्रवण के जिन सब उपादानों व निमित्तों की आलोचना की है, उससे इस

बात का परिष्कार होता है कि मेरे श्रुत शब्द में विकार (deformation) और संकर (confusion) हैं, ये दो दोष थोड़े बहुत रहेंगे ही।

हमारा स्थूल, भौतिक कर्ण अविकृत एवं असङ्कीर्ण शब्द ग्रहण करने योग्य नहीं है। हमारे भीतर जो विष्णु रहते हैं, यही उनका कर्णमल है। इस कर्णमल के रहने के कारण हमारे श्रवण-सामर्थ्य में यह त्रुटि और दोष है, इसलिए हम निरतिशय शब्द या स्वाभाविक शब्द नहीं सुनते; इसलिए हमारा श्रुत शब्द स्थूल शब्द है, शब्द-तन्मात्र नहीं; हमारा कर्ण भौतिक कर्ण है, पारमार्थिक कर्ण (absolute ear) नहीं। शब्द सुनने का सामर्थ्य मुझ में पराकाष्ठा तक नहीं पहुँच सका है; न पहुँच सकने का प्रमाण यह है कि कान पर यन्त्र लगा कर अथवा ध्यानस्थ हो कर अतीन्द्रिय सूक्ष्म शब्द सुनने पड़ते हैं। अभिव्यक्ति की धारा किसी एक बाधा से धक्का पा कर मानो थम गई है, अन्त तक नहीं पहुँच सकी है। सर्वभूतों में ही अभिव्यक्ति की यह दशा दिखाई देती है। जितनी अभिव्यक्ति होने पर सम्पूर्णता या पराकाष्ठा होगी, वह अभी कहीं भी नहीं दिखाई देती। पता नहीं कौन प्रतिबन्धक है, जो सोलह आने खिल उठने नहीं देता? हमारे श्रवण-सामर्थ्य का यह जो दोष या प्रतिबन्धक है, उसे कर्णमल कहना ठीक नहीं है क्या? विष्णु अर्थात् सर्वव्यापी; इसलिये जहाँ कर्ण या श्रवण-सामर्थ्य का आयोजन या व्यवस्था है, वहीं विष्णु का कर्णमल है। अर्थात् केवल तुम्हारे-हमारे घर की बात नहीं है, यह एक जागतिक व्यवस्था है। हाँ, तुम्हारे-हमारे दृष्टान्त में मूल तथ्य समझने की सुविधा हमें हो सकती है। अब हम यदि श्रवण-सामर्थ्य की पराकाष्ठा में उपनीत होना चाहते हैं, तब हमें कर्णमल का परिष्कार कर लेना होगा। हमारे भौतिक कर्ण को पारमार्थिक कर्ण बना लेना होगा। कर्ण के निर्मल न होने पर श्रवण निरतिशय और विशुद्ध नहीं होगा। हम ने जो लक्षण और परिभाषा बना ली है, उनके अनुसार ये सब बातें कह कर हम एक ही बात को केवल घुमा-फिरा कर देख रहे हैं। कर्ण-मल या श्रवणशक्तिनिष्ठ दोष दो कारणों से हो सकते हैं अथवा उनकी विवृति दो प्रकार से दी जा सकती है। आवरण और विक्षेप—तमस् और रजस् हैं। शब्द हुआ, दूसरे सुन पाये, मैं नहीं सुन पाया। यहाँ न जाने किस ने शब्द को मेरे प्रति ढक रखा है। इस आवरण के कारण हम बहुत सूक्ष्म शब्द नहीं सुन पाते, अनेक विपुल शब्द भी हम नहीं सुनते; दो सीमारेखाओं के मध्य में, एक घेरे के भीतर शब्द आ कर हाजिर हो, तभी मैं उसे सुन पाता हूँ। इस

की परिभाषा की जाय तामसिक कर्णमल। और शब्द सुनने पर भी ठीक रूप में सुनने की सम्भावना हमें नहीं है। एक ही समय में नाना वस्तु की उत्तेजना नाना शब्द उत्पन्न करती है। बागीचे में बैठा हुआ हूँ – काक का स्वर, झींगुर का स्वर, चील का स्वर प्रभृति सैकड़ों शब्द एक साथ जुड़कर कन्धे से कन्धा भिड़ा कर मेरे कान में आ रहे हैं, उन का हिसाब कौन देगा? स्थूल भाव से उन्हें हम अलग कर के पहचानते हैं; किन्तु वास्तव में वे घुल मिल कर संकीर्ण हो कर आ रहे हैं, इस बात में सन्देह है क्या? जल में एक ढेला फेंका; एक उत्तेजना का केन्द्र बना एवं उस से चारों ओर तरंगें फैलती जा रही हैं; और एक ढेला फेंका, एक नवीन उत्तेजना का केन्द्र बना एवं उसे घेर कर और भी एक तरंग-पंक्ति बिखर गई, किन्तु पहले की तरङ्गें तब तक भी लीन नहीं हुई हैं। नूतन के साथ पुरातन का संघर्ष हुआ, फलस्वरूप नूतन और पुरातन दोनों ही निजस्व प्रकृति और शृङ्खला से थोड़ा बहुत विच्युत हुए। यह उनका साङ्कर्य (inter erence of waves) है। हमारे श्रुत शब्दों की यही दशा है। किसी एक वस्तु की निजस्व प्रकृति शब्द में हम लोग इसीलिये नहीं पकड़ पाते हैं कि जिसे हम किसी वस्तु का शब्द कहते हैं, वह निश्चय ही उसका निजस्व और स्वाभाविक शब्द नहीं है। इस विश्व के हाट में सभी चिल्ला-पुकार रहे हैं; इस चीख-पुकार के बीच अपने खोये हुए मामा का कण्ठस्वर चुन लेना मेरे लिये एक प्रकार असम्भव ही हो गया है। हाँ, अवश्य ही "अध्येतृ-वर्ग-मध्यस्थ-पुत्राध्ययन-शब्दवत्" मामा की पुकार बिल्कुल ही नहीं सुन रहा हूँ, ऐसा भी नहीं है। वह पुकार अन्य पाँच पुकारों के साथ घुलमिल कर अपने को ढके हुए है। जगत् की निखिल सामग्री के जिस क्षेत्र में भीड़ में पृथक् रूप से अलक्षित 'हरिबोल'* कहने की व्यवस्था है, उस क्षेत्र में मैं विकृत, मिश्र शब्द सुनने

* बंगाल में मन्दिरों में ऐसी प्रथा है कि प्रसादरूप बताशे 'हरि बोल' कह कर लुटाये जाते हैं। उस 'लूट' में सभी लोग 'हरि बोल' कहते हैं। उस सम्मिलित उच्चरव में किसी का कण्ठस्वर पृथक् रूप से लक्षित नहीं होता। इसलिए जिस व्यापार में समूह ही प्रमुख रहे, व्यक्तिगत विशेषता लक्षित न हो, उसे लक्षणा द्वारा 'गोल में हरि बोल देना' कह देते हैं। संगीतकारों में इसी प्रकार से 'शामिलबाजा' कहावत प्रचलित है, जिसका प्रयोग तब किया जाता है जब कोई गायक या वादक सामूहिक गायन-वादन में अपना कण्ठ-स्वर अथवा वाद्य-स्वर अलक्षित रख कर दोषप्रच्छादन का यत्न करे।—अनुवादिका।

को वाध्य हूँ। मिश्र (मिलावटी) को पकड़ कर संशोधन कर लेने का सामर्थ्य मेरे कान में नहीं है। यह कर्ण का एक और दोष है। इसका नाम दे लें-- राजसिक कर्णमल। इस कर्णमल के कारण श्रुत शब्द भी चक्कर काट रहे हैं प्रकृति या स्वभाव से विच्युत, विक्षिप्त हो रहे हैं। इस दो प्रकार के कर्णमल में पहला मधु है, दूसरा कैटभ; एक तमस्, दूसरा रजस् है। इस कर्णमल का संस्कार (शोधन) न होने पर, क्या मुझ में, क्या तुम में, क्या प्रजापति में, —पारमार्थिक कर्ण अथवा शब्दग्रहण-शक्ति की पराकाष्ठा अभिव्यक्त नहीं हो सकती। विष्णु प्रजापति अथवा ब्रह्मा के रूप में निखिल स्वाभाविक अथवा वैदिक शब्दराशि को अभिव्यक्त किए जा रहे हैं; उस प्रकार अभिव्यक्त होने की कोई सम्भावना नहीं है, जब तक कर्णमल बना हुआ है। रूपक के बहाने कह लें, बात किन्तु सीधी है, एवं उसमें आपत्ति करने लायक कुछ नहीं है। अभिव्यक्ति-धारा (stream of evolution) को पराकाष्ठा में पहुँचने के लिये सब घेरों, बन्धनों का अतिक्रम कर के जाना होगा, यह बात कहना पूर्वोक्त की पुनरुक्ति करना मात्र है। जो निर्मल बनना चाहेगा, उसे मैला धो कर पोंछ देना होगा, यह कहने पर कोई नवीन बात कही जाती है क्या? तुम जल में ढेला फेंक दो तो उस का शब्द सुनने के लिये मुझे कान से उंगली हटा लेनी होगी; उसी प्रकार कारण-सलिल में जो चाञ्चल्य है, उसे निरतिशय भाव से सुनना हो तो श्रवण-सामर्थ्य की कुण्ठा और कृपणता, अर्थात् कर्णमल के रहने से तो काम नहीं चलेगा न! इसलिये प्राजापत्य अधिकार को निरुद्वेग करने के लिये कर्णमल दूर करना ही चाहिये। इस कारण शास्त्र कहते हैं - मधु व कैटभ 'विष्णु-कर्णमलोद्भूतौ ब्रह्माणं हन्तुमुद्यतौ'*। दैत्यद्वय के विनष्ट न होने पर अर्थात् कर्णमल के दूर न होने पर ब्रह्मा की पदवी अर्थात निरतिशय श्रवण-सामर्थ्य अक्षुण्ण और चरितार्थ नहीं हो सकती। साथ ही विष्णु की योग-निद्रा न होने पर दोनों दैत्यों का प्रादुर्भाव नहीं होता।

बीज के भीतर जो कुछ प्रसुप्त और प्रच्छन्न भाव से रहता है वह यदि जाग्रत् और परिस्फुट हो कर रहता तब तो बीज वृक्ष हो कर ही रहता। बीज से धीरे-धीरे वृक्ष होता है इस क्रमिक और धारावाहिक व्यापार का फिर कोई अर्थ ही नहीं रहता। अभ्युदय अथवा क्रमविकास नामक प्रवाह फिर निरर्थक हो जाता। बीज के भीतर जो विघ्न है, जो वैष्णवी शक्ति है,

*दुर्गासप्तशती १.६८—अनुवादिका।

वह निद्रित हैं, इसीलिए वीज आपाततः वीज ही वना रहा है; उस शक्ति की निद्रा अर्थात् मूर्च्छितावस्था (potential condition) जैसे-जैसे अपगत होगी, वीज की पादप-रूप में परिणति भी वैसे-वैसे प्रकृत होती जायेगी। इस-लिए सर्वभूतान्तरात्मा विष्णु के न सोने पर और न जागने पर किसी भी वस्तु के घटने-वढ़ने, उदय-विलय का प्रसङ्ग ही अर्थहीन हो जाता है। वस्तु की ह्रासवृद्धि का अर्थ ही है उसके भीतरी शक्ति-व्यूह की विभिन्न अवस्था। विश्व का उदय-विलय होता है यह देख कर हम समझते हैं कि जो वस्तु विश्व के वीज अथवा मूल-रूप में है, उसका एक प्रकार का संकोच और विकास अवश्य है। ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति ये तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं, अथवा सभी शक्तियों के आश्रय जो जगन्निवास हैं, उनके अनन्त शक्तिव्यूह के सभी समय में ठीक एक भाव में रहने पर किसी प्रकार का संचलन, ह्रास-वृद्धि, उदय-विलय संभव नहीं है, सुतरां सृष्टि अथवा जगत् कहने पर हम जो समझते हैं वह विल्कुल सम्भव नहीं हो सकता। यह विज्ञान की परीक्षित और स्वीकृत वात है, दर्शनशास्त्र की दुर्वोध्य पहेली नहीं है। विज्ञान जिसे कार्यकरी शक्ति (energy) कहता है, उसकी दो अवस्थाएँ हम देखते हैं। एक प्रच्छन्नावस्था (potential अथवा static condition), दूसरी उदार अथवा व्यक्त अवस्था (kinetic condition) है। जल की कणिकाओं के नूतन भाव में विन्यस्त और सज्जित होने पर वर्फ़ होती है, इस अभिनव विन्यास (new configuration) के फल-स्वरूप वर्फ़ की उत्पत्ति में प्रचुर ताप प्रच्छन्न भाव से रहता है; पुनः वर्फ़ जव गल कर जल होने लगेगी तव वही प्रच्छन्न ताप-शक्ति हिसाव में पकड़ी जा सकेगी। पुनश्च, जल जव वाष्प में परिणत होता है, तव भी इस प्रकार की एक अवस्था होती है। जल के भीतर जो विष्णु हैं, उनके सव समय ठीक एक अवस्था में रहने पर जल जल ही रह जाता, वर्फ़ या वाष्प नहीं वन पाता। इस प्रकार देखने पर हमारे भीतर भी विष्णु हैं, तुम्हारे भीतर भी हैं। जो मेरे भीतर हैं, वे यदि सव समय ठीक समवस्थ रहते तो मैं भी सव समय समवस्थ ही रह जाता; मेरे ज्ञान और कर्म सव समय ठीक इसी प्रकार होते; किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये समझता हूँ कि मेरे मूल में एक परिवर्तन और क्रमिकता की व्यवस्था है; मेरा ज्ञान और शक्ति अल्प और संकीर्ण होकर रहते हैं, इससे भी समझता हूँ, अथवा इस व्यापार को यह कह कर वताता हूँ कि विष्णु मेरे भीतर योगनिद्रा में आच्छन्न होकर पड़े हुए हैं। मेरी अभि-

थी। कर्णमल और रसनामल के माहात्म्य से हमारे श्रुत और उच्चारित शब्द चक्कर काट कर क्रमशः मिलावटी और अस्वाभाविक होते जा रहे हैं।

जाती। इसीलिये जह्नु मुनि को जंघा चीर कर गङ्गाजी को बाहर निकाल देना पड़ा। 'जंघा' कहने से उत्तमाङ्ग से अधमाङ्ग में अवतरण—उच्च स्तर से शिष्यसंप्रदाय की कल्याण-कामना से निम्न स्तर में उतर आना समझाया गया। पद्मासुर के पीछे-पीछे जाकर हमें पथभ्रष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। साधक-सम्प्रदाय-प्रवाह को अविच्छिन्न रखने के लिये, वेदशब्द की ग्लानि और शब्द-संकर का अभ्युत्थान निवारण करने के लिये, भगीरथ की तपस्या को सूत्र एवं उपलक्ष्य बनाकर सनातन शब्दमाला का हमारे लोक में जो अवतरण है, वही गङ्गा का आविर्भाव है—यह मूल बात उपाख्यान के भीतर से स्पष्ट नहीं होती क्या? परशब्द, शब्द-तन्मात्र, सूक्ष्म शब्द और स्थूल शब्द—इन कुछ-एक सीढ़ियों या स्तरों में शब्द हमारे लोक (plane) में उतर आता है. इस बात का सन्धान इस आख्यायिका में से हम पहले ही आविष्कार कर सके हैं। 'सनातन शब्दमाला' सुनकर नास्तिक महाशय कहीं चौंक न पड़ें। यह एक संज्ञा है, जैसे कि गणितशास्त्र की अनेक संज्ञायें हैं। संज्ञा यह है कि किसी भी द्रव्य के मूल में अवश्य एक शक्तिव्यूह (system of constituting forces) रहता है। यदि वह शक्ति-व्यूह-जनित चाञ्चल्य किसी पारमार्थिक श्रवणसामर्थ्य के समीप शब्द-रूप में पकड़ में आ जाये तो वही शब्द उस द्रव्य का स्वाभाविक शब्द, बीज-मन्त्र अथवा वैदिक शब्द है। कहना न होगा कि यह लक्षण मानने पर यह भी मानना ही पड़ेगा कि इस प्रकार के शब्द के सहित उसके विषय का अथवा अर्थ का सम्बन्ध नित्य अथवा सनातन है। किसी द्रव्य के तीन बिंदु संयुक्त करके देखो, एक सरल रेखा मिलेगी; अब द्रव्य स्थिर रहे अथवा चलता-फिरता रहे, उसके तीन बिन्दु यदि एक सरल रेखा में ही बार-बार रह जायें, तब उस द्रव्य को गणित की परिभाषा में कठिन द्रव्य (rigid body) कहते हैं। सचमुच ही वैसा कोई जड़ द्रव्य है कि नहीं, यह अलग बात है। उसका कोई भी मनगढ़न्त (*a priori*) उत्तर नहीं दिया जा सकता; परीक्षा करके देखना होगा। वर्तमान क्षेत्र में भी अपने-अपने अर्थ के साथ नित्य-सम्बन्ध के बन्धन में बद्ध ('वागर्थाविव सम्पृक्तौ' *उपमा देने की वस्तु है) कोई स्वाभाविक शब्दमाला सचमुच ही है कि नहीं, उसका भी कोई मनगढ़न्त उत्तर नहीं दिया जा सकता। उसकी सत्यता भी परीक्षा-सापेक्ष है। किन्तु हमें लक्षण और परिभाषा करने में कोई बाधा नहीं है। क्यों उस प्रकार की परिभाषा कर रहे हैं, उसकी कैफ़ियत पूर्व-प्रबन्ध में शायद कुछ-कुछ स्पष्ट हुई

* रघुवंश का प्रथम श्लोक।—अनुवादिका।

थी। नास्तिक महाशय के साथ आपाततः हम और बात-चीत नहीं करेंगे। मधु-कैटभ-वध और गङ्गा का भूतल पर अवतरण, इन दो वृत्तान्तों में से हमारे शब्दतत्त्व की अनेक मर्मकथायें हम खींच कर बाहर निकाल सके हैं। उपाख्यान के जिस-जिस अंश में शास्त्रकारों ने रहस्योद्घाटन की चाबी रख छोड़ी है, उस-उस अंश को टटोल कर हम बिल्कुल विफल-मनोरथ नहीं हुए हैं। पहले उपाख्यान में 'कर्णमल' शब्द एवं दूसरे उपाख्यान में 'गोमुखी' प्रभृति शब्द न पाने पर, हमारा तथ्यान्वेषण सफल और सहज न होता। **"गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि"**— गङ्गा-सलिल में अवगाहन करके इस मन्त्र का स्मरण करते-करते गङ्गा की मन्त्रात्मिका मूर्ति ही उज्ज्वल होकर हृदय में जाग पड़ती है; मन्त्र का विशुद्ध भाव से उच्चारण कर सकने पर ही वह अर्थ-सफलता से धन्य हो उठेगा, यह महासत्य ही हमारी बुद्धि में प्रकाशित हो उठता है। यन्त्र-शुद्धि एवं तन्त्रशुद्धि उसके लिये आवश्यक है। तब आशङ्का होती है, कलि के प्रभाव से, शब्द-संकर, शब्दविकार और शब्दसङ्कोच जिस मात्रा में बढ़ते जा रहे हैं, उनसे गुरु-परम्परागत स्वाभाविक शब्दमाला गङ्गा-रूप में इस मेदिनी-मण्डल के कलुष-कलङ्क का क्षालन करने के लिए, साधक का योगक्षेम वहन करने के लिये, शायद अब अधिक दिन नहीं रहेंगी। भगवान् के मीनकलेवर में, वराह-मूर्ति में जो पुनः-पुनः वेद-समुद्धार हुआ है, प्रलय-पयोधि-जल में वट-पत्र पर 'शयान' होकर उनके द्वारा जो वेद की रक्षा हुई है— उन सभी बातों की गहराई में जा कर आलोचना करने जाएँ तो भी हम शब्द-तत्त्व में ही जा कर उपनीत होंगे। हाँ, उस आलोचना का अवसर आज हमें नहीं है। मोटा-मोटी दोनों उपाख्यानों की जितनी-सी आलोचना हम कर पाए हैं, उससे, आशा है, हमारे वेद-पुराणों की आख्यायिकाएँ अफीमचियों के अड्डे में रची गई हैं—ऐसा सोचने में नास्तिक महोदय को भी कुछ-कुछ द्विधा अब अवश्य होगी।

मन्त्र का जो लक्षण और व्याख्यान मिला, उसने शास्त्र की दिशा में बिल्कुल पदार्पण नहीं किया यह बात कहने पर, मुझे लगता है, कुछ अनाड़ी जैसी बात हो जाएगी। दर्शनों के सम्बन्ध में जो भी हो, उपनिषद् अथवा अध्यात्म-शास्त्र ठीक नैयायिक महाशय की फ़रमाइश के अनुसार नहीं चले हैं। शिशु ने पूछा—"पृथिवी कैसे पथ से सूर्य के चारों ओर चक्कर काटती है?" मैंने उससे कहा—"वृत्त की तरह गोलाकार पथ में।" किन्तु पथ तो ठीक वृत्त की तरह नहीं है। शिशु बड़ा हुआ, उसकी बुद्धि और भी परिपक्व हुई, तब मैंने भूल का संशोधन कर दिया, कह दिया कि यह पथ वृत्त नहीं है, वृत्ताभास (ellipse) है। विशेषज्ञ लोग जानते है कि यहाँ भी अव्याहति नहीं है, प्रयोजनानुसार और भी संशोधन कर लेना पड़ता है। अध्यात्मशास्त्र में भी इसी प्रकार है। शिष्य को ब्रह्म-जिज्ञासा हुई; गुरु ने कहा 'तुम जो अन्न खाते हो वही ब्रह्म है'। बाद में संशोधन करके कहा, 'प्राण ब्रह्म है'; इस प्रकार शिष्य की अध्यात्म-दृष्टि जितनी ही प्रस्फुटित और प्रसारित होने लगी, उतना ही गुरु उसे ब्रह्म की नूतन-नूतन मूर्तियाँ दिखाने लगे; 'ब्रह्म' शब्द को बहाल रखा, किन्तु उसके लक्षण क्रमशः बदलने लगे; अन्त में शिष्य ने स्वयं ही उपलब्धि कर ली कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। एक ही शब्द के ये पाँच लक्षण एक-साथ पास-पास रख देने से नैयायिक महाशय की शिरःपीड़ा का गुरुतर कारण अवश्य घटित होगा, किन्तु जहाँ साधक की बुद्धि धीरे-धीरे विकसित होकर एक के बाद एक, व्यापक से व्यापकतर लक्षण आविष्कार कर लेती है, वहाँ आदि से अन्त तक एक ही शब्द को बहाल रखने में हानि नहीं है; वरं वही स्वाभाविक है। ब्रह्म क्या है? आत्मा क्या है?—यही मैंने जानना चाहा है; मेरा जानना शायद क्रमशः गम्भीरतर और व्यापकतर होता चलेगा; किन्तु मेरे अनुसन्धान, अन्वेषण की वस्तु तो एक ही रही, केवल इतना ही है कि क्रमशः उसे अच्छी तरह पहचान एवं पकड़ पा रहा हूँ। इस क्षेत्र में मेरे अन्वेषण की सामग्री का नाम न बदलना ही अच्छा है। इसलिए अन्न ही समझूँ, प्राण ही समझूँ, या मन ही समझूँ, मैं खोज रहा हूँ आत्मा को, ब्रह्म को। जैसा समझ रहा हूँ, वैसा लक्षण देता हूँ। अध्यात्मशास्त्र की यही रीति है - 'अरुन्धती-दर्शन-न्याय' से। नवोढ़ा वधू को पातिव्रत्य के निदर्शन-स्वरूप अरुन्धती नक्षत्र दिखाने की प्रथा पहले थी। किन्तु अरुन्धती छोटा तारा है, सहज में दिखाई नहीं देता। इसीलिए उसके निकट एक स्थूल, उज्ज्वल तारा की ओर अङ्गुलि-निर्देश करके स्वामी ने वधू से कहा—"यह देख अरुन्धती है"। जब वधू की दृष्टि उस पर सुस्थिर हुई, तब फिर स्वामी ने कहा—"नहीं, यह नहीं,

एक अक्ष (axis of rotation) के अवलंबन से होता है। हमारी पृथिवी भी एक अक्ष का अवलंबन करके चक्कर खा रही है। चुरुट का धुआँ चक्कर खाते हुए ऊपर उठता है। इस प्रकार का चक्कर खाना भी अवश्य एक अक्ष को आश्रय करके ही होता है। हेल्महॉल्ट्स और लॉर्ड केल्विन समझते थे कि अणु 'ईथर'-सागर में इसी प्रकार के एक-एक आवर्त हैं। यदि यही हो तो उनके आवर्तन भी एक-एक अक्ष को आश्रय कर के ही होते हैं। इलेक्ट्रॉन अणु (atom) के भीतर चक्कर खाते हैं यहाँ भी हमें अक्ष को मान लेने का अधिकार है। जहाँ गति केवल एक ओर सीधे-सीधे चली जाती है, वहाँ उस गति की रेखा ही अक्ष है। जहाँ आवर्तन (rotation) हो रहा है, वहाँ अक्ष वही रेखा है, जिसके चारों ओर एवं जिसके आश्रय में आवर्तन हो रहा है। जैसे गाड़ी के चक्के का अक्ष है। जो दो प्रकार की गति कही गयी है उन दोनों के विविध सम्मिश्रण से सब प्रकार की गति हो रही है। इसलिए अक्ष की सहायता से ही सब प्रकार की गति का हिसाब हमें लेना पड़ता है। गणित-शास्त्र ने अक्ष की सहायता से (co-ordinate axis की सहायता से) गति (curve of motion) का विश्लेषण और विवरण देकर ऐसा कुछ नितान्त अद्भुत काम नहीं किया है। इसीलिए हमें कहने का साहस होता है कि अक्ष की बात इस गत्यात्मक जगत् के मूल की बात है। गति की परीक्षा करके हमने यही पाया है। पदार्थसमूह की, विशेषतः सजीव पदार्थ-समूह की उत्पत्ति किस प्रकार हो रही है, इसे यदि हम परीक्षा करके देखें तो अक्ष (axis of generation) वस्तु को ही अधिक स्पष्ट करके देख सकते हैं। वृक्ष क्या है? – एक मूलकाण्ड का अवलम्बन करके शाखा-प्रशाखा चारों ओर फैल रही है; एक पत्ते की परीक्षा करके देखें, एक मुख्य शिरा का अवलम्बन लेकर शत-शत शिरा-प्रशिराएं पत्रावयव में फैली हुई मिलेंगी। अतएव यहाँ अक्ष की व्यवस्था है। एक लता इस वर्षा के रस में बढ़कर पेड़ पर छा गई है। परीक्षा करने पर देखेंगे कि एक मूल अक्ष के आश्रय में लता के नाना और नाना प्रशाखायें निकली हुई हैं। एक मूल (primary) अक्ष है; उससे और कितने ही गौण (secondary) अक्ष निकले हुए हैं। उच्च श्रेणी के जीवदेह की परीक्षा करके देखते हैं, कि मेरुदण्ड (spinal axis) का आश्रय लेकर स्नायुजाल सर्वाङ्ग में फैल कर प्राणन-व्यापार का निर्वाह करता है। Wiseman प्रभृति जीवतत्त्वज्ञों ने हमसे कहा था कि वंशपरम्परा में एक ही बीज पदार्थ (germplasm) बराबर चलता

हैं; हम में, तुम में उसकी अल्पविस्तर विभिन्न मूर्तियाँ तो प्रकाश पाती हैं, किन्तु हमारे भीतर वंशगत बीज, अपनी निजस्व प्रकृति को प्रायः अविकृत और अविच्छिन्न रखकर ही चलता रहता है। मेरे पितामह, पिता और मैं—एक ही अक्ष का आश्रय करके लता की नाना प्रशाखाओं की भाँति इस ओर, उस ओर फैल गये है। किन्तु हम सभी को एक सूत्र में सम्बद्ध करके रखते हुए वंशधारा, लता के मुख्य अक्षदण्ड की भाँति अविच्छिन्न भाव से बहती जा रही है। मेरी उत्पत्ति, मेरे पिता की उत्पत्ति इस अक्ष को आश्रय करके ही हुई है; 'Mendelism. Emergent evolution' प्रभृति ने इस तत्त्व का नाना रूप से विस्तार किया है। और दृष्टान्त नहीं लेंगे; हाँ बात यह ठहरी कि अक्ष नाम की वस्तु सृष्टि या अभिव्यक्ति-व्यापार में मूल की बात है। अक्ष मुख्य या गौण हो सकता है—लता के दृष्टान्त में, मूल अक्ष के अतिरिक्त प्रशाखाओं के भी छोटे-छोटे अक्ष होते हैं। यहाँ समस्या यह है—जगत् में विचित्र शब्द है; नाना जीवों के नाना शब्द है; नाना जातियों की नाना भाषाएँ हैं; तुम्हारे-हमारे शब्द भी ठीक एक नहीं है; विश्व में इस शब्द-वैचित्र्य की उत्पत्ति—नाना प्रकार की भाषा की उत्पत्ति—क्या किसी अक्ष को आश्रय कर के नहीं हुई है? ध्वनि-वैचित्र्यों की अच्छी तरह खोज-बीन करके देखने पर उनमें क्या हम किन्हीं मूल शब्दों (primaries) का आविष्कार नहीं कर सकते हैं? फूरियार की रीति से गणितविद् चाहे जिस जटिल छन्दोबद्ध गति (complex harmonic motion) को सरल छन्दोबद्ध गति (simple hormonic motion) में पृथक् करके दिखा दे सकते है, यह बात आप भूलें नहीं। विराट् शब्द-वैचित्र्य के भीतर हम क्या एक अविच्छिन्न मौलिक शब्द-धारा का आविष्कार करने की आशा कर सकते हैं? लता को खींच कर उसके मुख्य मेरुदण्ड को जिस प्रकार हम ढूँढ कर निकाल सकते हैं, उसी प्रकार? इस प्रश्न का उत्तर है,—हमारा उस प्रकार का आविष्कार कर पाना ही उचित है; एवं वही यदि हो तो यह हमें ध्यान रखना होगा कि शब्द की इस विराट् विश्वरूप मूर्त्ति का जो मेरुदण्ड (axis of generation) है, निखिल शब्द-राशि की जो मूल प्रकृति है, वही वह स्वाभाविक शब्द-प्रवाह, वेदशब्द-धारा, गङ्गा का आविर्भाव है, जिसकी बात हम अब तक दो-तीन दिन से समझने की चेष्टा कर रहे हैं। **'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'*** इस अव्यय अश्वत्थवृक्ष को हम अब तक समझ सके हैं क्या? प्राजापत्य भूमि से हमारी ओर शब्दप्रवाह

---

* श्रीमद्भगवद्गीता १५.१—अनुवादिका।

प्रभृति के अनुष्ठान में जिस प्रकार मन्त्र चाहिए, यन्त्र भी उसी प्रकार चाहिए। मन्त्र और यन्त्र के 'कुमंस्कार' इतनी देर में हम कुछ समझ सके हैं क्या ?

हमने अब तक केवल शुद्ध स्वाभाविक शब्द की आलोचना की। किन्तु स्वाभाविक शब्द के अर्थ को स्थितिस्थापक (elastic) मान कर उसका एक अच्छा खासा श्रेणी-विभाग भी किया जा सकता है। पूर्व प्रबन्ध में इसका उल्लेखमात्र करके छोड़ दिया था, आज भी हमें अवकाश नहीं है। उस श्रेणी-विभाग का एक सामान्य नमूना दिखा कर ही आज भर के लिए क्षान्त हो जाऊँगा। अपरशब्द को लेकर श्रेणी-विभाग करता हूँ।

अपर-शब्द दो प्रकार का है—स्वाभाविक और अस्वाभाविक (artificial)। किसी एक पदार्थ को समझाने के लिए हम अनेक बार यदृच्छा-क्रम से (arbitrarily) किसी एक वाचनिक सङ्केत (vocal sign) का व्यवहार किया करते हैं; जिस सङ्केत का व्यवहार करते हैं, उस सङ्केत का व्यवहार न करके अन्य सङ्केत का व्यवहार करने पर भी चलता; जिस नाम से बुला रहे हैं उस नाम से ही पुकारने का कोई नियत हेतु नहीं है, जिस प्रकार हम किसी व्यक्ति को 'यदु' या 'हरि' इस नाम से बुलाया करते हैं। यह नाम अस्वाभाविक या कृत्रिम या मनगढ़न्त नाम है। कहना न होगा कि हमारे स्वाभाविक शब्द अथवा नाम का जो लक्षण है, वह इन सब क्षेत्रों में नहीं है। नाम को स्वाभाविक होन के लिए पदार्थ की सत्ता और स्वरूप के साथ किसी प्रकार का एक सम्पर्क रखना ही होगा। जो नाम रखा जाए, उसका एक हेतु, अथवा कैफ़ियत रहेगी ही। सुतरां इस प्रकार का नाम हम अपने खामख्याली के अनुसार नहीं दे सकते।

तत्पश्चात्, स्वाभाविक नाम पुनः दो प्रकार का है—निरतिशय और सातिशय; प्रकृत और विकृत (pure एवं approximate)। पारमार्थिक कर्ण में श्रुत शब्दतन्मात्र ही निरतिशय शब्द है; वही शब्द की प्रकृति है। श्रवण-सामर्थ्य की जो पराकाष्ठा नहीं है, कर्ण में इस प्रकार का श्रुत शब्द सातिशय शब्द है, वह थोड़ा-बहुत विकृति-प्राप्त है; बिल्कुल शुद्ध शब्द नहीं है। दिव्यकर्ण और लौकिक कर्ण इस शब्द को सुनने में समर्थ हैं। निरतिशय शब्द की परिभाषा करके छोड़ देने के अतिरिक्त हमारी दूसरी गति नहीं है। सातिशय शब्द का श्रेणी-विभाग हम करते हैं। कोई पदार्थ है, उसका मूलीभूत शक्तिव्यूह समष्टिभाव में (as a whole) दिव्यकर्ण में जो शब्द उत्पन्न करता है, वही शब्द उस पदार्थ की मुख्य (primary) संज्ञा है। यह पदार्थ

का वीजमन्त्र है। जिस प्रकार अग्नि का मुख्य नाम 'रं' है; आकाश का 'हं' है; प्राणन क्रिया का 'हंस' है, इत्यादि। ये सब मौलिक अथवा यौगिक (simple अथवा compound) हो सकते हैं। 'रं' पूर्वोक्त प्रकार का है और 'ह्रीं' वा 'श्रीं' शेषोक्त प्रकार का है। मौलिक वीजों के संयोग या सम्मिश्रण से यौगिक वीज होते हैं। प्रकारान्तर से, पदार्थ के शक्तिव्यूह व्यष्टिभाव में (specifically) आंशिक भाव में, क्रिया करके जो शब्दानुभूति जन्माते हैं, उस शब्द को उस पदार्थ का गौण (secondary) नाम कहा जा सकता है। यह नाम वीजमन्त्र नहीं है। मान लें काक ने आवाज़ की, उसकी आवाज़ सुन कर हम उसका नाम 'काक' रखते हैं; यहाँ जिस शक्तिव्यूह ने काक को 'काक' बना रखा है, उसकी ही एक आंशिक अभिव्यक्ति उसकी आवाज में है; काक का चलना-फिरना, खाना-रहना प्रभृति अपरापर अभिव्यक्ति भी होती है; काक शब्द भी नाना प्रकार से करता है। अतएव हम कह सकते है कि 'काक' यह शब्द काक का गौण स्वाभाविक नाम है। और काक स्वयं ही बोलता है, कोई उससे बुलवाता नहीं है, अतएव उसका शब्द स्वतःसम्भूत है। ढाक (ढोल) पर लकड़ी मार कर उसकी आवाज सुन कर उसका नाम रखा 'ढाक'। यह उसका गौण स्वाभाविक नाम है। हाँ, इस क्षेत्र में शब्द स्वतःसम्भूत नहीं है, परतःसम्भूत है। इन दो स्थलों में भी शक्तिव्यूह व्यष्टिरूप से साक्षात् सम्बन्ध में श्रवणेन्द्रिय को उत्तेजित कर रहा है; काक का शब्द अथवा 'ढाक' का शब्द मैं सुनता हूँ और सुन कर नाम रखता हूँ।

होगा। कोई भी किसी का 'तल्पिवाहक' (पालकी उठाने वाला) बनेगा तो नहीं चलेगा। भारत की स्वाधीनता के आरम्भ से ही 'समर्थ' मिलन-मन्त्र उच्चारित होगा, ऐसा लगता है। उसके लिए, स्वाधीन भारत को अपने 'स्वभाव' में प्रतिष्ठित, समर्थ रहना होगा। 'लेबोरेटरी' को भी अपने सत्यानुसन्धान के 'ऋत' को स्वभाव में रखकर ही शिव और सुन्दर के साधन और उपलब्धि में प्रवृत्त होना पड़ेगा।

अन्त में और एक बात। पूर्व की चर्चा से "स्वाभाविक शब्द" को सभी लोग अपनी पहुँच के बाहर एक 'कल्पित पराकाष्ठा' (theoretical possibility or limit) समझ कर छोड़ न दें। निरतिशय श्रवण अथवा उच्चारण-सामर्थ्य में ही शब्द का श्रेष्ठ सामर्थ्य है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु वह सामर्थ्य हमारे भी अर्जन की वस्तु है। उसका साधन ही जपादि है। प्रधानतः वाग्-यन्त्र अथवा श्रवण-यन्त्र का अभ्युदय-साधन करके यह सिद्धि अर्जित नहीं होती। जैसे गुणी तानसेन की संगीत-साधना में सिद्धि केवल गले की कसरत के हिसाब में नहीं है। देह, प्राण और मन--इन तीन को लेकर एक यन्त्र है। सुतरां साधन का उद्देश्य है इन तीनों (देह, प्राण, मन) का श्रेष्ठ भाव से योग्यता-संपादन। इसके लिये बहुत कुछ आध्यात्मिक सम्पदा का अनुशीलन आवश्यक है। श्रद्धा, भाव-भक्ति, विशेषतः प्रेम। क्योंकि यन्त्र को शुद्ध, एकतान, उन्मुख, एकाग्र करने में, सनातन गङ्गा प्रवाह को अपने आधार पर धारण करने में--इन सबके समान और क्या है?

सृष्टि के सर्वावयव (क्या अणु क्या महान्) में जो मौलिक यन्त्र है, उसे ही पकड़ने की चेष्टा कर रहा है। यन्त्ररूप कहने से तीन को ही समझना होगा--आकृतिरूप (form pattern), क्रियारूप (function pattern) एवं शक्तिरूप (force or power pattern)। अणु के भीतर नाभि, अर, नेमि—इन तीनों का सन्धान बहुत दिन से मिल चुका है। सम्प्रति 'नाभि' अथवा केन्द्रनिष्ठ जो यन्त्र है, उसी में अधिक मनोयोग है। फलतः नाभि में महाशक्ति-व्यूह का आविष्कार और प्रयोग भी सम्भावित हुआ है। उस प्रयोग ने हमें वर्तमान में आश्वस्त नहीं किया है, सन्त्रस्त किया है। जो कुछ भी हो, सूक्ष्म के दहराकाश में विन्यस्त यह विपुल शक्तियन्त्र ही असली बात है। उस यन्त्र की एक प्रतिकृति (graphic representation) आँकने की चेष्टा भी न होती हो ऐसा नहीं है। किन्तु प्रतिकृति निर्धारित नहीं हो पायी है। उस प्रतिकृति के हमारे 'कल्पनायोग्य' (picturable) न होने पर भी क्षति नहीं है। पूर्व शतक में लार्ड केल्विन् की भाँति हम ऐसा हठ अब नहीं करते-- कि किसी भी 'तथ्य' के वास्तविक होने के लिए उसका एक 'यांत्रिक आदर्श' (mechanical model) बना सकना हमारे लिये आवश्यक है। mechanical क्यों, mental image की भी बला अब वैसी नहीं है। रादरफोर्ड का आणविक ढाँचा अब सब ओर पूरा उतरने में अयोग्य है। फिर भी इतना सही है कि अणु की नाभि में एक शक्तिव्यूह रूप है ही। वह व्यूह ठीक कैसा है, यह भले ही अभी हम न जान सके हों।

अध्यात्मविज्ञान की दृष्टि से ऐसा लगता है—जिसे अणु की नाभि समझते हैं, वह भी उसके बाहर का ही खोल—disposition of crustal or shell forces है। मूल से सृष्टि की धारा ने यहाँ उतर कर मानो अपनी व्यक्त शक्तिराशि को 'जमा' करके रखा है; भीतर में प्राण रूप से, मन रूप से, चैतन्य और आनन्द रूप से शक्ति के 'अन्तर्भवन' अपनी-अपनी स्वाभाविक भङ्गी में (अर्थात् यन्त्र में) सजे हुए हैं। उन सबका सन्धान अभी भी हमें नहीं मिला है। क्रमशः, अन्य उपाय से, मिलेगा। क्योंकि जड़यन्त्र को आयत्त में लाने का जो उपाय, जो कौशल है; प्राणादि के यन्त्र को आयत्त में लाने का ठीक वह उपाय, वह कौशल नहीं है। उसकी विद्या (technique) अलग है। उस विद्या को अध्यात्म-विज्ञान से पाना होगा।

की सीमा से बाहर ले जा रहा है। हाँ, अन्वीक्षा में पदार्थसमन्वय और संगति की सुविधा ही हो रही है, ऐसा लगता है। विराट् का भी निश्चय ही एक 'यन्त्र' रूप है—आकृति, क्रिया एवं शक्ति-विन्यास इन तीनों रूपों में। वह रूप कल्पना द्वारा आँकने योग्य न होने पर भी है तो सही। जैसे हिसाब में अत्यन्त जटिल हो जाने से अथवा परीक्षा की 'धुलाई' में न टिक पाने से पहले वाले 'ईथर' को हमने छोड़ दिया। किन्तु स्वगत-संस्थान-विशिष्ट Space (intrinsic geometry of space) ने विराट् की जो यन्त्रमूर्ति है, उसे नूतन करके दिखा दिया। यन्त्र द्वारा ही मध्याकर्षणादि (gravitation) की व्याख्या उसने की है। आलोक के गतिवेग को ध्रुव-संख्या मानकर विश्व का सब कुछ 'समीकरण' में लग गया। काल्पनिक संख्या (i) सब मौलिक गिनाई (जैसे हाईज़नबर्ग-समीकरण) में प्रविष्ट हो गई। इससे ठीक ही हो रहा है, ऐसा लगता है। यन्त्र कह रहा है कि अब वह यन्त्र 'यान्त्रिक' (mechanical) नहीं रहेगा और मानसिक (mentally picturable) भी नही रहेगा। ठीक ही कह रहा है। मूल में जो आद्याशक्ति है, वह यदि अनन्त चिच्छक्ति लीलाशक्ति हों, तब किसी 'वस्तुतान्त्रिक' खोल में उस शक्ति को भरेगा कौन? **'अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्'**†—सर्वत्र सर्वतोभाव से प्रविष्ट होकर भी वह सब का अतिक्रम करके जो रहती है! उनके **'एकांशेन स्थितं जगत्'***। अतएव यन्त्र के सम्बन्ध में हमारी समस्त विवृति - अधिक से अधिक नैकटिक (approximate) है। हाँ, मूल यन्त्र कैसा है—इसका अनुसन्धान चलेगा ही। पदार्थ-विज्ञान में वह जितना दूर चले, चला करे। प्राण और मनोविज्ञान में चाहे जितनी दूर चले। यहाँ भी पहले की अपेक्षा आग बढ़ आये हैं ऐसा लगता है, किन्तु अन्तिम लक्ष्य के पास भी अभी नहीं फटक पाये हैं।

यह बात ध्यान में रखनी होगी कि यह मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र का 'कु-संस्कार' मनुष्य का आदिमतम संस्कार है। सभी देशों में, सभ्य, असभ्य सभी मानव-गोष्ठी में यह संस्कार बद्धमूल था। 'मैजिक' (जादू) कह कर उड़ा देने से भी तो नहीं चलेगा। 'मैजिक' गम्भीर रूप से विवेचित होने योग्य प्रतीत हुआ

† सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्। (ऋग्वेद—पुरुषसूक्त, प्रथम मन्त्र)—अनुवादिका।

*

है। आदिम पर्वत-गुहा-गात्र में भी 'यन्त्र' थे, मिस्र-बेबिलोन-मोहेञ्जोदड़ो में भी 'यन्त्र' थे। वैदिक यज्ञ में, तान्त्रिक अनुष्ठान में भी 'यन्त्र' थे। और, वर्तमान सभ्यता तो 'यन्त्र'-सभ्यता ही है। यह यन्त्र क्या छोड़ देने योग्य है? इसकी मूल बात ठीक से समझ लेनी होगी। वह मूल बात केवल साधन-विशेष की घरेलू बात नहीं है; वह बात स्थूल से ही आरम्भ करनी पड़ती है अवश्य, किन्तु 'एहो बाह्य आगे कहो आर'*— इस प्रकार भीतर आगे बढ़ना होगा। जितना गहरे जायेंगे, उतना 'स्वाभाविक' और 'समर्थ' यन्त्र का सन्धान पायेंगे। जड़ विज्ञानादि थोड़ी दूर तक 'गाइड' का काम भली-भाँति करेंगे। किन्तु उसके बाद? अध्यात्मयोग में ही आश्रय लेना होगा। उसमें बहिर्विद्या का पूरण भी होगा, मार्जन भी होगा।

भाषण साधारण श्रोतृमण्डली को उद्देश्य करके देने की बात थी। भाषा और भङ्गी इसीलिए कुछ 'फेनिल' है। सतर्क सारग्राही जन असहिष्णु न होंगे। फेन में भी दैवयोग से दो एक सीपी मिल सकती है। सावधानी से खोल कर देखिएगा उसमें क्या है, क्या नहीं है।

एक-न-एक चेहरा हम सभी लोग एवं सृष्टि के सभी पदार्थ पहन कर बैठे हुए हैं। चेहरा अर्थात् ऐसी एक व्यवस्था, जिसके फल-स्वरूप हम कोई भी अपने ठीक स्वाभाविक रूप को नहीं जान पा रहे हैं; जो रूप जानते हैं वह भी पूरा-पूरा नहीं। इस व्यवस्था के फल से ही हमारे लिए रूप देखा और अदेखा सच्चा व झूठा, खुरदुरा और चिकना—इन सब प्रकार का बना हुआ है। संसार-व्यवहार की खातिर ही शायद ऐसी व्यवस्था हुई होगी। हमें व्यावहारिक या कारोबारी जीव होने का क्या प्रयोजन था यह प्रश्न पूछने पर "यह उसी मूल कारोबारी की लीला है" यह कहने के अतिरिक्त अधिक स्पष्ट करके कहने का कोई उपाय नहीं दिखाई देता। इस लीला का कहाँ आदि है, कहाँ मध्य है, कहाँ अन्त है—इस प्रश्न का उत्तर देने जावें तो हमें किसी वृत्त की परिधि का सिरा खोजने जाने की भाँति मुश्किल में पड़ जाना होगा। एक साँप

* श्रीचैतन्य महाप्रभु का राय रामानन्द के साथ जो संवाद 'श्रीचैतन्य-चरितामृत' (मध्यलीला, अष्टम परिच्छेद) में उल्लिखित है, उसमें 'साध्य' के विषय में महाप्रभु के प्रश्न के उत्तर में राय रामानन्द जो कुछ कहते हैं, उसके प्रत्युत्तर में महाप्रभु का यह वचन प्रसिद्ध है— "यह बाह्य है, आगे और कहो"।

अपनी पूँछ को मुँह में डाल कर गोल होकर पड़ा है; कौन सा उसका मुख है और कौन सी पूँछ है, यह तय करने का मानो कोई उपाय नहीं—यही मानो इस दुनिया की व्यवस्था का चेहरा है। प्राचीन लोग जिन सब साङ्केतिक रूपों अथवा यन्त्र का व्यवहार करके हमें इस अजब दुनियादारी का हाल समझाना चाहते थे, उन सब में, मैंने ऊपर साँप का जो चित्र अंकित किया है, वह भी एक अन्यतम प्रसिद्ध यन्त्र है। इस सकेत के बीच शायद और भी गूढ़ रहस्य छिपा है। मैंने एक ऊपर का परदा थोड़ा सा हटा कर आप लोगों को रहस्य का सीधा-सीधा रूप मात्र दिखाया है। स्वस्तिक, पद्म, चक्र, प्रभृति के सम्वन्ध में भी यह बात है। साधारणतः 'यन्त्र' (mystic diagram or apparatus) तीन प्रकार के है (१) वास्तव (realistic), (२) साङ्केतिक (symbolic), एवं (३) तात्त्विक (ideal)। इन तीनों के मूल में रहता है मौलिक (basic) अथवा स्वाभाविक यन्त्र। पूर्वोक्त तीनों के और अवान्तर भेद हैं। जैसे वास्तव यन्त्र (क) कारणीभूत जो शक्तिविन्यास है उसका आधार अथवा प्रतिकृति; अथवा (ख) कार्याभिव्यक्ति की प्रतिकृति इत्यादि है। जो कुछ भी हो, आप लोग असली बातों का ख्याल रखियेगा। मैं समझता हूँ कि मेरे देखे हुए पेड़ के पत्तों का हरा रंग और विचित्र चेहरा बाहर 'ईथर'-सागर में (पहले का वैज्ञानिक ढाँचा ही ले रहा हूँ)—अणु-परमाणु के राज्य में एक छन्दोवद्ध नृत्य अथवा उत्तेजना का फल है। बाहर एक शक्ति का खेल हो रहा है, वह शक्ति का खेल मेरे 'रेटिना' (नेत्रान्तःपटल) स्नायु, मस्तिष्क और मन को चेता कर मुझे जिस प्रकार प्रतिभात हुआ, मेरे लिये वही पत्ते का चेहरा और रंग है। बाहर 'ईथर' के स्थान-विशेष में इस प्रकार के शक्ति के विन्यास और विलास को हमने अन्यत्र शक्तिकूट अथवा शक्तिव्यूह कहा है। अनेक वैज्ञानिक आजकल 'ईथर' मानने को राजी नहीं हैं। यहाँ तक कि अन्त तक अणु-परमाणु मानने में भी 'नीम-राजी' या 'गैर-राजी' हैं। किन्तु किसी भी वैज्ञानिक का शक्ति के बिना चलता है क्या? शक्तिकूट तो चाहिये ही। वैज्ञानिक मात्र ही 'शाक्त' होते है। हम इस देश में आजकल देखें या न देखें, वे देखते है कि वस्तुमात्र में ही शक्ति-मूर्ति या शक्ति-विग्रह है। हमारे प्राचीन लोग शैव भी थे; वस्तु मात्र को ही (केवल जीव को ही नहीं) शिव-विग्रह अथवा सच्चिदानन्द-विग्रह रूप में वे देख गए हैं। प्रत्येक वस्तु को ही (एक धूलिकण हो या इन्द्र-चन्द्र हों) वे शक्ति और शिव इन दो रूपों में देखते थे; प्रत्येक पदार्थ की शक्तिकूट मूर्ति एवं शुद्ध निरञ्जन 'शान्तं शिवमद्वैतं' मूर्ति वे पास-पास रख कर एवं अभिन्न करके देखते थे; पदार्थ का यही अपरूप रूप

के कम्पन के साथ-साथ गर्विणी विद्या का भी हिया इसी बीच थर-थर काँपने लगा है। ऐसा लगता है कि इस बार जड़ विद्या का कुल, शील, मान सभी टूट जायेगा। सो जाय तो भले जाय,—जिस दिन इस विद्या-सुन्दर का मिलन होगा पश्चिम की पदार्थविद्या निखिल पदार्थों में ओत-प्रोत रस और आनन्द के लीला-विलास का सन्धान पाएगी—उस दिन 'बलिहारी' जा कर पुराने पद-कर्त्ताओं के सुर में सुर मिला कर हम भी गायेंगे - 'ननदिनि, बोलो नगरे, डूबेछे राई राजनन्दिनी आज कृष्ण-कलङ्क-सागरे' ('हे ननद ! नगर में कह दो कि राजनन्दिनी 'राई' यानी राधा आज कृष्ण-कलङ्क-सागर में डूब गई हैं।') कृष्ण-कलंक-सागर ही तो निविड़-घन-रस-सागर है। उस कलंक में कलंकिनी होने की साध तो सभी को है। उस रस से वंचित होना कौन चाहेगा? और श्रीराधा ! वे इस निविड़ घन-रस की ही लीला-मूर्त्ति हैं; जो लीला करते समय अपने विश्व-भुवन-मय-स्वरूप ह्लादिनी शक्ति की विचित्र भङ्गिमा में उछली पड़ रही हैं। इसीलिये वे ब्रज-विलासिनी हैं; जिन्होंने लीला करते हुए विश्व के विविध व्यवहार की गण्डी में स्वयं को स्वेच्छा से बाँध लिया है; अज्ञान के घर में जटिला-कुटिला का गृहिणीत्व संभाल कर बहू बनी बैठी हैं; व्यावहारिक जीव के छोटे-मोटे घर में घरनी बनी हुई हैं; उसके रस वा आनन्द के व्यावहारिक कूप वा गर्त्त को भरे हुए हैं। ऐसा क्यों न समझ लें कि जटिला-कुटिला अविद्या और भेद वा द्वैतदृष्टि है। अविद्या दुर्ज्ञेया, गहना, अनिर्वचनीया, अघटनघटनपटीयसी है; इसीलिये जटिला है; व्यवहारी जीव को उसने गर्भ में धारण किया है। और भेद-दृष्टि बड़ी ही मुखरा है। लगाना-तोड़ना (चुगलखोरी से सन्धि-विग्रह) उसका स्वभाव है। वह जीव की सहोदरा है। जीव के साथ-साथ रहती है। उसे अंगुली से लगा कर घूमती है। जीव के पक्ष में भी इस सास-ननद के घर में जो रसमयी रसिका बहू होकर गृहिणी बनने आती हैं, उन्हें उठते-बैठते लांछना मिलती है; उन्हें तीक्ष्ण खाँड़े की धार पर वास करना पड़ता है, जो हिलते ही काट डालेगी। किन्तु मेरे अन्तर में जटिला-कुटिला के शासन में जो रसिका, जो ह्लादिनी शक्ति की एक कणिका बहू बन कर घर सँभाल रही हैं, उन्हें तो किसी भी प्रकार मेरे भीतर ही समाप्त होकर, निश्चिन्त और चरितार्थ होकर रहने का उपाय नहीं है ! किसी गण्डी (सीमा) में भी उसे बाँध कर रखने का पथ नहीं ! जो ब्रज-विलासिनी हैं उन्हें अज्ञान की घरनी होकर रहना क्योंकर चलेगा ? समस्त विश्व-भुवन में ओत-प्रोत जो रस वा आनन्द है, जिससे सकल सृष्टि की प्रेरणा

बढ़ा; थोड़े से विष-प्रयोग से अथवा अन्य प्रकार की उत्तेजना से उसमें कहाँ कितनी-सी क्रिया-प्रतिक्रिया हुई; ये सब व्यापार इतने सूक्ष्म हैं कि इन्हें लाखों गुना बढ़ाकर न देखने पर ये चक्षु-गोचर नहीं हो सकते। अथच यन्त्र की कृपा से ये सब अतीन्द्रिय घटना हम लोग देख पाते हैं। किन्तु यहीं पर शेष है क्या? पत्ते के प्रत्येक जीवनकोश वा 'cell' को भले ही मैंने अणु-वीक्षण की सहायता से परख लिया; किन्तु जिन सब यौगिक अणुओं (molecules) की संहति अथवा संघात से एक-एक cell (कोश) का दाना गठित हुआ है, उस molecular (आणविक) मसाले को हमें कौन दिखायेगा? रासायनिक परीक्षा? रासायनिक परीक्षा molecular (यौगिक अणुओं का) हिसाब निकाल देती है, जमा खर्च खतिया कर हमें समझा देती है; किन्तु किसी भी रासायनिक प्रयोगशाला में जल के एक molecule अथवा कार्बोहाइड्रेट के एक molecule को मैंने कभी भी आँख से नहीं देखा है। एक बूँद जल में इतने molecule हैं कि उनका हिसाब देने बैठें तो एक-एक तारा के दूरत्व की बात याद आ जाती है, जिन सब तारागण से प्रकाश एक सेकण्ड में प्रायः दो लाख मील की गति से दौड़ता हुआ हमारे पास हज़ारों वर्षों में आकर पहुँचता है। इसीलिये मैं कह रहा था कि अणुवीक्षण से हम पत्ते का थोड़ा सा अनदेखा अंश-मात्र देख पाते हैं, पूरा नहीं।

(यौगिक अणु) में atom (अणु) गण शक्तिविन्यास करके किस प्रकार व्यूह-रचना करते है, उसका अंदाज रसायनशास्त्र की एक शाखा (Physical Chemistry) में खूब भलीभाँति मिल जाता है। एक-एक 'बेंजीन मोलिक्यूल' (benzene molecule) के व्यूह का नक्शा न जाने कितना विचित्र है! किन्तु ये सब अनदेखे रूप है। आज हम आदर्श अणु-वीक्षण से अनदेखे रूप भी देखने चले हैं। molecule (यौगिक अणु) में पहुँच कर दो व्यापार देखना है। प्रथम रूप में ये सब वामनावतार हैं; वालखिल्य भूतों के रूप है। पत्ते के रूप, रस, गन्ध उनमें भी हैं, ऐसा कहते हैं। पश्चिम की Psychology (मनोविज्ञान) में जिन सबको secondary qualities (गौण लक्षण) कहा जाता था वे सब इन वालखिल्यों में हैं। इसलिये हमारे आदर्श अणु-वीक्षण में उनके रूप देखने में आये। उसके वाद और एक व्यापार है। यह वालखिल्य-दल किसी पेड़ की डाली में पैर लटका कर तपस्या-निरत नहीं हुए है। बाउलों* की भाँति इनके अशेष नाच का कहीं विराम नहीं है। एक दूसरे के हाथ पकड़कर और एक दूसरे की जटा में गाँठ लगाकर व्यूह रचकर क्या अविश्रान्त नृत्य है उनका! पत्ते के cell में जब जैव पदार्थ (protoplasm) चक्कर काट रहा है, तब उस चक्कर के साथ-साथ वे लोग भी घूम रहे हैं। सूर्य-किरण के सम्पात से पत्ते का हरित अंगराग (chlorophyl) जब वायु में oxygen छोड़ कर 'कार्बन' (carbon) का भाग ही लेकर अपनी श्रीवृद्धि कर रहा है, तब उस नीरव शान्त दैनन्दिन व्यापार के अन्तराल में कितना बड़ा जटिल और रहस्यमय शक्ति का एक खेल चल रहा है, उसे भी मान लें कि हमने इस आदर्श अणु-वीक्षण की महिमा से देख लिया। सूर्य-किरण से ताप चुराकर अपने-अपने molecule (यौगिक अणु) के व्यूह के बीच भर कर रखना—यह रोग भी मान लें कि लता-पत्तों में विलक्षण है; कुरु की सेनाओं ने जिस प्रकार विराट् के राज्य में गायों के झुण्ड को अटका लिया था उसी प्रकार। ताप, आलोक, तड़ित् शक्ति, रासायनिक क्रिया प्रभृति में उन सब व्यूहों का चेहरा किस प्रकार बदलता है, यह भी मान लें कि हमारे आदर्श अणु-वीक्षण ने हमें दिखा दिया। यहाँ तक देखकर ही—शक्तिमन्दिर के मणि-मण्डप में रत्नवेदिका के पीछे खड़े होकर हमने जो कुछ देखा—उसी से

---

* बंगाल के एक गायक-भिक्षु-संप्रदाय का नाम 'बाउल' है। 'वातुल' के अपभ्रंश के रूप में 'बाउल' पागल का वाचक भी है।

हमारे विस्मय का अन्त नहीं है। किन्तु देखने का क्या अन्त हो गया है ? नहीं, वैसा तो नहीं है।

मौलिक पदार्थ नहीं है। उसके भी भीतर एक विचित्र जगत् है। कहते हैं कि यह तड़िदणु या इलैक्ट्रॉन-प्रोट्रोन आदि का जगत् है। ये तड़िदणु एक-एक अणु (atom) के बीच ग्रह-उपग्रह की भाँति चक्कर काट रहे हैं। उनका वेग अद्भुत है, शक्ति भी प्रायः अपरिसीम है। atom में घुस कर शक्ति का जो चेहरा हमने देखा उसे देखकर अवाक् होना पड़ता है। हमारे इस विराट् ब्रह्माण्ड में कौन सी शक्ति इस क्षुद्र ब्रह्माण्ड के अणु के अन्तःपुर में स्थित (intra-atomic) शक्ति के साथ तुलना में ठहर सकती है? 'वेद और विज्ञान' इस शीर्षक से अनेक भाषणों में ये सब बातें विस्तार से कह चुका हूँ। आज हमने atom (अणु) निगूढ़ शक्ति-व्यूह को केवल एक बार कटाक्ष से देख लिया! जिस आदर्श अणु-वीक्षण को लेकर देखना शुरू किया है, उसकी क्या यहीं पर छुट्टी हो जाती है? कहाँ?-छुट्टी कहाँ? तड़िदणु भी सावयव हैं, परिमित पदार्थ हैं, इसीलिये उनका भी एक अन्तःपुर होना चाहिये। यदि है तो वहाँ पुनः शक्ति की रत्नवेदी प्रतिष्ठित है। इस प्रकार चल कर कहाँ पहुँच कर विश्रान्ति होगी? एक पत्ते को देखना शुरू करके यदि इस प्रकार द्वार के बाद द्वार खोल कर उसकी सहस्र-महल पुरी के बिल्कुल बीचों-बीच पहुँच कर, उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पूर्ण शक्ति-मूर्ति को मैं देख सकूँ, तभी मेरा देखना पूरा अथवा चरम देखना होगा। आदर्श अणुवीक्षण उतनी दूर तक मुझे न दिखा कर छुट्टी पायेगा क्या? वैज्ञानिक का देखना अब भी बहुत कुछ कुहरे से घिरा हुआ है। वे कुछ दिन पहले भी 'ईथर'-समुद्र में electron को लेकर चक्कर खिला रहे थे; 'इलैक्ट्रॉन' को भी शायद 'ईथर' की अवस्था-विशेष (intrinsic strain centre अथवा gyrostatic strain) समझ रहे थे; 'ईथर' के बीच नाना प्रकार के तरङ्ग उठा कर उन्हें चारों ओर बिखेर कर हम लोगों को रंग-बिरङ्गा दृश्य दिखा रहे थे; अब भी रेडियो सुना रहे हैं, और भी कितना कुछ अनुभव करा रहे हैं। मूल के हिसाब में आजकल पूर्व शताब्दी का 'ईथर' एक प्रकार से छूटा जा रहा है, किन्तु कार्य-करी शक्ति-कणा (energy quanta, point-event, four-dimensional continuum, intrinsic geometry of space) इत्यादि माने बिना उपाय नहीं दिखाई देता, यह वैज्ञानिक दर्शन जो है। वह भी अणु-वीक्षण से सचमुच का दर्शन नहीं; कल्पना की आँख से, अन्दाज की आँख से, लेखे-जोखे की आँख से दर्शन है। हम लोग इस आदर्श अणुवीक्षण को हाथ में लेकर वैज्ञानिक की कल्पना के साथ ही सम्मति देने गये थे। उसे पीछे छोड़

कर आगे बढ़ जाने में भी हमें नितान्त अविश्वास नहीं था। चरम में उपस्थित हुए जाकर एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म पूर्णशक्तिमूर्ति के समक्ष। यहाँ सूक्ष्मता की भी पराकाष्ठा है, और पूर्णता की भी पराकाष्ठा है। हमने अन्यत्र जिसे चरम वा परम चक्षु कहा है, आज अन्य भङ्गी से उसे ही आदर्श अणुवीक्षण कह रहे हैं। हाँ, परम चक्षु—स्थूल-सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्ट आदि सब रूप देखने का निरतिशय सामर्थ्य है, बाहर का कोई भी यन्त्र नहीं, यहाँ तक कि जिसे आँख कहते हैं, वह भी नहीं। जिस सामर्थ्य द्वारा हम देखते हैं उसी का पूर्ण विकास यह परम चक्षु है। कहना न होगा कि यह चक्षु स्वयं प्रजापति का चक्षु है। यह चक्षु 'भौतिक चक्षु' नहीं; जैसा-तैसा 'दिव्य चक्षु' भी नहीं है।

रहे तो बाहर का यन्त्र भी नहीं रहता, अथवा रहने पर भी न रहने जैसा हो जाता है। भीतर घर में जो लोग भण्डार और रसोई-पानी लेकर रहते हैं, वे यदि जवाब दे दें तो बाहर घर में भोज में किसी को भी पत्तल नहीं परोसी जाती। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म का, व्यक्त वा 'देखे हुए' की अपेक्षा अव्यक्त वा 'अदेखे' का माहात्म्य सुन कर आप लोग चमत्कृत होना चाहें तो भले हों, किन्तु सदिग्धचित्त न हों। पश्चिम के विज्ञान ने सम्प्रति सूक्ष्म का माहात्म्य-कीर्तन करने में सबसे बड़ा गला हाजिर किया है। पश्चिम की 'काम में लगाई हुई 'विद्या अथवा applied science ने अभी तक बाहर के बड़े-बड़े कल-कारखानों में अधिक ममता लुटा रखी है, 'अन्दर' की खबर रख कर भी नहीं रखी है, यह हमारा भी दुर्भाग्य है, पश्चिम का भी दुर्भाग्य है, एवं यह सिद्धि निश्चय ही विशुद्ध विज्ञान के दिए हुए मन्त्र के वैध पुरश्चरण के फल से नही हुई है। विज्ञान अब अणु के अन्तःपुर में सूक्ष्मातिसूक्ष्म की ओर ही उंगली दिखा रहा है; किन्तु पश्चिम उस सकेत को न समझ कर क्रमागत कोयले जला कर, पेट्रोल जला कर, जल में, स्थल में और अन्तरिक्ष में नाना प्रकार की उत्कट मशीनें चला रहा है, चला कर ऐसी सुन्दर पृथ्वी को गन्दा कर डाल रहा है; मनुष्य के ऐसे सोने के संसार को शैतान का मुल्क बना डाल रहा है। सूक्ष्म के व्यवहार में भी स्थूल के दानव का ही प्रताप बढ़ रहा है। चिकित्सा विद्या में होम्योपैथी ने रोग के निदान में और भेषज के निरूपण में स्थल की अपेक्षा सूक्ष्म के प्रति पक्षपात करके सच्चा मार्ग ही अपनाया है। 'हिप्नोटिज़म', 'मेस्मेरिजम' (वशीकरण-सम्मोहनादि) प्रभृति उस देश (पश्चिम) में क्रमशः सूक्ष्म शक्तिकूट अथवा यन्त्र में आस्था स्थापन करना लोगों को सिखा रहे हैं। किन्तु मोटे-मोटे अनेक भूत एक साथ कन्धे पर चढ़ बैठें तो उस अवस्था में अरबी उपन्यास के सिन्दबाद वणिक् की कहानी के विजन-द्वीप-वासी बूढ़े शैतान की तरह उन्हें कन्धे पर से उतारना कठिन है। और जिस 'सरसों' से भूत भगाये जायेंगे, वह मन-सरसों ही तो भूतग्रस्त है।

जो भी हो, सूक्ष्म शक्ति-कूट वा यन्त्र, स्थूल शक्तिकूट वा यन्त्र के कारण अथवा अधिष्ठान के रूप में व्यवहृत हुए हैं। **'तद्भावे तद्भावः तदभावे तदभावः'**—इस नियमानुसार। सूक्ष्म यन्त्र न रहने पर स्थूल नहीं रहता; सूक्ष्म रह पर स्थूल रहने सकता है। इससे स्वतःसिद्ध भाव से हमलोगों को यह काम की बात भी मिलती है कियदि किसी भी पदार्थ को हम स्थूल भाव

जिसका थोड़ा कुछ हम आँख से देखते हैं और बाकी को क्रमशः अणुवीक्षण से अथवा अन्य उपाय से हमें देखना पड़ता है। यही हुआ पत्ते की शक्तिकूट के नित्यनैमित्तिक अनुष्ठान को चलाने वाला ढाँचा। इसकी बात फिर से बाद में कहूँगा। मान महल के बिल्कुल बीच में केन्द्रस्थल में कौन सा यन्त्र है? molecule (यौगिक अणु) सम्बन्धी यन्त्र? नहीं; atom सम्बन्धी? नहीं, वह भी नहीं; corpuscle (कार्पसल या कोश) वा electron (इलेक्ट्रॉन) सम्बन्धी? नहीं, वह भी शायद नहीं; किसी का भी सम्बन्धी नहीं। तब वह कौन है? वह है शक्ति की चरम सूक्ष्मावस्था, जिसकी अपेक्षा और सूक्ष्म नहीं है, अथच वह शक्ति की पूर्ण समर्थावस्था है, क्योंकि वह अवस्था अन्य सब अवस्थाओं का कारण वा अधिष्ठान है। इस केन्द्र में जो है, उसी के लिये एवं उसी का आश्रय लेकर और सब कुछ है। उसके और भाग करना नहीं चल सकता; क्योंकि यदि भाग करना चल सके तो उसके भीतर पुनः यन्त्र निकल आयेगा। शक्ति की यह केन्द्रीभूत, चरम, सूक्ष्म, परम कारण और परम अधिष्ठान रूप जो अवस्था है, उसी का नाम है विन्दु। इस विन्दु का आश्रय लेकर ही सब शक्तियाँ स्थित हैं, और खेल रही हैं; सभी यन्त्र इस विन्दु की ही अभिव्यक्त वा उच्छून-अवस्था हैं। जो अनुसन्धित्सु हैं; वे तन्त्रशास्त्र का '...मकलाविकास*' इत्यादि देखें। यह विन्दुतत्त्व ही मूल का तत्त्व है -- केवल तान्त्रिक श्रीयन्त्र प्रभृति का नहीं, विश्व के चेतन-अचेतन, सजीव, निर्जीव, स्थूल-सूक्ष्म सभी यन्त्रों का है। आज यहीं तक समझ लीजिये कि विन्दु ही शक्तिकूट की अथवा यन्त्र की मूल-प्रकृति वा कारण है।

'यन्त्रम्' इस शब्द में 'यम्' इस अंश को वायु-बीज समझें। वायु का अर्थ केवल हवा नहीं। श्रुति ने वायु को ब्रह्मा का ही एक रूप कहा है— 'वायुर्यैकः'† इत्यादि नाना मन्त्रों में नाना प्रकार से कहा है। सर्वव्यापी जो व। सत्ताशक्ति है, उसका जो 'सचल' भाव है, उसे वायु कहा जाता है। यह 'सरसा' लता केवल देश-काल (space, time continuum) में है ऐसा नहीं।

विराट् मन में काम, संकल्प आदि भी इस वायु संज्ञा के भीतर आ जाते हैं। शक्ति-तन्त्र की भाषा में है स्पन्द। जड़, प्राण, मन, बुद्धि – समष्टि और व्यष्टिभाव से इस वायु के अधिकार में हैं। वायु मूल वस्तु का ही गतिरूप है (स्थूल सूक्ष्म कारण)। उसके बाद 'यन्त्रम्' इस शब्द के अन्त में है 'रं'— अग्निबीज। अग्नि भी ब्रह्म का एक रूप है। संक्षेप में, जिसके द्वारा रूप वा आकृति आती है, अथवा रूपान्तर साधित होता है, वह है अग्नि (informing, conforming, transforming cosmic factor)। कहना न होगा कि रूप यहाँ केवल बाहर का रूप नहीं—जड़, प्राण, मन – इन सब के सभी 'ग्रामों' में अग्नि को पहचानना होगा।

इस प्रकार दो तत्त्व हमें मिले। एक है वायु वा विश्व-स्पन्द (cosmic stress)। सर्वविध गति और गति का संभावना-रूप यह है। इसे आधार बना कर ही अग्नि का 'रूपायण' कार्म हुआ करता है। अर्थात् स्पन्दरूप में वायु ने दिया उपादान वा material और अग्नि हुआ निमित्त (informing principle)। विश्व में पूरी सृष्टि 'अग्निमख' (वायु) एवं अग्नि—इन दोनों को लेकर हो रही है। मानस सृष्टि वा संकल्प सृष्टि भी इसके बाहर नहीं है। 'तपसोऽध्यजायत'* या 'ज्ञानमयं तपः'†—इन स्थलों में भी

(क्रियमाण) अवस्था में विद्यमान है, वहाँ किसी भी श्रेयः-प्रेयः-सिद्धि के निमित्तरूप तदुपयोगी छन्दस् के आश्रय में एक निर्दिष्ट रूपायण (shaping and adjusting of the 'material' or energy) हुआ यन्त्र। वेद ने बार-बार छन्दस् से सृष्टि की बात कही है। गायत्री-प्रभृति छन्दों की बात भी सुनाई है। श्रेयः-प्रेयः आपेक्षिक सामग्री है। पराकाष्ठा में वह अमृत है। गायत्री छन्द ने इस अमृत का ही देवताओं के लिये दोहन किया था—ऐतरेय उपाख्यान में ऐसा है। मन्त्र के पक्ष में जैसे, यन्त्र के पक्ष में भी वैसे ही, छन्दस् चाहिये। छन्दस् यदि समर्थ होगा तो यन्त्र भी समर्थ होगा। 'रेडियो-आइसोटोप्स्' में केन्द्रीण शक्ति 'उन्मुख' (prone) भाव से विपुल है; ध्वंस के व्यापार में समर्थ छन्दस् को पाकर हमने आणविक बम बनाया है। किन्तु वह तो महामारी छन्दस् है। अमृतच्छन्दस् कब आविष्कृत होगा? उसके लिये भिन्न प्रकार का यन्त्र आवश्यक है, एवं वह यन्त्र मुख्यतः 'जड़ यन्त्र' (mechanical contrivance) नहीं होगा। जड़ के अणु में अग्नि को कालाग्नि रुद्रमूर्त्ति में आविष्कृत किया है हमारे विषच्छन्दा-बुद्धि-प्रसूत जड़यन्त्र ने। शक्तिसागर के मन्थन से हलाहल निकला है, किन्तु अग्नि को निखिल दैवी संपद् के 'पुरोहित' 'रत्नधातम*' (supreme giver of all values) के रूप में पाना होगा। जड़ाणु, जीवकोश और कारोबारी चेतना के मूल में जो महान् शक्ति-भण्डार है, केवल उसके 'बहिःप्रकोष्ठ' में ही अभिज्ञ प्रयोग-कुशली होने से तो नहीं चलेगा; अग्नि को 'जातवेदाः' और 'मधुच्छन्दाः' (knower of all that exists and functions, सुतरां perfect wisdom) होना होगा।

पुनः 'यन्त्रम्' शब्द के 'यम्' को यमन वा control के अर्थ में भी लिया जा सकता है। कोई भी प्रस्तावित शक्तिक्षेत्र (given power field) जिसके द्वारा 'trained' 'controlled' होकर एक निर्दिष्ट आकृति (pattern) अथवा रूप ग्रहण करता है, वही यन्त्र है। यह 'यमन' (control) कर्म नाना उद्देश्य से, नाना भाव से हो सकता है (canalizing, redirecting focussing इत्यादि), सुतरां यन्त्र नानाविध हैं। शास्त्र में चतुर्दश मनु, चतुर्दश यम एवं चतुर्दश भुवनों की बात है। ७×२=१४, यह चतुर्दश एक 'रहस्य'-संख्या है, यह हमलोग बाद में देखेंगे। मनु से मन्त्र, यम से यन्त्र—

* अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं, होतारं रत्नधातमम्। (ऋग्वेद १·१·१)—अनुवादिका।

यह भी देखेंगे। भुवन और तन्त्र एक दूसरे के साथ ग्रथित हैं। सर्वतन्त्रेश्वरी श्रीश्रीभुवनेश्वरी हैं।

शक्तिभाण्डार के वहिःप्रकोष्ठ से क्रमशः अन्तःप्रकोष्ठ में प्रविष्ट होना होगा। वहिःप्रकोष्ठ में शक्ति-विन्यास की जो आकृति (pattern) है, अन्तःप्रकोष्ठ में वह रद्द नहीं होती; सामर्थ्य में, प्रयोग में, संभावना में एवं व्यञ्जना में वह और भी समृद्ध होती है। १९ वीं शताब्दी के विज्ञान और २० वीं शताब्दी के विज्ञान (जड़, प्राण, मन—समष्टि और व्यष्टि सभी ओर से) में तुलना करने पर यह समझ में आयेगा। अणु, जीवकोश, कारोबारी मन—इन सबके भीतर का नक्शा (pattern) हम पाते हैं। और भी भीतर का सन्धान भी मिलेगा। समष्टिगत दृष्टि भी (macrocosmic appreciation) क्रमशः गम्भीर और व्यापक हो रही है, इसमें सन्देह नहीं है। स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर इस प्रकार खोजने की कोई सीमा है क्या? यदि मान लें कि है, तब 'क' नामक वस्तु के निरूपक शक्तिकूट (determining stress system) की जो सबसे मूलीभूत (basic) अवस्था व संस्था है, वह हुई 'क' के सम्बन्ध में उसका 'हृत्' (core) अथवा 'नाभि'। उसी हृत् का आश्रय लेकर 'क' की सत्ताशक्ति की जो आकृति है, वही है उसकी हृल्लेखा (basic causal pattern)। यह 'क' का मौलिक यन्त्ररूप है। इसके रहने पर 'क' कम से कम बीज या संभावना के रूप में रहेगा ही। इसके न रहने पर 'क' नहीं है। इसकी तुलना में 'क' के और सब pattern 'बाह्य' हैं। मूल आकृति या हृल्लेखा ही उसका स्वाभाविक रूप अथवा यन्त्र है। मन्त्र के पक्ष में जैसा है, यहाँ भी उसी प्रकार मूल आकृति (pattern) क्रियाभिव्यक्ति के विभिन्न स्तरों में आकर बहुधा आवृत और संकीर्ण (veiled and confused) हो गई है। अनेक आवरण और विक्षेप हटाकर तब कहीं शुद्ध सम्पूर्ण 'रूप तन्मात्र' को पाना होगा। शब्द तन्मात्र या मन्त्र की भाँति रूप तन्मात्र या यन्त्र का भी अपनी वस्तु के साथ 'तद्भावे तद्भावः तदभावे तदभावः' ऐसा सम्बन्ध है।

मिलना आवश्यक है। ये 'विशेष' तत्त्व मूल में 'वर्ण' (element) एवं 'कला' (partial or aspect) के आकार में अभिव्यक्त हैं। इसके वाद है संख्या और परिमाण एवं वह पुनः काल और देश की विशेष 'संस्था' के रूप में अभिव्यक्त होता है। इन सबकी आलोचना 'जपसूत्र' में मिलेगी। हृल्लेखा स्वयं संख्या-परिमाण आदि की संभावना-मात्र है; उसमें वे सब अभी भी 'व्याकृत' (evolved) नहीं हुए है। इसलिये जिसे वर्तमान विज्ञान 'atomic number' 'क्रोमोसोम नम्बर' इत्यादि कह रहा है, वह सूक्ष्म के पर्याय में पड़ने पर भी जड़ की अथवा जीवकोश की हृल्लेखा नहीं है। अवचेतन मन का जो चित्र मिलता है, वहाँ भी यही वात है। हृल्लेखा स्वयं देशकालावच्छिन्न नहीं है, केवल कारणता वा संभाव्यता द्वारा अवच्छिन्न है। देश में (देश का अर्थ है extension मात्र, physical space नहीं) और काल में 'अवतरण' करके हृत् बनता है हृद्देश एवं हृदय। यह आलोचना भी वाद में मिलेगी। इस प्रसङ्ग में Plato (प्लेटो) और Whitehead (व्हाइटहेड) की विचारधारा तुलना-योग्य है। सूक्ष्म और स्थूल में अवतरण में 'क' वा 'ख' की जो हृल्लेखा है, उसने विचित्राकार-परम्परा का परिग्रह किया है। ये शुद्ध, सम्पूर्ण रूप अथवा यन्त्र नहीं हैं। परस्पर के संघर्ष (interference), अभिभव (encroachment) इत्यादि घटित होने से स्वाभाविक रूप का व्यत्यय एवं स्वाभाविक सामर्थ्य का संकोच हुआ है। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यं – ये सात 'लोक' वा plane जपसूत्र में विशेष भाव से व्याख्यात हुए है। ये मुख्यतः seven planes and orders of experience—अर्थात् अनुभव के सात स्तर हैं। जपसूत्र में 'सप्तख्याति' हैं। प्रत्येक को पुनः 'पराक् (negative) और 'प्रत्यक्' (positive) दो प्रकार से लेने पर १४ संख्या मिलती है। 'यह' (इदं) इस भाव से जो सब रूप, आकृति और यन्त्र गोचर हो रहे हैं उनका शोधन और सम्पूरण करते हुए 'सत्य' तक पहुँचना होगा। वहाँ पर 'तत्त्व' रूप में (as it is in itself) और 'धारा' रूप में (as a process)—दोनों रूपों में उसे देखना होगा। उस प्रकार देखने पर 'सत्यं च ऋतं च'*—जिससे सृष्टि की सूचना मिलती है। विश्व का विचित्र apparatus तो मिलता है, किन्तु मूल का क्या ?

शब्द की ओर से हृल्लेखा की अनुकृति (equivalent) हुआ मायाबीज—'ह्रीं'। 'ह' कार=शक्ति की व्योमवत् विपुल नादावस्था है। 'र' कार=जिस

* सत्यं च ऋतं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। (महानारायणोपनिषत् ५·५) —अनवादिका।

शक्ति द्वारा यह शक्ति-व्योम (power continuum) मथित और रूपित हो रहा है (अग्नि); 'ई' कार=मन्थनदण्ड=जिस axis (धुरा अथवा सूत्र) का आश्रय लेकर मन्थन और रूपायण क्रिया चल रही है। ' ˙ ' (अनुस्वार) =नाद और बिन्दु इन दोनों की अव्यक्तता में एवं इन दोनों की 'काष्ठा' (limit) के अभिमुख ही क्रिया चल रही है। अर्थात् एक ओर continuum एवं अन्य ओर point (dynamic) - इन दोनों की रक्षा करके ही निखिल व्यापार चल रहा है। जैसे आलोक के पक्ष में ऊर्मिरूप एवं electron (इलेक्ट्रॉन) के पक्ष में रेणुरूप; प्राण और मन का व्यापार भी तद्रूप है। इसलिये 'ह्रीं' प्रभृति बीज शक्तिक्षेत्र में एक-एक formula है, जैसे कि पदार्थ-विज्ञान में मिलते हैं। formula के भीतर ही 'यन्त्र' का भी निरूपण पड़ा हुआ है। पूर्वोक्त विश्लेषण प्राण-प्रयत्न के मौलिक रूप-विशेष के हिसाब से भी दिखाया जायेगा। मूल ग्रन्थ में तत्त्व (principles) आलोचित हुए हैं।

—यह सत्यसन्धान अथवा प्रमाण के ऊपर निर्भर करता है। प्रमाण की
प्ति तत्त्व एवं तथ्य principle and fact उभयतः हैं। सुनते हैं कि
ार भी कर्मयोग से हीरक हो जाता है। सुनकर ही विश्वास होता है क्या ?
ाण चाहिए। तत्त्व के क्षेत्र में जानने को मिला (१) दोनों की ही मूल-
तु अथवा उपादान एक ही है और (२) उस मूलवस्तु के दाने अङ्गार में
स प्रकार सजाये गये हैं, हीरे में उस प्रकार नहीं, अन्य प्रकार से; अतः
३) सजाने की रीति अंगार-अनुरूप न होकर हीरकानुरूप होने पर ही अंगार
। हीरकत्व-प्राप्ति होती है। पदार्थ-विज्ञान अधुना और भी अग्रसर हो गया
, ऐसा देख रहा हूँ। सब पदार्थों की मूल वस्तु Energy अथवा शक्ति नाद
(अथवा continuum) विन्दु (अथवा quantum) है, एवं शक्ति की
वभिन्न अवस्थिति-परिस्थिति (संस्था अथवा व्यूह) से ही विभिन्न पदार्थ होते
ं। तत्त्व के क्षेत्र में जो जाना है, तथ्य के क्षेत्र में समीक्षा-परीक्षा द्वारा उसे
जब तक नहीं जाँच लेते, तब तक पूर्णाङ्क-संस्थापक (conclusive) प्रमाण
नहीं मिलता, एवं विश्वास भी सुस्थिर नहीं होता; स्थिरमति और स्थितधी भी
नहीं बना जाता।

जैसे, वर्तमान युग में आणविक-शक्ति-भण्डार की चाभी हाथ में पाकर हमें सम्प्रति श्रेयोलाभ नहीं हुआ है, मिली है संभावित 'महती विनष्टिः'* । जप जिस शक्ति-भण्डार का सन्धान देता है, वह शक्ति और भी 'मौलिक' और भी विपुल, व्यापक शक्ति है । उस शक्ति-साधना में संयत सावधानता एवं स्वच्छ गाम्भीर्य का प्रयोजन और भी अधिक है । इसलिए सिद्ध और साधक लोग सर्वत्र रहस्य-भङ्ग करने के प्रति नाराज रहे हैं एवं वैद्युताग्नि लेकर उन्होंने बिजली बत्ती का हाट नहीं सजाया है; तथापि साधक को तत्त्व जानने की आवश्यकता है ही । 'इतर' जन के लिये भी उस प्रकार साक्षात् प्रयोजन न रहने पर भी परोक्ष प्रयोजन कुछ रह सकता है । जैसे, जो (व्यक्ति) आणविक शक्ति को लेकर कारोबार नहीं कर सकता, उसे भी आणविक विज्ञान के ज्ञान का प्रयोजन है । अनेकों (व्यक्तियों) के पक्ष में कारोबार के लिए ही जानने का प्रयोजन हो सकता है । कहीं पर जानने से ही इष्टसफलता हो सकती है । जानने के बाद करने की प्रवृत्ति भी हो सकती है । फलतः, प्रयोजन चाहे जिस प्रकार का हो, वह यदि केवल शौक न होकर सचमुच की गरज हो तो वह जिस किसी उपाय से अपने को मिटाना यानी पूर्ण करना चाहेगा । अब सोचकर देखिये, जप का जो रहस्य है, उसे जानने के लिये गरजी, दर्दी, मर्मी अधिकारी कितने लोग हैं ?

उसके बाद जप को लेकर कार्यतः परीक्षा में उतरना है । पहले यदि जप के तत्त्व अथवा रहस्य की बात कुछ जान रखी हो तो जप-कर्म में कुछ परिमाण में श्रद्धा (working belief), सुतरां प्रवृत्ति होना सहज होता है । विज्ञान के परीक्षागार में किसी भी परीक्षा में उतरने में भी वही बात है । प्रस्तावित परीक्षा की theory अथवा युक्ति यदि ज्ञात हो तो कोई बात ही नहीं है, कम से कम तो यह विश्वास होना चाहिए कि मूल में युक्ति है, अभिज्ञ व्यक्ति (विशेषज्ञ) उसे जानते हैं, एवं दूसरों ने ठीक-ठीक विद्या (technique) प्रयोग करके परीक्षा की सफलता प्रमाणित की है । यह 'आप्त' प्रमाण है । जपादि के क्षेत्र में भी इसका आश्रय लेना होता है । सभी व्यावहारिक विज्ञानों में यही दस्तूर है । जो व्यवहारी है, उसे अपनी बुद्धि की एक 'प्राथमिक' अनुमति पानी होती है । उसे ठीक विश्वास अथवा श्रद्धा नहीं कहते । बुद्धि यदि कारोबार में उतरने से पहले उसके मूल में जो युक्ति है अथवा हो सकती

* बृहदारण्यक उपनिषद ४·४·१४ (इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीर्महती विनष्टिः ।)—अनुवादिका ।

प्रथम बात यह है कि जप का जो सचमुच का काम है, वह वास्तव में सूक्ष्म व संस्कार के क्षेत्र में होता है; इसलिये हम लोग इस चालू बाजार के कारोबारी हिसाब के खाते में उसके फलाफल के अङ्कों को दर्ज होते हुए नहीं देख पाते। यहाँ तक कि कुछ उल्टा फल भी देख सकते हैं। उससे घबराने से नहीं चलेगा। होम्योपैथिक high potency (उच्च शक्तिसंपन्न) औषध की भाँति काम आरम्भ होता है गम्भीर स्तर में, एवं वहाँ 'मन्थन-आलोड़न' के फलस्वरूप अनेक सूक्ष्म, गूढ़, दृढ़, अशुभ संस्कार शिथिल या हल्के होकर ऊपरी सतह में तैरने लग जाते हैं अर्थात् aggravation अर्थात् रोग के लक्षणों की सामयिक वृद्धि भी हो सकती है, उनसे रोगी अथवा वैद्य किसी को भी घबराने का कारण नहीं है। जप के 'जंगली सूअर' के आने पर 'मूषिकवृद्धि' नहीं, 'गजक्षय' होता है—वह (गज) वृहत, बलवत्, अशुभ, संकीर्ण अथच उदग्र होकर क्रुद्ध बन कर भय दिखा रहा है। वैखरी जप की क्रिया 'अन्नमय' कोष में आरम्भ तो होती है, किन्तु 'समर्थ' जप होने पर वह 'प्राणमय' 'मनोमय' इत्यादि क्रम से सत्ता के गम्भीर से गम्भीरतर स्तर में जा कर काम किया करती है। समर्थ जप का असली काम एक वाक्य में यही है—इस स्थूल, सूक्ष्म, कारण-यन्त्र के भीतर जहाँ-जहाँ स्पष्ट अथवा गोपन, विषम अथवा विषच्छन्द का 'दौरात्म्य' है, वहाँ-वहाँ सुषम अथवा सच्छन्द लाकर सौष्ठव और स्वाच्छन्द्य लौटा देना। विषमच्छन्दः disharmony को कहते हैं 'असुर' अथवा सूक्ष्म के क्षेत्र में 'पाप्मा'। समर्थ जप की क्रिया के फलस्वरूप जो 'असुर' है वह बनता है 'सुर'। जप में यन्त्रशुद्धि होने का अर्थ है, 'अपहतपाप्मा'* होना। 'मूल मन्त्र यन्त्र भरा, शोधन करि बॅले तारा'। (मूल मन्त्र और यन्त्र तक का शोधन करके 'तारा' कहती हैं)। 'तारा' माँ का तारक ब्रह्म नाम तो है ही, उसके अतिरिक्त तारा=तार—ॐकार भी है। जप से 'पाप्मा' अपगत होगा। अपगत होने का अर्थ बेमालूम या अदृश्य हो जाना तो नहीं है। अलग हो जाना और elimination (अपगत हो जाना) ही उसका अर्थ है। मूल में यही होता है पाप-पुरुष बाहर निकल जाता है और बाद में हट जाता है। बाद में अवश्य ही विज्ञान और आनन्द की शुद्ध भूमि में पहुँच कर 'पारस पत्थर' का सन्धान मिलने पर सभी कुछ 'सोना' हो जाता है—'विषोऽपि अमृ-

---

* य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः.........
(छान्दोग्योपनिषत् ८.७.१)—अनुवादिका।

...'। मधु-कैटभ संहार हुआ, किन्तु उनके मेद से बनी 'मेदिनी'। यही ...। transformation, sublimation 'व्याप्तिदेव्यै नमो नमः'; † तब चितिरूपेण' और 'भ्रान्तिरूपेण' दोनों ही एक वस्तु हो जाते हैं।

किन्तु दूसरी और असली बात है जप को 'समर्थ' अथवा 'वीर्यवान्' बनाना। जपवीर्य में अमोघ शक्ति है। किन्तु जपवीर्य होता कैसे है? श्रुति कहती है—कोई भी काम क्यों न किया जाय, वह **'विद्यया श्रद्धया उपनिषदा वा वीर्यवत्तरं भवति'*** (विद्या, श्रद्धा अथवा उपनिषद् से अधिक वीर्यवान् हो जाता है)। वैषयिक, आध्यात्मिक सभी कुछ में ऋद्धि-सिद्धि के निमित्त अत्यावश्यक हैं—ये तीन। विद्या का अर्थ यहाँ प्रयोग-पद्धति (मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र) व्यवहार-विज्ञान अथवा 'आर्ट' है। जैसे प्राचीनकाल में 'मधुविद्या' 'दहरविद्या' 'पञ्चाग्नि-विद्या' इत्यादि थीं। वर्तमानकाल में कोई भी काम सुष्ठु सफल भाव से करने का जो correct technique (सही प्रविधि) है, उसे ही उसका Art कहते हैं। 'श्रद्धा' का मोटामोटी अर्थ है काम के साथ हृदय का योग। काम में 'दर्द' होने का अर्थ है उसमें सचमुच का interest या रुचि होना, इससे आन्तरिकता, ऐकान्तिकता, विश्वास आते हैं। और उपनिषद् अर्थात् रहस्य अथवा अन्तर्निहित तत्त्व का ज्ञान। यह अन्तिम है science; mystic science भी है। ध्यान दीजिए कि श्रुति ने 'वा' शब्द का प्रयोग किया है। 'वा' अर्थात् विकल्प भी होता है और समुच्चय भी। अर्थात् तीनों ही चाहिएं, किन्तु तीनों में से कम से कम एक का वीर्य, यानी 'जोर' रहना चाहिए। और श्रद्धा ही जब मूल में है, तब मूल में जोर पकड़ने पर शाखा में भी जोर होगा। एक में यदि जोर रहेगा तब कर्म (जप) 'वीर्यवत्' होगा। अन्यथा 'वीर्यहीन' 'निर्वीर्य' जैसे ढोंढा (निर्विष) साँप होगा। ढोंढा साँप के सिर पर

श्रद्धा के तामस होने पर उससे विशेष कुछ बनता नहीं। श्रद्धा-वीर्य रहना चाहिए। उसके होने पर विद्या भी होगी, उपनिषद् भी होगी। जो साधक गरजी, दर्दी, मर्मी है, उसके लिये सभी दरवाजे खुले हैं। जिसे गरज है, वह गरजी है - व्यस्तवागीश वा हठकारी नहीं। जिसके हृदय में व्यथा है वह दरदी है, जिसके मर्म में कुछ वज उठता है वह मर्मी है। जो दो के बीच एकतानता (unison) ला देती है, उसी को कहते हैं श्रद्धा। नाम और नाम-दाता की सत्ता-शक्ति के साथ साधक की सत्ता-शक्ति की जब समच्छन्दता (concordance) चालू होती है तभी कहेंगे कि नाम में अथवा गुरु में श्रद्धा हुई। श्रद्धा की थोड़ी-सी 'छूत' लेकर सभी काम शुरु करना होता है—अर्थात् यथासम्भव अन्तर का योग रखना होता है। किन्तु 'श्रद्धावीर्य' अनेक साधनों का धन है। श्रद्धा जब आ गई तब समाधान में और क्या बाकी रह गया ? इस विश्वास, इस व्याकुलता की कथा ही तो 'श्रीमुख' से सुनी है। 'श्रीकर्ण' की श्रद्धा हुई है क्या ?

सभी व्यवहार-क्षेत्र में इन तीनों वज्रों के मिलने पर ही सिद्धि होती है, यह बात हम स्वत:सिद्ध की भाँति स्वीकार करते हैं। सभी सिद्धियों के लिए रहस्यविद्, प्रयोगकुशली, एवं श्रद्धालु साधक चाहिये। किन्तु आश्चर्य है, जप या और किसी आध्यात्मिक साधन के समय यह बात हमें याद नहीं रहती। तब नितान्त निरीह यन्त्री के हाथ में यन्त्र का स्वांग बनाकर कृपा की दुहाई देते हैं, निर्भर शरणागति की दुहाई सुनाते हैं। **'कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव:'*** हैं न ! कृपा कहते हैं किसे ? निर्भर शरणागति जब-तब जहाँ-तहाँ 'पतन' और 'मूर्च्छा' का भाव ला सकने से ही हो जाती है क्या ?

कृपा अहैतुक, शाश्वत एवं सर्वत्रग होने पर भी उसके साथ 'सजीव संयोग' अनेक साध्यसाधन से संघटित होता है, और शरणागति तो ठाकुर के चरण में मेरा श्रेष्ठ और चरम अर्घ्य दान है; जो अकैतव कातर कृपाभिखारी है उसके समीप ही न कृपाघनमूर्ति ठाकुर 'प्रकट' हैं ! सभी छोड़ (**'सर्वधर्मान् परित्यज्य'**†) न सकने पर **'तदेकशरण'** नहीं हुआ जाता। इसलिये आत्म-निवेदन (विशेषत: भक्त की भांति किसी निष्कैतव भाव वा उसके आश्रय से) है 'साधनशिरोमणि'। हाँ, अवश्य विद्या-वीर्यादि के साथ-साथ 'जोश' के साथ

ही शरणागति और कृपाभिखारी के अनुकूल मनोभाव लाने का साधन भी करना होता है। नहीं तो, श्रद्धा का मूल बोदा (कच्चा) होकर या सड़कर सूख जायेगा। जपादि भी करूँगा और दोनों समय जड़-समेत पौधे को उखाड़ कर भी देखूँगा कि जड़ कितनी बड़ी हुई! मानो मूल का हिसाब रखने का भार उस पर है जो स्वयं शाखा-पल्लवधारी है! मूल की चिन्ता करेंगे जो मूल के मालिक हैं। "मनुया रे तुई वेये जा रे दाँड़। तोर हायिल्या वस्या आछे, माझी भावना की रे आर।" "मनुआ! तू डाँड़ चलाता जा, तेरे माँझी तो बैठे हुए हैं, तुझे और क्या चिन्ता है?"

— — —

और संख्या के एक निर्दिष्ट सीमा में न पहुँचने पर वह नहीं होता। शब्द के, स्वर के समय भी वही है। ठीक-ठीक आकृति और परिमाण में कमी-बेशी होने पर नहीं चलता। स्पन्दन एक-दूसरे के साथ भग्नांश-सम्बन्ध से रहें तब भी नहीं चलेगा। एक पूरे composite rhythm वा harmony की सृष्टि होनी चाहिये। तभी उनका संघात समर्थ होगा। स्वानुगत, स्वगत— इनके भग्नांश में समाहार होने पर उस (संघात) में समर्थ समुच्चय वा संग्रह (cumulative effect) नहीं होता। जड़ विद्या कहती है - सामान्य एक मृदु कम्पन (oscillation) यदि ठीक एक ही ताल में क्रमागत रूप से प्रयुक्त हो, तो वह एक पर्वत को भी उखाड़ फेंकेगा। मन्त्रशक्ति अमोघ होती है, समर्थ, समञ्जस समुच्चय द्वारा। फिर स्पन्दन दीर्घ, मध्य, ह्रस्व--(long, medium, short) भाव से त्रिविध है। अनुदात्त, स्वरित, उदात्त; वाचिक, उपांशु, मानस इत्यादि भेद इस प्रसंग में आलोच्य हैं। दीर्घायत स्पन्दन में (तरंग में) यह 'उच्चता' कम होने की बात है। ह्रस्व में उच्चता अधिक है। 'तल' 'लम्ब' एवं 'वेध' इन तीन पर्वों में जपादि का विश्लेपण (analysis) एवं उनकी द्योतना (interpretation) मूल ग्रन्थ में सविशेप मिलेगी। पाद (magnitude), मात्रा (measures) कला (moment, aspect or partial) एवं काष्ठा (limit, merger or motive) -- इस 'चतुःसूत्री' के अवलम्बन से सर्वविध विश्लेपण हो जाता है। जैसा विश्लेपण संख्या-विपयक है, ध्वनि और भाव को लेकर भी उसके अनुरूप ही विश्लेपण होगा। सुतरां जप यदि वैखरी आदि भेद से चार हों, तो प्रत्येक पूर्वोक्त नियम से-- ३ × ३ × ३। ∴ ४ × ३ × ३ × ३ = १०८। कहना न होगा, पश्यन्ती और परा में जप मुख्यतः भावरूप और ज्ञानरूप होने पर भी उसका अव्यक्त क्रिया (स्पन्द)-रूप है। सुतरां स्पन्दनियामक रीति (law) वहाँ भी निरवकाश नहीं हुई है।

(२)

किन्तु पूर्वोक्त स्पन्दन समताल में होना चाहिये। समताल में होने पर एक अनुरणन (resonance) की सृष्टि होती है। जप-क्रिया का साफल्य (efficacy) मुख्यतः इस resonance effect के ऊपर ही निर्भर रहता है। मान लें, कोई वाद्य यन्त्र (जैसे सितार) बजा रहा हूँ। मेरी अंगुली द्वारा तार की झङ्कार, किस प्रकार resonance effect अथवा अनुगमन के द्वारा कितनी समृद्ध (augmented, enriched) हो रही है, यह सहज ही

में आ सकता है। सितार ठीक मिला होने पर उक्त प्रभाव (effect)
और पूर्णता लाभ कर सकता है, अन्यथा व्यतिक्रम होता है। निकट
न्यान्य यन्त्र भी यदि 'सम अनुपात' में मिले हों तो सितार की झंकार उन
में भी 'अनुरूप' अनुरणन (resonance effect) की सृष्टि करेगी।
बात है—अनुरूपता। बजाना सितार पर हो अथवा और किसी यन्त्र
हो—जहाँ भी अनुरूपता के बदले विरूपता होती है, वहीं वाद्य के स्पन्दन
ibrations) उन सब छन्दों में नहीं आएंगे जो कि समञ्जसता या
rmony-समूह (harmonic combination) के नियामक छन्दः
quations) हैं; सुतरां उनका संघात (combination) समञ्जस
armonic) न होकर अननुरूप, असमञ्जस, विषम (unharmonic)
गा। विरूपतावशतः अनुरणन (resonance effect) न होकर तरंग-
(waves) वक्रीभाव, विषमता (refraction, defraction) इत्यादि
effects) में विभक्त होकर नानाविध जटिल विरोध (interference
ffect) की सृष्टि करेगा। फल होगा—परस्पर-विरोध, उपमर्द, कोलाहल।

है, एवं उसका वीर्य 'शक्तिमान' भी अधिक है। स्थूल का हिसाब (calculation) अपेक्षाकृत 'सङ्कीर्ण सामग्री' (restricted data) लेकर चलता है, इसलिये उसे सरासर सूक्ष्म के क्षेत्र में नहीं चलाया जा सकता। तथापि यह कहा जा सकता है कि जपकारी का यन्त्र (अन्नमयादि) या तो—(१) एकान्त अनुरूप है (अर्थात् पूर्ण श्रद्धा से (मिला हुआ) है; नहीं तो (२) एकान्त विरूप (बिल्कुल श्रद्धाहीन) है; अथवा (३) आंशिक-भाव में अनुरूप (श्रद्धा के ६ कल्पों में से पूर्व-पूर्व कल्पों से क्रियाशील) है। प्रथम स्थल में अनुरणन (resonance effect) पूरा होगा, फलतः जपक्रिया में 'समूह' साधित होगा। दूसरे में विषमता (interference effect) अतिमात्रा में प्रबल होंगे, फलतः 'स्तब्ध व्यूह' अथवा 'व्यामोह' घटित होने की संभावना ही अत्यधिक है। जप के द्वारा संस्थान (system) एवं परिवेश (environment) में जिन सब प्रतिस्पन्दनों (reactions) की सृष्टि होगी, वे अत्यन्त विषम और विरुद्ध (overpoweringly unharmonious and unhelpful) हो सकते हैं। इस विषमता के कारण स्तब्ध व्यूह (मूढ़रूप—inert staticity) एवं व्यामोह (घोररूप—dissipating excitability) दीखता है। तीसरी होती है—जप-साधन की साधारण अनुकूल अवस्था। आंशिक अनुरूपता का आश्रय लेकर जपक्रिया एक wedge वा शलाका की भाँति साधन-यन्त्र में और शक्तिक्षेत्र (functional field) में प्रविष्ट होगी। वह क्रमशः समग्र यन्त्र के सूक्ष्म अवयवों के विन्यास को एवं क्रिया के छन्द को तदनुरूप भाव से बदल लेगी। जड़ और प्राणराज्य के मौलिक परिवर्तन इस प्रकार ही साधित होते हैं। Atomic number, molecular distribution, chromosomes and gene—इनका परिवर्तन बाह्य-कारणवशतः होने पर - इसी प्रकार हुआ करता है। आन्तर-कारणवशतः होने पर भी परिवर्तन की रीति एवं रूप पूर्वोक्त प्रकार के ही होते हैं। यन्त्र जिस अनुपात में अनुरूप होता चलता है, उसी अनुपात में उससे अनुरणन-समुदाय का resonance effect अधिक हुआ करता है। केवल जप ही क्यों, सभी अभ्यासों में यन्त्र की एक molecular aptness, सुतरां functional readiness, एक उपादानगत योग्यता, सुतरां मौलिक उन्मुखता की सृष्टि होती चलती है। अर्थात् यन्त्र बजाते-बजाते उसके बीच एक स्वाभाविक सुर-प्रवणता सृष्ट होती चलती है। सुतरां तब वह अंगुलि-स्पर्शमात्र से ही स्वर में और ताल में बज उठने का अभ्यस्त हो जाता है, बेसुरा वा बेताला नहीं

होना चाहता। इस प्रकार के समर्थ जप से अन्नमय कोष की एवं उत्तरोत्तर और-और कोषों की भी विरूपता दूर होकर अनुरूपता की सृष्टि होती है। स्थूल देह में अनुलोम और अनुकूल पोषण (harmonic secretions), सूक्ष्म में कुण्डलिनी का जागरण एवं चक्रों का उन्मेष, कारण में 'आनन्दवृद्धि'—सभी इस क्रिया के फल हैं। किन्तु जप का अभ्यारोह वा लक्ष्याभिमुख में अग्रसरण सर्वत्र अनायास नहीं होता। इसका कारण यह है कि चार प्रकार की बाधाएँ आकर विकास के पथ को अवरुद्ध करना चाहती हैं। इन बाधाओं के कारण ही चरितार्थता सहज नहीं होती। बाधाएँ हैं—(१) काल (=उपस्थिति) निमित्त=प्रतिरोध; (२) देश (=परिस्थिति) निमित्त=अवरोध; (३) वस्तु (=अवस्थिति वा अवस्थान) निमित्त=निरोध; (४) छन्द (=संस्थिति वा संस्थान) निमित्त=विरोध। वैदिक उपाख्यान में यथाक्रम से अहि, पणिः, वृत्र और असुर (=अ-सुर=वेसुर)। प्रथम+द्वितीय=resistance due to space-time-interval; तृतीय=due to ingress or intrusion, चतुर्थ=due to interference।

object)। जपसूत्र में दिखाया गया है कि यह अभ्यारोह-कर्म कृच्छ्रोदय, अभ्युदय, महोदय—इस प्रकार सोपान से सोपान पर परम की ओर अग्रसर होता है। परम में उपनीत होने पर फिर 'उदय' नहीं होता – नित्योदित है। जो कुछ भी हो, यहां स्मरण रखना चाहिए कि 'दहन' क्रिया से पहले 'शोषण' क्रिया अवश्य होनी चाहिये। नहीं तो आर्द्र इन्धन में अग्निसंयोग करके कोई फल-लाभ नहीं होगा, केवल धुएँ से ही व्याकुल होना होगा। पातञ्जल-दर्शन में इसलिये पहले क्लेशों का 'तनूकरण*' करने के लिये उपदेश दिया गया है। बाद में है 'समाधिभावन'।*

(ग) बहुत बार कोई विशिष्ट व्यञ्जनामय प्रतीक वा प्रतिकृति भाव के उद्बोधन में सहायक होती है। जैसे मान लें कोई symbol picture (प्रतीकात्मक चित्र) है: सप्तवर्णालीचक्रवेष्टित एक महान् केन्द्रज्योतिः है। नीचे एक शतदल प्रस्फुटित हो रहा है; उसके बीच से अग्निशिखा उत्थित होकर उक्त सप्तचक्र का भेद करके अन्तर्ज्योति से मिलना चाहती है। प्रतीक का रहस्य स्पष्ट है—The flame of the soul's aspiration leaping upto (आत्मा की आकांक्षा की ऊर्ध्वगतिमयी ज्योतिःशिखा)--जपादिकाल में अपनी व्यावहारिक सत्ता भूलकर यह धारणा करना आवश्यक है। अल्प की आकृति और सन्धान की समाप्ति भूमा में है; जैसे पार्वत्य-तटिनी की नदीनाथ में है। जीव का यह मूल आकूतिरूप (aspiration pattern) बहुत अनियत आसङ्ग से घिरा हुआ है।

जप के करण
वाक्
मनः
प्राण
(determinative)
अर्थवाद
(persuasive)
(३)
(१)
(२)
'do'
'know'
'be'
(or 'realise')
भावाख्या (४)
(feeling
attitude)
(श्रद्धा, भक्ति,
आत्मनिवेदन)
ज्ञानाख्या
(cognitive)
धारणाध्यानरूप
(५)
"अभ्यास"
(meditation
and inner
unfolding)
प्रत्याहाररूप
(६)
"वैराग्य"
(thought eli-
mination or
elimination of
unhelpful inner
vibrations)
वेगरूप (९)
अध्यवसाय
यत्न, कृति
(मृदु, मध्य,
अधिमात्र)
कर्मरूप
"lever"
उदान
प्राणापान
व्यापार
(७)
समान-व्यान
व्यापार
(८)
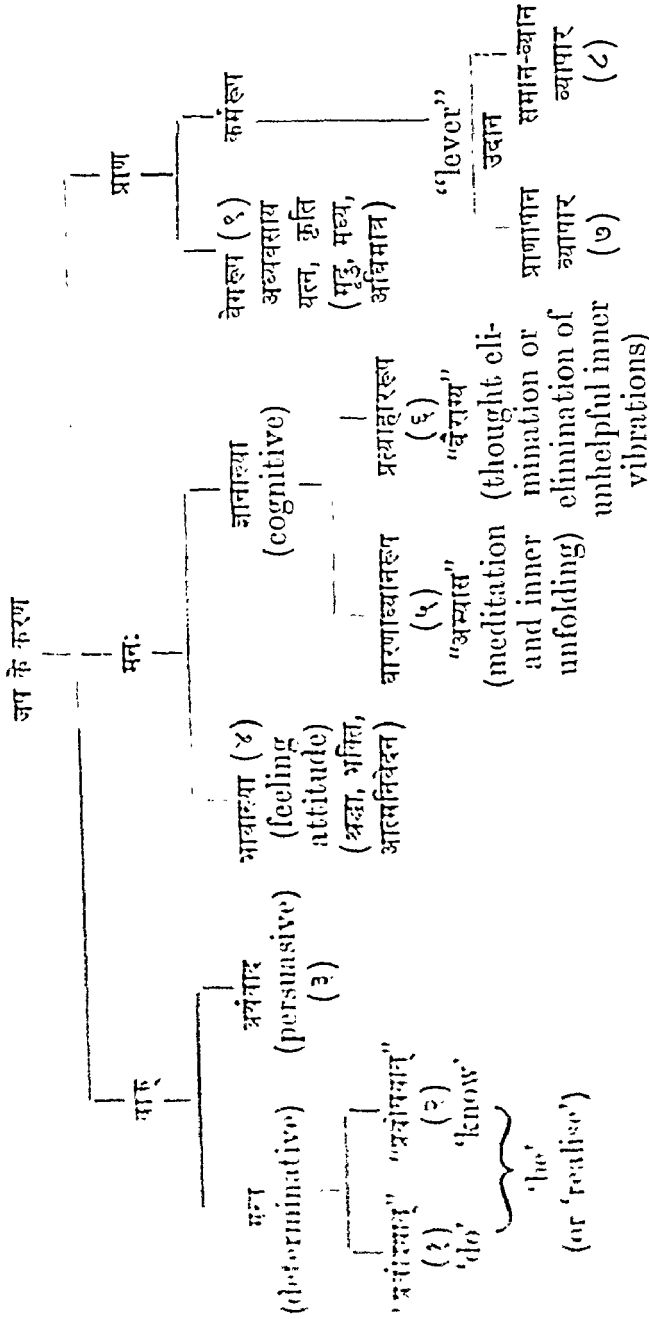
सुतरां आवश्यकता है—right (and enlightened) procedure, right attitude or dispositon and right understanding and intuition की।

ऊपर अंकित आधार में से (१) एवं (२) के दृष्टान्त यथाक्रम से इस प्रकार है—

(१) "आप्यायन्तु ममाङ्गानि······*" इत्यादि उपनिषद् का शान्तिपाठ; "असतो मा सद्गमय······†" इत्यादि उपनिषद् का मन्त्र।

(२) "तद् विष्णोः परमं पदम्······"‡ इत्यादि श्रुति-मन्त्र। "आविरावीर्मयि एधि······§" इत्यादि।

(३) स्तव-स्तुति-वन्दनादि।

(४) Right feeling attitude (उचित भाव-प्रवणता) का बना रहना आवश्यक है। क्योंकि feeling (भाव) है इस apparatus (मन्त्र) का 'tuning factor' (मिलाने वाला)। भाव के द्वारा विशेप-रूप से छन्दोनिमित्त बाधा दूर होती है। भाव के द्वारा ही 'छन्दोग' बनता है।

(५), (६) अभ्यास और वैराग्य (यथोक्त अर्थ में) आवश्यक हैं। क्योंकि उसके द्वारा विशेप रूप से 'यन्त्र' की देश-काल-वस्तु-निमित्तक बाधाएँ दूर होने में सहायता मिलती है।

(७) एवं (८) प्राण के दो मुख्य व्यापार हैं। उदानवृत्ति के द्वारा lever की भाँति दोनों की सहायता करनी होती है (प्राणायाम, भूतशुद्धि, न्यासादि इसी के अन्तर्गत हैं)।

(८) प्राण as driving force—जपादि कर्म में इस वेगाख्य शक्ति के मृदु, मध्य होने पर समर्थ आधार का उपयोग घटित होने में विलम्ब होता है। इस समय करणसन्धान के संघात के फल-स्वरूप भावना (auto-suggestion) होने पर महावीर्य होना है। संकल्पशक्ति की समृद्धि होने पर कुण्डलिनी की जागृति होती है, एवं जागृति जब भूमि-विशेप पर पहुँच जाती है

तब वह महा-कुण्डलिनी की सत्य और अमोघ संकल्पशक्ति की धारा में अव-गाहन करती है। तब फिर प्राण व्यक्ति वा individual के रूप में नहीं, अपितु अखण्ड समग्र भाव से—'प्राण' के रूप में क्रियाशील होता है। सृष्टि के अवसान में वा लय में महाकुण्डलिनी की 'निद्रा' (योगनिद्रा) कल्पित होती है अवश्य, किन्तु क्योंकि यह शक्तिरूपिणी है, इसलिये स्वरूप में इसका नित्यो-दित वा अव्यय भाव है ही; सुतरां 'मूलस्पन्द' (basic harmony, structure and function) भी है; साधक को जपादि साधन द्वारा अपने प्राण-स्पन्दन की सृष्टि करके उक्त मूल स्पन्दन के साथ पहले अनुरूपता एवं परिणाम में समरूपता सिद्ध करनी होती है। क्रिया द्वारा स्पन्दन वलसंग वा अव्वग होता है, भाव द्वारा छन्दोग एवं ज्ञान द्वारा धामग होता है। इन तीनों को यथाक्रम से नामग, कामग और धामग भी कह सकते हैं। संघात फल की बात कहते समय और एक प्रसंग मन में उठ रहा है—जप-ध्यानादि के 'एकान्त' फल और 'संघ' फल (congregational) है। एकान्त साधना ही साधारणतः प्रशस्त है, तब भी देश (यथा तीर्थादि), काल, (यथा योगादि), पात्र व वस्तु (यथा देवताविग्रह, गुरु अथवा अपर महापुरुषसान्निध्य) एवं छन्द: (यथा, भाव, बुद्धि और कर्म की समतानता) इन चारों की विशेष-विशेष अवस्था में संघकर्म विशेष फलप्रद है। उसमें resonance effect

(हरक '—') भागों के आक्षेपादि से युक्त करके उन्हें संयुक्त, सक्रिय, एकतान वना देगा ? अथवा संक्षेप में प्रश्न यह है कि वह अधोमुख, तिर्यक्, रजस्तमो-विशाल, संकर स्रोत को ऊर्ध्वमुख, सत्त्वविशाल, ऋजु, शंकरधारा में कैसे परिणत करेगा ? अर्थात् मूल प्रश्न यह है कि – कौन व कैसे वुद्धि को भावरूप और वोध (अथवा ज्ञान) रूप में कुण्ठा-कार्पण्य-दोष-मुक्त शुद्ध, सुतरां 'युक्त' वनायेगा ?

उत्तर—श्रीभगवान् की अनुग्रहशक्ति, जीव की पूर्वालोचित शुभवासना, शुभयोग, शुभाग्रह और शुभसन्धि—इन चारों द्वारा आकृष्ट और केन्द्रीभूत (सुतरां घनीभूत, मूर्त) होकर गुरुशक्ति के रूप में प्रकट होती है। वे जीव के 'प्रथम पुरुष' (surface consciousness) का अवलम्वन लेकर उसके क्रिया-कारक-फलात्मक अथवा पञ्चकोषात्मक संघात (apparatus) में प्रविष्ट होती हैं। प्रथम पुरुष की श्रद्धा का पोषण करके उसको 'श्रद्धावीर्य' वनाती हैं। 'मध्यम पुरुष' (subconscious के अधिवासी) को 'मित्रच्छन्दः' में आपूरण करने के लिए प्रस्तुत कर लेती हैं। 'उत्तम पुरुष' (super के अधि-वासी) को प्रसन्न भी करती हैं। यह आवश्यक है कि 'प्रथम पुरुष' को आवश्यक और यथेष्ट परिमाण में 'सहयोग' करना ही होता है। व्यापार एकतरफा नहीं होता। गुरु ही सव कर देंगे – मैं तो कुछ भी नहीं—यह शरणागति और समर्पण एक निष्क्रियता (passivity) मात्र नहीं है। सुतरां आरम्भ से ही 'युध्यस्व विगतज्वरः'* होने के पहले ही यह स्वाभाविक व स्वास्थ्यवोधक नहीं है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'† श्रद्धावीर्य के सहयोग से अभ्यासयोग की परि-पक्वावस्था में ही स्वाभाविक है। कारण, 'धर्म' जव तक 'सर्व' न होकर 'खर्व' है, तव तक उसका 'त्याग' त्याग ही नहीं है, त्याग का मिथ्या गर्व-मात्र है।

अच्छा, तीनों पुरुष गुरुशक्ति द्वारा अनुगृहीत होकर त्रिविध 'वीर्य' लाभ करते हैं। यह वीर्य ही प्रतिष्ठित होने पर पूर्वोक्त वज्र वन जाता है। प्रथम पुरुष देते हैं श्रद्धावीर्य। मध्यम देते हैं भाव अथवा संस्कारवीर्य (संस्कार= state of being regrouped, rearranged, reformed), उत्तम देते हैं विद्या वा ज्ञानवीर्य। गुरुशक्ति प्रथम पुरुष पर 'आक्रमण' करती है,

---

* श्रीमद्भगवद्गीता ३.३०। —अनुवादिका।

† „ „ १८.६६। — „ „

साधारणतः एवं बाह्यतः अक्षर (मन्त्र) रूप से। अर्थात् जीव का व्यावहारिक संघात व्यावृत्ति में, हरण में, कृपण-संकीर्ण छन्द में विन्यस्त और अभ्यस्त है। प्रकाश और आनन्द के सागर का एवं उसके परिपूर्ण ऋतच्छन्द और सत्यच्छन्द का संधान देने में वह अभ्यस्त नहीं है, उस सन्धान से वञ्चित रखने में ही वह अभ्यस्त है। सागर की बात भुलाकर नहर, नाला, तलैया आदि की बात में उसने (जीव को) पागल बना रखा है। इस क्रिया-कारक-फलसंघात को समावृत्ति, पूरण, उदार, शुद्ध, मुक्त, छन्द में विन्यस्त करने की क्रिया (positive process) शुरु कर देती है गुरुदत्त क्रिया। यही मुख्यतः जप-क्रिया है।

की 'ताड़ितशक्ति' मानों आकृष्ट घनीभूत होती रहती है। मध्यम प्रस्तुत होते हैं, उत्तम प्रसन्न होते हैं। तीनों की 'अवस्था' एक सीमा-विशेष में आने पर तीन वर्गों का एकत्र मिलन होता है।

द्रष्टव्य :—(१) प्रथम पुरुष—'पशु'→मध्यम पुरुष—'वीर'—उत्तम पुरुष—'दिव्य'→सम्मिलित पुरुष त्रिपुटी। (२) जापक=प्रथम पुरुष; जपयिता (गुरु)=मध्यम पुरुष; जप्य (मन्त्र)=उत्तम पुरुष। (३) तन्त्र (समर्थ क्रिया)=प्रथम पुरुष; यन्त्र=मध्यम पुरुष; मन्त्र=उत्तम पुरुष। इस प्रकार विभिन्न रूप से तीनों पुरुषों को यदि मिला न सकें तो जो 'क्षर' के अतीत एवं 'अक्षर' से भी उत्तम है—उस 'पुरुषोत्तम' में मिलित होना संभव नहीं होता।*

उक्त वीर्य-श्रय-सहकृत होकर जप-क्रिया जितनी चलती रहती है, वर्तमान 'कारोबारी' यन्त्र अथवा apparatus के systems of veilers (आवरक) and inhibitors (अवरोधक) साँचे उसी परिमाण में स्वतः सिद्ध, विपुल प्रकाश, आनन्द एवं उसके परिपूर्ण ऋततत्व छन्द के releasing (उन्मोचक) revealing (प्रकाशक) साँचों में रूपान्तरित (transformed) होते चलते हैं। अर्थात् मन्त्र द्वारा यन्त्रशुद्धि, यन्त्र द्वारा तन्त्रशुद्धि, तन्त्रशुद्धि द्वारा पुनः मन्त्रशुद्धि—इस प्रकार vicious ('पाप चक्र') नहीं, virtuous circle ('धर्मचक्र') चलता है†। यह क्रिया पूर्वोक्त 'तीन लोक' एवं उनके अधिवासी पूर्वोक्त तीन पुरुषों को खींच कर लिए चलती है।

---

* द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

....

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। गीता, १५.१५, १६

—अनुवादिका।

† अंग्रेजी में 'vicious circle'—यह एक लाक्षणिक प्रयोग है। इसका वाच्यार्थ तो पापचक्र ही है, किन्तु लक्ष्यार्थ उस परिस्थिति का बोधक है, जिसमें बुराइयों की एक ऐसी चक्रिक शृंखला बँधी हो जिसका भंग करना असम्भव-प्राय हो। लेखक ने इसी लाक्षणिक प्रयोग के सादृश्य पर virtuous circle (धर्मचक्र)—यह नया प्रयोग किया है।

—अनुवादिका।

इस प्रकार क्रिया उत्तरोत्तर पूर्णतर और शुद्धतर 'भावरूप' और 'ज्ञानरूप' में उद्भूत होती रहती है। क्रिया, भाव और ज्ञान रूप में उद्भूत होती है; भाव, क्रिया और ज्ञान रूप में और ज्ञान, क्रिया और भावरूप में। जो 'असत्' है, उसे 'सत्' बनाकर क्रिया उद्भूत नहीं होती, वस्तुतः जो सत् है, उसे release, reveal, recognise, reaffirm करके ही उद्भूत होती है। क्रिया किसी भी रूप में उद्भूत होने जाय, उसके 'प्राञ्चि' (पूर्व) और 'प्रत्यञ्चि' (उत्तर) कितने ही रूप बन जाते हैं।

मान लें, कोई जपक्रिया भावरूप और ज्ञानरूप में उद्भूत होगी। एक छलांग में ही वैसा नहीं होता। कर्म अवश्य छलांगों में ही (in definite quanta of energy) होता है। तब भी छलांग बहुत सी भरनी पड़ती हैं। कर्म जैसे-जैसे एक-एक शक्ति के स्तरविशेष (critical value) में पहुँचता चलता है, वही एक-एक छलांग है। यह कुछ-कुछ आकस्मिक परिवर्तन (sudden change) वा रूपान्तर (transformation) जैसा है, जैसा कि बीज अंकुरित होने के समय होता है, या बालक के वयःसन्धि (age of puberty) पर पहुँचने पर जैसा होता है इत्यादि। इस प्रकार की 'छलांग' प्रकृति के नियम में चलती है; इतना ही भग्य है, नहीं तो बूंद-बूंद करके सिन्धु का आहरण कौन करता ?

साक्षी हैं, जो †'निवास' है, जो †'निधानं बीजमव्ययं' हैं, ये स

अक्षर में समासीन हैं ।

जप का आधार इत्यादि ठीक करके रखना होगा। अन्यथा जप व्यर्थ वा नष्ट भले ही न हो, किन्तु उसका "फल" गोचर होने में विलम्ब होगा। जप की प्रतिकूल (negative) प्रतिक्रियाएं (reactions) क्लान्ति, अवसाद, प्रमाद, तन्द्रा इत्यादि के रूप में जमा होती रहेंगी। ये तामस प्रतिक्रियाएं (reactions) हैं; राजस (unhelpful) प्रतिक्रियाएं (reactions) भी हैं। यथा —चित्त–चाञ्चल्य, रिपुओं का प्राबल्य इत्यादि।

द्रष्टव्य (१)—जप का "सुर" वा छन्दोग क्रिया एवं भाषा जितनी बलिष्ठ और सक्रिय होती रहती हैं, जपकर्ता के संघात (system) के, एवं उसके परिवेश (environment) के 'अ-सुर' भाव उतने ही प्रबल आकार में 'उत्थित' होते रहते हैं। क्योंकि प्रकृति (nature) का एक प्रकार का आलोड़न (general stirring up) उससे होता है। अनेक क्षेत्रों में होमियोपैथिक औषध के फल से रोग-लक्षण-वृद्धि (aggravation) के जैसी अवस्था भी आती है। प्रकृति की प्रवृत्ति-धारा में जो लोग कायमी स्वत्व से भोग-दखल किए बैठे हैं, उनका उच्छेद सहज नहीं होता। इसीलिए सुरासुर-संग्राम सावनसमर की असली बात है। वे सब (असुर) रक्तबीज* के पेड़ हैं! जिह्वा पर रखकर—अर्थात् समर्थ जपास्त्र द्वारा उनका संहार

किसी भी प्रकार नहीं समझा जा सकता। एवं वे सब किसी 'अप्राकृत-धाम' (upper world of eternal freshness and pristine purity) से हमारे इस कारोबारी 'दूसर लोक' में 'प्रक्षेप '(projection) ही प्रतीत होते हैं।

(३) जपक्रिया का समाहार, संगति, समन्वय आवश्यक है। वैखरी और मध्यमा में यह काम बहुत कुछ 'यन्त्र-तन्त्र' में ही चलता है,—श्रद्धावीर्य के साथ दीर्घकाल निरन्तर सत्कारासेवित विधि-पालन द्वारा। किन्तु यह काम जब तक बुद्धिपूर्वक और आनन्दसिक्त (शुद्ध विज्ञान और आनन्द-कोश के अनुग्रह से युक्त) नहीं होता, तब तक परिपूर्ण तुष्टि नहीं, पुष्टि नहीं। (Realisation and satisfaction की भूमि आनन्द है — यह ध्यान रखना होगा)। सत्, चित्, आनन्द ये तीनों एक होने पर भी आनन्द को "हृत् सत्ता" (the core, the inmost) कह सकते हैं। **"ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं"*** सत्, चित आनन्द को प्राप्त करना है। साधन-जीवन में यह क्रम स्पष्ट ही देखने में आता है। उसे 'अस्ति'-रूप में जाना, 'भाति'-रूप में देखा, तब भी मानों एक 'शून्य' (न्यूनत्व) रह गया। 'प्रिय' या रसरूप उसमें प्रवेश न होने तक परिपूर्णता और चरितार्थता नहीं है। बहुत बार, यह शेष ग्रन्थि पार करने में देर लगती है। जीवन में क्रुष्टि आई, दृष्टि भी प्रस्फुटित हुई; तब भी तुष्टि नहीं है। उसकी प्रतीक्षा में क्रुष्टि और दृष्टि को और भी उदार और अग्रया (श्रेष्ठा) होना पड़ता है। शेषकाल में, कुछ ऐसा एक आता है, जिससे सब कुछ की परिपूर्णता और समाप्ति हो जाती है। हाँ, किसी प्रकार मध्यम पुरुष को प्रस्तुत करके मध्यमा का सेतु पार कर सकें तो जपक्रिया मुख्यप्राण के अपने समाहार—समावृत्ति—छन्द में आपतित हो जाती है। तब फिर समाहार इत्यादि अपेक्षाकृत अनायास, सहज और स्वाभाविक हो जाते हैं। इस प्रकार जपक्रिया समाहृत, सुसम्मत, सुसंबद्ध होकर एक महावीर्य छन्दः (harmony) की सृष्टि करती है। वह है सुरब्रह्म या छन्दोब्रह्म। यही जपसूत्र का "आधिकारिक" कल्प है।

जहाँ से इस निरन्तर हरण (running down process) के फल-स्वरूप फिर 'दिवालिया' स्थिति (insolvency) में गिरने का भय नहीं रहता। यह जपसूत्र का 'आनपायिक' कल्प है।

द्रष्टव्य —(३) :—जप के 'फल' अमर हैं, किन्तु वे साधारणतः जमा होते हैं, प्रथम पुरुष के कारोबारी बैंक में नहीं, मध्यम पुरुष के गोपन 'रिज़र्व बैंक' में। यदि जमा ठीक-ठीक होता रहे तो 'चक्रवृद्धि' सूद भी जुड़ जाता है मूल के साथ। किन्तु उस बैंक की 'पासबुक' शुरू-शुरू में प्रथम पुरुष को दिखाई ही नहीं देती। वह समझता है शायद सब कुछ पानी में जा रहा है। मानो अपने घर के अपने कारोबार की सब खबर उसके नख-दर्पण में है। श्रद्धा, विश्वास रख कर जपक्रिया चलाते रहें तो कभी-कभी, पासबुक, दिखाई भी दे जाती है—स्वप्न के रूप में, अनिच्छा जप के रूप में (साक्षात् क्रिया रूप में ही); इसके अलावा नानाविध अभूतपूर्व, असाधारण भाव-रूप में, और दर्शनरूप में भी। तब समझ में आता है कि जप-फल केवल जमा हो रहा है ऐसा नहीं, खूब भारी सूद भी दे रहा है। सूद = अनुरणनात्मक प्रभाव (resonance effect)। हाँ, जपकर्ता को इस बारे में होशियार रहना चाहिए कि कहीं 'overdraft' (जमा रकम से अधिक निकालना) न कर बैठें।

(५) सब प्रकार की समर्थ जपक्रिया की एक "अवसानभूमि" भी है। समर्थ जप 'महान् आत्मा'* है, एवं उसे 'यच्छेत्'* भी। उसके बाद 'शान्त आत्मनि'*—सब ठण्डा। यह 'शान्त' वह नहीं है जिसे वैष्णवादि रसशास्त्र ने 'शान्त-दास्यादि' कह कर आरम्भ में डाल दिया है। शुद्ध क्रिया, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध भाव की अभेद-पराकाष्ठा में जो 'महामौन' है, वही यह है। यहाँ तक आये बिना महाप्रभु रामानन्द राय का मुँह पकड़ कर बन्द नहीं करेंगे। कठ-

उसी प्रकार मित्रच्छन्द का आश्रय लेकर और अरिच्छन्द का त्याग करके "जपाक्षर" को सेते रहना होगा। "जपाक्षर" में साधारण "अनृत" अक्षर-बुद्धि का त्याग करना होगा। पक्षी यदि अपने अण्डे को "जड़-पिण्ड" मात्र समझे तो उसे क्योंकर सेता रहे ? साथ-साथ भाव का "ताप" और ज्ञान का "प्रकाश" जितना भी जुटा सको उतना ही अच्छा होगा। किन्तु उसे जुटाने में मूल के असली काम (सेने की क्रिया) में कहीं शैथिल्य या विच्युति न हो जाए। आक्षेप-विक्षेपादि (dissipation, defraction प्रभृति) यथासंभव वर्जनीय हैं। विच्युति होने पर भाव का आभास थोड़ा बहुत आया भी रहेगा तो मिट जायेगा, प्रकाश की छटा ज़रा-बहुत खिली भी रहेगी तो पुनः आवरण में लीन हो जाएगी। योग एवं क्षेत्रका उपयुक्त ढाँचा न मिलने पर भाव अपनी चपलता, तरलता, आविलता छोड़ कर शान्त, प्रगाढ़ एवं स्वच्छ नहीं होता; ज्ञान भी अवास्तव कल्पना, आरोप, संशय आदि को काट कर अपने उरु (श्रेष्ठ) निर्मल प्रकाश को प्राप्त नहीं करता। 'कच्चे' ढाँचे में असमञ्जस (misfit) भाव और ज्ञान दोनों ही प्रतिक्रिया (unhelpful reactions) की भी सृष्टि करते हैं। सुतरां जप-क्रिया को अपने स्वाभाविक छन्द और गति में चला कर भाव की गम्भीरता में एवं प्रकाश

(४)

उपसंहार में, जप-कर्म के मूल आधार को फिर एक बार संक्षेप में स्मरण करा देता हूँ—

मनुष्य के कार्य-करण-संघात के स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन 'स्तरों' में मोटा-मोटी पाँच कोश (अन्नमयादि) व्याप्त हैं। इनमें से प्रत्येक पुनः त्रिविध हैं। (१) पराग्वृत्ति ('नेगेटिव' = भूः = पृथ्वी); (२) प्रत्यग्वृत्ति (पॉजिटिव = स्वः = द्यौः); (३) परस्पर व्यावर्त्तक अन्तरालवृत्ति (मीडियम = भुवः = अन्तरीक्ष)। भूः, भुवः, स्वः एवं अन्यान्य व्याहृति का मौलिक विश्लेषण मूल ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। वहाँ देखोगे कि भूः = पृथिवी एवं स्वः = द्यौः। ये दो समीकरण दोनों व्याहृतियों के अर्थ-विशेष से ही बनाए जाते हैं। जो कुछ भी हो, सभी के 'पौज़िटिव' (धन +) संयुक्त होने पर अविच्छेद से प्रत्यङ्मुखी धारा (शुक्ला सृति) होती है और सबके नेगेटिव (ऋण —) संयुक्त होने पर पराङ्मुखी धारा (कृष्णा सृति) होती हैं। विश्व मे शुक्ला और कृष्णा धारा, पूरण और हरण प्रवाह का परस्पर मिश्रण एवं संकर (mixture and confusion) होते देखता हूँ। उन्हें शुद्ध रूप में नहीं पाता हूँ। इसलिए सर्वत्र धन-ऋण (plus + minus —) का आकर्षण है। शुक्ल एवं कृष्ण ने मिल कर एक 'धूम्र'-धारा (प्राकृत-धारा) प्रवाहित कर रखी है। "**ख्यात्यै तथैव कृष्णायै धूम्रायै सततं नमः**"*। उस धूम्र (कुटिल-जटिल गति, संकर छन्दः) प्रवाह के साथ ही जीव का साधारण परिचय और कारोबार है। दो शुद्ध धाराओं के परस्पर वेध के कारण जो मलिन संकर धूम्र धारा और जटिल संकर छन्दः चला है, उसी मे जीव पतित हुआ है। अब जप का काम है—अन्नमय का जो शुद्ध सात्त्विक 'भाग' है, उसमें क्रिया (स्पन्दन) की सृष्टि करके उसे प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द के शुद्ध (positive) पक्ष में पहुँचा देना। इनमें से प्रत्येक की शुद्ध अशुद्ध दो दिशायें हैं, यह ध्यान रखना चाहिए। प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द की शुद्ध (positive) दिशा क्या क्या है, वह भी गम्भीर भाव से चिन्तनीय है। जप भावरूप और ज्ञानरूप उत्कृष्ट भूमि में आरूढ़ होने पर जीव के भीतर जो नित्य प्रकाश और आनन्द का धाम विराजमान है, वहाँ पहुँचा देता है।

इस प्रकार समझ में आया कि इस संकर मलिन छन्द को शुद्ध उज्ज्वल

* दुर्गा-सप्तशती ५।१२ —अनुवादिका।

छन्द में-से आने में ही कल्याण है। यह शुभ परिणाम (transformation) जिस छन्द द्वारा घटित किया जाता है, उसे कहते हैं मित्रच्छन्दः; जिससे रोध अथवा व्याहति होती है, उसे कहते हैं अरिच्छन्दः। उसके फल-स्वरूप जीव की महती विनष्टि होती है। संकरधारा के बीच-बीच कहीं-कहीं 'शान्तभूमि' (zone of placidity) मिलती है; वहाँ शुद्ध ऊर्ध्वाभिमुख धारा मानो एक बाहु प्रसारित कर देती है वही बाहु होता है सेतु वा 'सन्धि'। उस सन्धि को पकड़ पाने पर संकर के असामान्य खिंचाव से निकल कर शंकरधारा में (अनायास, अनामय, निरुपद्रव प्रशान्तवाहिता में) जाकर गिर जा सकता है। उस सन्धि का सन्धान जो छन्द देता है, वही है मित्र-च्छन्द। सृष्टि का चक्र घूम रहा है, जीव भी उसमें घूम रहा है। आवर्तन के बीच-बीच कहीं-कहीं एक 'अवकाश' (point of escape), व्यावृत्ति वा आवृत्ति-वेग के सामयिक अभिभव (exhaustion) के कारण समावृत्ति (release और return) का एक बाहु (positive component) मानो आवृत्ति में से ही 'प्रकट' होता है—वहाँ एक 'अवकाश', 'सन्धि', 'शान्ति-भूमि' की सृष्टि होती है। उसके फलस्वरूप एक 'शुद्धोन्मुखता', प्रसाद-स्वच्छता, प्रकाशावरणक्षीणता, उज्ज्वलता आती है। फिर उसके फलस्वरूप आवर्त में पतित वस्तु अपनी आवर्तन-गण्डी (routine of life) को काट कर बाहर निकलने का सुयोग पाती है।

मिश्र, सकर से उज्ज्वल, शुद्ध, शंकर भाग, 'विष' भाग से 'अमृत' भाग अलग हो जाता है। इस मन्थन-क्रिया के साधक-बाधक के रूप में सुर-असुर (मित्र-च्छन्द और अरिच्छन्द)—ये दो पक्ष (components) युगपत् सक्रिय हैं। किन्तु शुद्धधारा के आश्रय से अभिरोह (outgrowing ascent) होना हो तो मित्रच्छन्द का जयी होना आवश्यक है। जयी न होने पर अवरोह अथवा जाड्य (stagnation) होगा। मन्थन के अवसान में जो शिवशंकर हैं वे फिर 'विष' को अलग नहीं करते, 'आत्मसात्' कर लेते हैं। तब वे द्वन्द्वातीत चिदानन्दैकरस हैं। कालियनाग का रहस्य भी चिन्तनीय है।

———

अन्त में दो मौलिक बातें

अन्त में कुछ बातें याद दिला देना अच्छा है। "इतना 'ईंधन' जुटा कर तव जप में लगना होगा। तब तो, देखता हूँ, जपसाधन एक प्रकार से असाध्य-साधन है"—ऐसा सोच कर कोई भय से पीछे हट जाना चाहेंगे। किन्तु स्मरण रखना होगा कि उपयुक्त ईंधन जुटाए बिना जीवन के व्यवहार-क्षेत्र में कोई भी 'सिद्धि' नहीं मिलती। और जीवन की जो सबसे श्रेष्ठ सिद्धि है, उसके लिए 'बिना पैसे एक सहज मुष्टियोग', अगत्या 'पाँच-एक पैसों का एक सस्ता तावीज'—इसीसे काम बना लेने की कल्पना देख कर लगता है **'किमाश्चर्यमतः परम्'*** ! लक्ष्य जिस परिमाण में बड़ा होगा उसका साधन भी उसी अनुपात में बड़ा होना ही चाहिए। सब देश, सब काल में साधकों का जीवन ही इसका प्रमाण है, कहीं भी, किसी क्षेत्र में सस्ते में किश्तों का हिसाब नहीं हुआ है। जप ही क्यों, कोई भी साधन 'सहज' नहीं है। विशेषतः आरम्भ तो सदोष और आयासबहुल हुआ ही करता है। बाधा और ग्रन्थियाँ तो अन्त तक चलती ही हैं, हाँ, उनका छद्मवेश बदलता रहता है। जो आरम्भ में कठिन है वह बाद में सहज भले ही हो सकता है, किन्तु वहाँ भी नूतन एवं और भी कठिन एक न एक कुछ आकर दिखाई दे जाता है। हिसाब सीखें, या गाना सीखें या और जो कुछ भी सीखें, वहाँ भी ऐसा ही है। प्रथम शिक्षार्थी की बाधायें बाद के शिक्षार्थी ने मिटा ली हैं, किन्तु उसकी अपनी बाधाओं का क्या? "इतना 'तोड़-जोड़' करके जप किस लिए करना होगा?—उनके नाम में, उनकी दया में विश्वास करो; उनसे प्रार्थना करो, व्याकुल बनो, उनकी शरण लेकर शान्त बनो, सरल बनो, शुद्ध बनो, ध्यान करो, प्रेम लगाओ" -इन सब उपायों में से भी कौन सा 'सहज' है यह कोई बता सकेंगे क्या? "मन्तर-तन्तर यह सब क्या करते हो? 'मन तोर और तन तोर' न होने पर कुछ नहीं होगा"—बात तो सभी ठीक है; किन्तु केवल बात से ही क्या मामला तय हो गया? 'बिना प्रेम से नहीं मिले नन्दलाला'· किन्तु प्रेम मिलता है किससे? सहज

---

* अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतःपरम्॥
(महाभारत, वनपर्व, २१२।१६)

कोई भी नहीं है। 'सहज' साधन के नाम से जो चला आ रहा है, कम से कम बौद्ध युग से, वह है 'सहज' अवस्था-लाभ के लिए साधन, स्वयं सहज नहीं है। वरन् एक नियम बना कर, फल होगा ऐसा विश्वास रख कर, जप करना ही कुछ हद तक सहज लग सकता है।

निष्कर्ष यह है कि क्रियाप्रधान, भावप्रधान अथवा ज्ञानप्रधान—चाहे जिस प्रकार से साधन चले, विद्या (विधि, पद्धति), श्रद्धा एवं उपनिषत् (रहस्य)-इन तीनों का यथानुरूप सम्मिलन न होने पर वह साधन, श्रुति की भाषा में, **'वीर्यवत्तर'** नहीं होगा, समर्थ और सिद्धिप्रद नहीं होगा। श्रद्धा अथवा भाव इन तीनों का मूल है इसमें संदेह नहीं, क्योंकि मूल में भाव रहने पर ही क्रिया 'स्वच्छन्द' में अपने पथ पर चलेगी (नामग, अध्वग बनेगी), और ज्ञान भी 'स्वच्छन्द' में परम उपलब्धि और आस्वादन में जा पहुँचेगा (धामग बनेगा)। किन्तु धृति और उत्साह के साथ पथ पर तो चलना ही पड़ेगा, और परिपूर्ण उपलब्धि के अन्तराय-स्वरूप जो पर्दे हैं उन्हें एक के बाद एक सरका ही लेना होगा। दूसरी ओर, श्रद्धा अथवा भाव आरम्भ में ही पक्का-पुख्ता होकर दिखाई नहीं देता। आरम्भ में रुचि या रति बड़ी 'लजीली' (shy) होती है, बड़ी 'चल-चपल-चञ्चला' (fickle, variable) है। एक ओर विद्या, दूसरी ओर उपनिषत्—इन दोनों के विश्वस्त आलिङ्गन में उसकी रक्षा करनी होती है, और सावधान होकर उसकी संभावना को 'से' कर प्रस्फुटित कर लेना होता है। इस ग्रन्थ के ४।४।२० सूत्र की कारिका में जिस कल्पतरु की बात की गई है, श्रद्धा वा भाव लेकर ही उसके मूल को आश्रय बनाना होगा; निष्ठा से उस कल्पवृक्ष के काण्ड (तने) का आश्रय लेना होगा। वैसा करने पर उस काण्ड से दो 'साधिष्ठ' शाखायें उद्गत होंगी—एक उत्तरोत्तर उज्ज्वल परिपूर्ण प्रकाश के प्रति उन्मुखता, दूसरी, भावभक्ति वा भजन-रस-माधुरी की उत्तरोत्तर रस-घन-गाढ़ता। ये दोनों शाखायें फिर जहां सामरस्य में सम्मिलित हैं, वहीं पर 'सान्द्रा मुकुल मञ्जरी' का उद्गम होता है और वहीं पर पूर्ण समापत्ति एवं परम सफलता होती है। यह 'महोदय' होने दो। आरम्भ में ही हाथ में 'कुठार' न ले लो, अनावश्यक 'वृद्धि' छांट डालने के लिए; अमृत कल्पतरु कहीं तुम्हारे भाग्यदोष से केवल ठूंठ जलपतरु न हो जायें।

मान लें, यह सब हो गया। किन्तु जपकर्ता को समर्थ जप के लिए स्पन्दन और वीचिविज्ञान का 'बोद्धा' भी होना होगा। ऐसा कहने से साधना के साथ

एक प्रायः असम्भव शर्त जोड़ दी गई क्या? उत्तर—वैसी कोई भी शर्त जोड़ी नहीं जा रही है। इस देश में तानसेन अथवा उस देश में वैग्नर (Wagner), बिथोवन् (Beethoven), मोजार्ट (Mozart) प्रभृति प्रतिभावान् सुर-शिल्पी शब्दविज्ञान (Acoustics), सूक्ष्मध्वनिविज्ञान (Supersonics) वीचिविज्ञान (Wave mechanics) का गम्भीर अध्ययन किए बिना रह सकते हैं, किन्तु यह सत्य है कि उनकी सुर-शिल्प-सृष्टि, चाहे जहाँ से चाहे जिस प्रकार हो इन सब विज्ञानों के आधार पर ही हुई है; अर्थात् melody, harmony, resonance इत्यादि के सूत्रों को मान्य करके ही हुई है, अमान्य करके नहीं हुई; होना सम्भव भी नहीं है। शारीर विज्ञान एवं जैव रसायनविद्या (Biochemistry) इत्यादि से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए स्वास्थ्य की रक्षा और पोषण करना संभव है अवश्य, किन्तु स्वास्थ्य तो इन सब विज्ञानों में निरूपित सूत्रों पर ही निर्भर करता है। इसी प्रकार जप के पीछे भी जो महाविज्ञान है, उसके किसी-किसी भाग में अभिज्ञता न होने पर भी जप चल सकता है इसमें संदेह नहीं; फिर भी उस विज्ञान के परिचय से काम में सुविधा ही होती है। तब फिर जप अँधेरे में टटोल कर चलने का काम नहीं रह जाता। किन्तु यह ठीक है कि जप के समय उसके पथ के प्रकाश का पदार्थविज्ञान (physics) की भाँति 'गाणितिक विश्लेषण' करके अथवा 'लेबोरेटरी' के यन्त्रों में उसे जाँच लेने का प्रयोजन नहीं है। यहाँ तक कि, सुरशिल्पी या वर्णशिल्पी की भाँति उस प्रकाश अथवा ध्वनि के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर स्तरों के पुङ्खानुपुङ्खतम भागों का विचार करने का भी वैसा प्रयोजन नहीं है। जप के समय जो relevant analysis (प्रासंगिक विश्लेषण) है वह

निकलूँ ? और केवल वच कर निकलना है क्या ? मुझे उसको भी, अर्थात् उसके छन्द के शासन को भी अपने निजी मित्रच्छन्द में पा जो लेना है ! जप प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द की भूमि में जाते-जाते उनके भी अपने-अपने 'ऋत' (law) अथवा नियमों को अपने 'मित्र' बनाता चलता है । सभी कुछ 'स्वारसिक' होता चलता है । इसके लिए श्रद्धा, भावभक्ति तो मूल में चाहिये ही, उसके अलावा विद्या एवं उपनिषद् का भी साक्षात् उपयोग है । एवंविध क्रिया के फल से इस कारोबारी प्राकृत अनुभव के जगत् से सेतु के बाद सेतु पार होकर, नूतन-नूतन अनुभूति के जगत् में जाकर पहुँचना होगा । हमारी इस प्राकृत अनुभूति को यदि 'भूः' कहें और इससे अतीत उस दिव्य अनुभूति और दैवी सम्पद् को यदि 'स्वः' कहें, तो इन दोनों का सेतु हुआ 'भुवः' । फिर दैवी अनुभूति की जो पराकाष्ठा वा परमता है, वह है 'तुरीय' । इसीलिए जप चतुष्पात् है । किन्तु सेतु प्रायः पद-पद पर पार करना होता है । एक-एक सेतु पार होने पर आगे का हालचाल वदल जाता है । आरम्भ में जहाँ विधि-निषेध का नागपाश था, सेतु पार होकर देखता हूँ कि वह नाग-पाश शिथिल हो गया है एक स्वतःस्फूर्त उन्मेष के देश में आ पहुँचा हूँ । और भी आगे वढ़ चलो , फिर से सेतु पार करो । कृपा (करके पाना — कृ+पा) का सन्धान जो कि पहले कुंठित था 'अपावृत' था, पूरा-पूरा मिलने लगा । इसी प्रकार चलना होगा । पूर्व-पूर्व भूमियों के नियम उत्तरोत्तर भूमियों में रद्द नहीं होते, वदल कर और एक प्रकार के हो जाते हैं । 'तनुरजाः' और 'सत्त्वविशाल' होते हैं । अच्छा यह यात्रा क्या आखिर मेरी है, या तुम्हारी ?

'यावन्नद्या नदीनाथे नैकान्तिकसमर्पणम् ।
मामकस्तावकस्तावदुच्छ्वासो वेति जल्पना ।।'

(जपसूत्र कारिका)

नदीनाथ में ऐकान्तिक समर्पण होने से पहले तक ही नदी सोचती है 'मेरी छाती का यह उच्छ्वास क्या मेरा है या तुम्हारा' ? किन्तु पूर्ण समर्पण में ??

———

जपसूत्रम्

ॐ

१. श्रीश्रीगुरुपादाब्जदल-पञ्चकम्

तिस्रो मात्राः प्रसन्नास्त्रितयमपि भृशं घ्नन्ति शिष्ये मलानां
कोशा निर्म्मोकजाड्यं जहति च विमला भर्गसि भान्ति पञ्च।
सेतुर्योऽप्यर्द्धमात्रा नयति च परमं व्यक्तमव्यक्तभावं
मात्राक्लृप्तस्त्वमात्रो नियत उरुयशाः श्रीगुरुस्तान्मूर्त्तिः ॥१॥

ओंकार की जो अर्द्धमात्रा है, वह व्यक्त से अव्यक्त तत्त्व की ओर ले जाने के लिये सेतु-स्वरूपिणी है। इस अर्द्धमात्रा का आश्रय लिये बिना किसी प्रकार भी परम अव्यक्त तत्त्व में प्रवेश नहीं पाया जा सकता। एक ओर व्यक्त रूप जो अ, उ, म्—इस त्रिमात्रा द्वारा गृहीत होता है और दूसरी ओर परम अव्यक्त जो अमात्र या मात्रातीत है अर्थात् जो किसी मात्रा द्वारा गृहीत नहीं होता--इन्हीं दोनों के मध्यस्थल में अवस्थित है ॐकार की अर्द्धमात्रा। यह नित्य एवं विशेषरूपेण अनुच्चार्य है। यह दोनों का संयोगकारक सेतु है। अर्थात् इसका आश्रय लेने पर ही व्यक्त से अव्यक्त लाभ होता है।

ॐकार में छन्दः, प्रयोग आदि सब हैं एवं उसी से उत्पन्न ब्रह्माण्ड सम्पुटित रहता है—इस प्रकार कही जाने वाली जो ॐकार की शक्ति है, वह सामान्य व्यक्ति को दृष्टिगोचर नहीं होती, किन्तु यह श्रीगुरुरूप में प्रकट जो प्रणवमूर्त्ति है, वह नियत यशोमण्डित है—उस में समस्त शक्तियाँ सम्यक् रूप से प्रस्फुटित हैं—वे सर्वलोकनयनगोचर हो कर अपनी अनन्त महिमा का स्थापन करते हैं। ॐ कार का यह प्रकृत (गुरुरूप) स्वरूप मात्रातींत अथवा अमात्र है। इस मात्रातीत स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए ही वह (ओङ्कार) त्रिमात्रा एवं अर्धमात्रा में क्लृप्त अथवा कल्पित है।

ॐकार की त्रिमात्रा, अर्द्धमात्रा एवं अमात्रा—इस पञ्चावयव के साथ श्रीगुरु की अभिन्नता का निर्देश ही इस प्रथम श्लोक का अर्थ है ॥१॥

गन्धेन स्थूलसूक्ष्मं यदशितमितरद् वा पुनीतेऽसवश्च
यस्यास्याब्जप्रकाशादमृतरसकणैराचरन्तीह साधु ।
रूपं चेतः पुनीते रुतिरवति धियं स्पर्श आनन्दमात्रा
गन्धाद्यैः पञ्चशुद्धीर्वहति स परमोऽस्पर्शशब्दादितत्त्वः ॥२॥

अन्वय—स्थूलसूक्ष्मम् यदशितम् ('भोग्यम्'--स्थूल-सूक्ष्म जो भोग है, उसे और) इतरद् वा (इतर जो कुछ है, उसे) [तद् यः] गन्धेन पुनीते (गन्ध से शुद्ध करता है); यस्य आस्याब्जप्रकाशात् (जिनके मुखकमल के प्रकाश से) अमृत-रसकणैः (श्रीगुरु के मुखकमल से क्षरित अमृत-रस-कणों के द्वारा) असवश्च इह साधु आचरन्ति (प्राण की शुद्धि होती है और वे शुद्ध आचरण करते हैं); रूपं चेतः पुनीते (जिन का रूप चित्त को शुद्ध करता है); रुतिः धियम् अवति (जिनका वाक्य धी अर्थात् बुद्धि की रक्षा करता है); स्पर्शः आनन्दमात्राः [अवति]; (जिनका स्पर्श आनन्दमात्रा का पोषण करता है); गन्धाद्यैः पञ्च-

अन्वय—श्रीगुरौ ('श्रीगुरुः' इस पद में) गवर्णः (गकार) भ्रष्टमूलं (मूल से भ्रष्ट हुए) कृपणं (दीन जीव को) वाग्बुद्धिप्राणमूलं (वाक्, बुद्धि और प्राण के मूल में स्थित आत्मतत्त्व को) गमयति (प्राप्त कराता है); रकारः क्षय्य-तृष्णं ('क्षय्य' विषयों में तृष्णायुक्त को अथवा 'क्षयि+अतृष्णं'—'क्षयी' विषयों में जिसकी तृष्णा क्षयप्रवण हो चुकी है ऐसे जीव को) विधुरं (कातर जीव को) मूर्धन्येनापि धाम्ना (मूर्धस्थित तेज के द्वारा) रसयति (संजीवित करता है); द्वौ उवर्णौ (दो उवर्ण) मोहमूलम् उच्छेदं विमलसमुदयं (मोह के उच्छेद एवं विमल ज्ञान के उदय को) नेष्यतः (प्राप्त करायेंगे); श्रीः शीर्णं ('श्री' शीर्ण वा श्रीहीन जीव को) श्रियं नीयात् (श्री प्राप्त कराए); यः विसर्गः [सः] परमम् उपरमं [नीयात्] (विसर्ग समस्त प्रपञ्च का उपशम करे) ॥३॥

भाष्य—'श्रीगुरुः' इस पद में पाँच वर्ण हैं। श्री, ग्, उ, र्, उ एवं विसर्ग। दोनों 'उ' को एक ही वर्ण मानना होगा। अब गकार का उच्चारण-स्थान है जिह्वामूल। यह क्या सूचित करता है? मूल से भ्रष्ट जो दीन जीव हैं, उस (जीव) की वाक्, बुद्धि और प्राण के मूल में जो श्रुतिसिद्ध आत्मतत्त्व स्थित है, उस आत्मतत्त्व की प्राप्ति कराता है यह गवर्ण; और रकार का उच्चारण-स्थान मूर्धा है इसलिए यह मानो बताता है कि 'गुरु'-शब्दस्थ रकार क्षयशील विषय में तृष्णायुक्त, अथवा जिसकी तृष्णा क्षय-प्रवण हो गयी है, ऐसे कातर जीव को मूर्धास्थित तेजः वा प्रकाश द्वारा संजीवित करता है। और दोनों उकारों में से एक, मोह के मूल में जो अविद्या है, उसे उत्पाटित करता है, अर्थात् समूल विनाश करता है, और दूसरा विमल ज्ञान का उदय कराता है। एक उकार द्वारा अज्ञान का उच्छेद और दूसरे उकार द्वारा ज्ञान का उदय समझना चाहिये। इसके द्वारा एकभक्तिरूप जो उत्कृष्ट ज्ञान है उसे भी समझना होगा। उकार की यह द्विविध वृत्ति है। उकार का उच्चारण-स्थान है ओष्ठ। इस ओष्ठ के द्वारा ही सब वर्ण नियन्त्रित हैं। अर्थात् ओष्ठ के द्वारा किसी-किसी स्थल में वर्ण छिन्न (inhibited) होते हैं, एवं उसके द्वारा ही वर्ण का बहिःप्रकाश वा उदय (exhibition वा expression) भी होता है। ओष्ठ हमारे मुख में (एवं लक्षणा से सृष्टि में सर्वत्र) मानो valve की तरह काम करता है—सब कुछ की गतागति मानो यही नियन्त्रित करता है।

क्रमशः होगा। किन्तु प्रथम दो पदों—'गमयति' 'रसयति'—में वर्तमान काल के प्रयोग द्वारा समझाया गया है कि ये दो अर्थात् वृथा, अमूलक वस्तु के पीछे भ्राम्यमाण जीव का मूलाभिमुख में गमन और विषयतृष्णाकातर जीव का दिव्यरसास्वादन—ये दोनों श्रीगुरु-कृपालाभ के साथ-साथ ही घटित होते हैं।

और आदि में 'श्री' शब्द, जो शीर्णता के कारण श्रीहीन हो गया है, उ श्रीसंपन्न सौन्दर्यमण्डित कर देता है—यही समझाता है। और 'श्रीगुरुः' में सबके अन्त में जो विसर्ग है, उसके द्वारा समस्त प्रपञ्च का उपशमात् परम उपरम वा 'शान्तं शिवम् अद्वैतम्' रूप परम तत्त्व सूचित होता है। नुसार 'श्रीगुरुः' पद के पाँच वर्ण क्रमशः १—मूलतत्त्वप्रापण (गमयति), तेजःसञ्चार वा बलाधान (रसयति), ३—अज्ञान का उच्छेद एवं ज्ञा उदय ४—अभ्युदय (श्री) और ५—उपशमात्मक ज्योतीरसाभिन्न परम वा निःश्रेयस् (विसर्ग)—इन पाँच को सूचित करते हैं। 'श्रीगुरुः' इ अथवा शब्द में ही इतना अपूर्व रहस्य है ॥३॥

प्रत्यङ्निष्ठः स धीरः परिहरति सनात् सङ्ग्रहाद् वै पराञ्चि
यस्याङ्गीकारलेशात् प्रभवति विशदं ब्रह्मसौख्यं च दौःस्थ्ये।
लीयेतामूर्तमात्रं घटपटविषयं विग्रहाद् यस्य मूर्तं
कारुण्येनावतीर्णं जयतु शिवगुरोरङ्घ्रिजं पञ्चगङ्गम् ॥४॥

अन्वय—(शिष्य, श्रीगुरु की शक्ति से, उनकी) संग्रहात् (संग्रहश कारण) प्रत्यङ्निष्ठः (अन्तर्मुख, एवं) धीरः (धीर हो कर) पराञ्चि विषयों को) सनात् (सदैव) परिहरति (छोड़ देता है)। यस्य (जिन के) अङ्गीकारलेशात् (स्वीकार-मात्र से, शिष्य-रूप में परिग्रह-मात्र से) द (दुर्दशाग्रस्त स्थिति में) विशदं (प्रसन्न) ब्रह्मसौख्यं (ब्रह्मानन्द) प्रभवति है); यस्य (जिन श्रीगुरु की) विग्रहात् (विग्रहशक्ति-द्वारा, शरीर धार लेने से) घटपटविषयं (घटादिसम्बन्धी) मूर्तं (दृश्य) अमूर्तमात्रं (अमूर्त की स्थि में) लीयेत (लीन हो जाय, उन श्रीगुरु का) कारुण्येन (संग्रह, प्रतिग्रह, विग्र- एवं परिग्रह, इन सब अनुग्रह-शक्ति की लीलाओं द्वारा) अवतीर्णं (उत्पन्न) शिव-गुरोः (शिव-रूपी गुरु के) अङ्घ्रिजं (चरण से उत्पन्न) पञ्चगङ्गं (संग्रह, प्रति-ग्रह, विग्रह, परिग्रह एवं अनुग्रह-शक्ति रूप पञ्चगङ्गा) जयति (सर्वोत्कर्षशील है, अर्थात् श्रीगुरु की यह शक्तिधारा भी परम-पावनी मन्दाकिनी धारा के समान ही शुद्ध करने वाली है)।

भाष्य—श्रीगुरु-शक्ति पराङ्मुखी अथवा बहिर्मुखी समस्त वृत्तियों को प्रत्यङ्मुखी अथवा अन्तर्मुखी कर के शिष्य को धीर बना देती है, जिससे वह बाहर के विषयों में आवृतचक्षुः (ढकी हुई आँख वाला) हो कर अन्तरात्मा का, प्रत्यगात्मा का दर्शन करने में समर्थ होता है, एवं अमृतत्व-लाभ कर सकता है। बाहर बहुदिशाओं में प्रसारित, बहु-विषयों में प्रधावित, शक्ति-निचय को संग्रह-शक्ति द्वारा श्रीगुरु प्रत्यङ्मुखी कर देते हैं। और दुर्दशाग्रस्त दुःस्थ जीव को शिष्यरूप में अङ्गीकार करते ही वे उसे परम प्रसन्न, ब्रह्मानन्द के अनुभव-योग्य बना देते हैं। शिष्य-रूप में इस स्वीकार वा प्रतिग्रह के द्वारा, इस अङ्गीकार के लेशमात्र द्वारा ही त्रिविधताप-क्लिष्ट दुःखतप्त जीव को वे सर्वोत्तम भजनानन्द एवं अपार ब्रह्मानन्द के अनुभव-योग्य बना देते हैं। यही उनकी प्रतिग्रह-शक्ति की महिमा है।

पृथ्वी का बीज धारण किया था एवं उसी से समस्त पृथ्वी पुनः आविर्भूत हुई थी, श्रीगुरु भी उसी प्रकार इस बीजमन्त्र को धारण करते हैं और उसे शिष्य के श्रुति-पथ का गोचर बनाते हैं। एवं इस बीज से भी मूलतत्त्व आविर्भूत होता है। (यहाँ पृथ्वी 'earth' नहीं है। पृथु अर्थात् विस्तारित भाव से रहने की 'भूमि' ही पृथ्वी या पृथिवी है)। आत्मवस्तु सर्वदा ही विद्यमान है, तथापि उसका मानो बीजमन्त्र से आविर्भाव होता है। उपलब्धि ही उस का आविर्भाव है। समस्त सृष्टि भी बीजाकार में रहती है, बाद में इस बीज से पुनः आविर्भूत होती है।

फिर कूर्म्म अवतार में जैसे श्रीभगवान् ने समुद्रमन्थन के समय मन्थनदण्ड धारण किया था, श्रीगुरु भी उसी प्रकार ब्रह्मवर्च्चस्-प्राप्ति के निमित्त शिष्य के आत्मा के मन्थन करने का दण्ड स्वयं धारण किये रहते हैं।

पुनः नृसिंहावतार में श्रीभगवान् ने जैसे हिरण्यकशिपु को विदीर्ण करके पृथिवी का पाप-हरण किया था, वैसे ही श्रीगुरु भी शिष्य के क्लेश-व्यूह अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इस पंच-क्लेश की समष्टि का निःशेष रूप से विनाश करते हैं।

श्रीगुरुपञ्चक में जो 'अर्द्धमात्रा' है, वह जपसूत्र में विशेष सूत्र द्वारा लक्षित हुई है। और कारिकाओं में उसकी आलोचना की गई है। यह एक मौलिक रहस्य है। कहना न होगा, कि 'अर्ध' का अर्थ 'आधा' नहीं है, यहाँ एक परिचय-श्लोक सानुवाद दिया जाता है, जिसकी बाद में विशेष व्याख्या होगी:—

अव्यक्तस्फोटयोनिः स्फुटमुदयमिता चोर्म्मिरूपास्ति मात्रा
स्फोटञ्चाव्यक्तमाप्ता स्वरसलिलचये वीचिविश्रान्तिमेति।
व्यक्तेर्ग्रामानतीत्य प्रसरति तनुगा यर्ध्यमाना स्ववृत्तौ
द्वे काष्ठे नादविन्दू त्वसकलयुगला साऽर्द्धमात्रा ह्यमात्रम् ॥

हमारे बोध में जो अव्यक्त है, किन्तु पूर्ण बोध में जो नित्य अकुण्ठित स्फुटीभाव (स्फोट) है, वह एक निस्तरङ्ग, अगाध महोदधि के समान है। अथच विश्वबोध में असंख्येय शब्द, अर्थ और प्रत्यय के रूप में वह पुनः तरंगायित भी हो रहा है। उस अव्यक्त स्फोट के आधार पर ऊर्मिरूप से उत्पन्न हो कर जो स्फुट आकार में उदित होती है, उसे मूल आकृति के भाव से (as pattern) देखने से 'मात्रा' कहा जाता है। अर्थात् सब कुछ ही मूलतः स्पन्द एवं ऊर्मि के रूप में उदित हो रहा है। उदित होने पर उसे अपने वीचि-रूप की विश्राम-भूमि कहाँ मिलती है? निखिल अभिव्यक्त स्वरादि का 'सलिलचय'—लीनता का स्थान जो अव्यक्त स्फोट है, उसी को वह पुनः प्राप्त होता है। जिससे उत्पत्ति होती है, उसी में लौट कर शान्त हो जाता है। इस उत्थान एवं अवसान के मध्य में जो अभिव्यक्ति है, वह नाना 'ग्राम' में नाना परदों में हो रही है। जब किसी भी 'ग्राम' में अभिव्यक्ति होती है, तब उस 'ग्राम' का ऊर्ध्व एवं अधः (ultra एवं infra) उभय दिशा में ही अतिक्रम करके मात्रा (measure principle) सूक्ष्म-गति (तनुगा) होकर स्वकीय वृत्ति में (स्वकीय सामर्थ्य और छन्द में) 'ऋध्यमान' होती रहती है। यह जो ऋध्यमानता (progression) है इसकी दोनों दिशाओं में सीमा (काष्ठा) है—पहली सीमा है विस्तार की दिशा में (नाद), दूसरी है केन्द्रीण घनीभाव की दिशा में (विन्दु)। दोनों काष्ठाओं के अभिमुख में असंख्य अभिव्यक्त 'कला' में मात्रा की इस प्रकार की जो ऋध्यमानता है वही है—अर्द्धमात्रा।

अर्द्धमात्रा एक ओर नाद तक और दूसरी ओर विन्दु तक ऋध्यमानता का परिपूर्ण रूप है। पुनः 'असकलयुगला' अर्थात् नादविन्दुकलातीत वा रहित रूप में यह 'अमात्र' मात्रातीत है ॥५॥

---

२. उपोद्घातः

[भूम-स्तुतिः]

नास्त्यस्तीति प्रतीतौ नियतमनुगतं श्रौतसत्यं ह्यनन्तं
मानेऽभाने विभाति प्रतिपदविदितं ज्योतिषां ज्योतिराविः ।
भूयस्त्वेनैव काष्ठा श्रुतिगणशिखयाऽदर्शि यो वै रसः स
भूमेति प्रत्यगात्माऽस्त्वनपिहितमुखः श्रेयसे प्रेयसे वः ॥१॥

अन्वय—नास्त्यस्तीति प्रतीतौ ('अस्ति' और 'नास्ति' इस द्विविध प्रतीति में) [जो सत्] नियतम् अनुगतं (नियत रूप से घटादि-पदार्थ में मृत्तिकादि की भांति अनुगत) [रहता है, वही] श्रौतसत्यं अनन्तं (उपनिषत्-प्रतिपाद्य सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप ब्रह्म है)। भाने (जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओं में जब विषय का भान होता है), अभाने (सुषुप्ति, मूर्छा आदि में जब विषय का भान नहीं होता, तब भी) प्रतिपदविदितं (साक्षात् निरवच्छिन्न स्वप्रकाश) ज्योतिषां ज्योतिः (सभी ज्योतियों का ज्योतिःस्वरूप वह) विभाति (विद्यमान रहता है) श्रुतिगणशिखया (वेदशिरोमणि छान्दोग्य उपनिषद् ने) भूयस्त्वेनैव ('ततो भूयः' इसी क्रम से) काष्ठा (सीमा) अदर्शि (दिखाई है) यो वै रसः स भूमेति (जो साक्षात् सुख या रसस्वरूप है वही भूमा है); [वह] प्रत्यगात्मा (सत्य, अन्तरात्मा) वः (आप लोगों के) श्रेयसे (स्वरूप-ज्ञान-रूप श्रेयोलाभ के निमित्त) प्रेयसे (परमानन्द प्रेयोलाभ के निमित्त) अनपिहितमुखः (निरावरण) अस्तु (हो)।

अयच यह विदित और अविदित इन दो में से कोई-सा भी नहीं है। वास्तव में यह शुद्ध ज्ञान-स्वरूप है। श्रुति-गण-शिखा वेद-शिरोमणि छान्दोग्य उपनिषद् में नारद-सनत्कुमार संवाद में 'ततो भूयः' इस क्रम से जो शेष सीमा दिखाई है, वह है साक्षात् सुख वा रस-स्वरूप भूमा। अल्प में, खण्डित में, परिच्छिन्न में वह नहीं है। अतएव सद्वस्तु केवल, अनन्त एवं ज्ञानस्वरूप हो, ऐसा नहीं है, वह पुनः निरतिशय सुखस्वरूप है। वह भूमा प्रत्यगात्मा (inner self) के रूप में सर्वभूत में प्रविष्ट है। प्रविष्ट हो कर उसने अपनी मायाशक्ति से उस सत्य प्रत्यगात्मा के स्वरूप (साक्षी, चेतयिता, रसयिता, विभर्त्ता) का आवरण किया है। तुम लोगों के स्वरूपज्ञान-रूप श्रेयोलाभ के निमित्त एवं परमानन्दरूप प्रेयोलाभ के लिये सत्य का वह मुख निरावरण हो ॥१॥

[हौंस-स्तुतिः]

हंसो यो हंसवत्यामृचि घृणिरिति वा प्राण इत्येवमूचे
गायत्र्या यद्वरेण्यं प्रणव इति गिरोदीरितं चापि भर्गः।
गा माध्वीरिन्दुबिन्दूनृगपि मधुमती मन्त्रवर्णैरदुग्ध
सूर्यो वह्निश्च सोमः सपदि विजयतामैकपद्येन हौंसः ॥२॥

अन्वय—यः (जिसे) हंसवत्यां ऋचि ('हंसवती' नाम की ऋक् में) 'हंसः' ('हंस' इस नाम से), [अन्यत्र] घृणिः ('घृणि' या भास्वान् इस नाम से) 'प्राणः' ('प्राण' इस नाम से) इत्येवं (इस प्रकार) ऊचे (कहा है); गायत्र्या (गायत्री मन्त्र ने) यद् वरेण्यं भर्गः (जिस वरेण्य ज्योति को) प्रणवः (ऊँकार) इति गिरा (इस वाणी से) [कहा है]। मधुमती (इस नाम की ऋक् ने—'मधुवाता ऋतायते' इन) मन्त्रवर्णैः (मन्त्रवर्णों द्वारा) [जिस] माध्वी गाः (मधुमयी गौ' से) इन्दुबिन्दून् (अमृत-कणों का) अदुग्ध (दोहन किया - वही), हंसः (हंस) वह्निः (अग्नि) सोमः (सोम) ऐकपद्येन (एक स्थान में) 'हौंसः' (इसमें मिल कर) [जययुक्त हों] ॥२॥

और सोम 'ह्सौः' इस महाबीज में एकत्र एक पद में मिलित होकर जय-युक्त हों ॥२॥

[पञ्चभूत-तत्त्वम्]

आवीरूपेण नादः समजनि विततं व्योम विश्वाश्रयं यद्
गत्यात्मा सोऽपि हंसो जगदुदयलयक्रान्तवृत्तिश्च वायुः ।
रूपाणां चित्रशालां स मनसि च बहिर्निर्म्ममे नाम वह्निः
सर्व्वेषां लीनतोकः सलिलमिति पुनर्धारणेऽभूद् धरित्री ॥३॥

अन्वय - नादः (सृष्टि की मूलभूता परावाक्), आवीरूपेण (ब्रह्म की आदिम अभिव्यक्ति के रूप में,) समजनि (अर्थात् प्रणव उत्पन्न हुआ); विततं (विस्तृत) व्योम (आकाश) समजनि (इस प्रणव की मूल अभिव्यक्ति के रूप में, उत्पन्न हुआ), यद् (जो आकाश) विश्वाश्रयं (सूक्ष्म और कारण का भी आधार है); सोऽपि (मूल आवीरूप) गत्यात्मा (क्रियोन्मुख कारणता-रूप गति से युक्त होकर) हंसः (अथवा प्राण है); (वह प्राण या हंस) जगदुदयलयक्रान्तवृत्तिश्च (और, जगत् के उदय, स्थिति एवं लय-व्यापार के रूप में वृत्तिमान् हो कर) वायुः (वायु होता है); सः वह्निः (उस अग्नि ने) मनसि बहिश्च (अन्तर्बहिः) रूपाणां चित्रशालां (जगत् में अपरूप चित्रशाला) निर्म्ममे (बनाई है); सलिलं (जल) इति (यह) सर्व्वेषां (सब कुछ की) लीनतोकः (लीनता या लय का स्थान है); पुनः (और) धरित्री (पृथिवी) धारणे (इन सबके धारण के लिए) अभूत् (हुई)।

स्थिति एवं लय-व्यापार के रूप में जब वृत्तिमान् होता है, तब वह काल और वायु है। जगत् में अन्तर्बहिः जो अपरूप चित्रशाला है, उसके निर्माता हैं दिग्देशादि पटचित्रक अग्नि या वह्नि। इस अनन्त वैचित्र्य की लीनता का जो स्थान है, अर्थात् जहाँ जाकर सब लय को प्राप्त होते हैं वही है सलिल। और जो इन सबको धारण करके रही है, वह है धरित्री वा पृथिवी।

एक दृष्टान्त लेकर, इन पाँच तत्त्वों को समझने का यत्न करें। मान लें 'बायोस्कोप' का चलचित्र देख रहे हैं, वहाँ प्रथम ही एक आधार-पट वा 'स्क्रीन' की आवश्यकता है, जिस पर छवियाँ पड़ेंगी। इसकी आकाश के रूप में कल्पना कर सकते हो। उसके बाद छवियाँ एक के बाद एक आ रही हैं, और चली जा रही हैं—यह जो संचरमाणता वा गति है, इसे ही वायुरूप में देखें। छवियों का एक विशिष्ट प्रकार व रूप न रहे तो वे हमारे नयन-गोचर नहीं हो सकतीं। जो छवियों को सुस्पष्ट व मूर्त्त करके हमारी आँखों के सामने रख रहा है, उस principle या तत्त्व को अग्नि समझें। इसके बाद, छवियाँ दिखाई दे रही हैं, किन्तु कोई सी भी रहती नहीं, सब चली जा रही हैं, किन्तु वे जाकर अन्त में कहाँ विलीन हो रही हैं? निश्चय ही किसी जगह वे सब जाकर आश्रय ले रही हैं या जमा हो रही हैं, इस लय वा आश्रय का स्थान है सलिल वा अप्। अन्त में देखें कि प्रत्येक चित्र वा वस्तु का एक विशिष्ट रूप है, प्रत्येक ही अपर से स्वतन्त्र हैं, उनकी इस निजस्व विशिष्टता को बनाये रखता है कौन? उनमें से प्रत्येक के निजस्व वैशिष्ट्य का धारक यदि कोई तत्त्व न रहता तब तो सब मिलजुल कर एकरूप (confused) हो जाता। वैसा तो होता नहीं है; प्रत्येक ही अपने स्वकीय वैशिष्ट्य को बनाये रखते हुए ही चलता है। यह संभव होता है मूल में एक धारक तत्त्व रहने के कारण। यही धरित्री है। पहले कहा गया है कि आकाश सब-कुछ का धारक है, फिर धरित्री को भी धारक तत्त्व कह कर उसकी व्याख्या की गयी। किन्तु यहाँ समझना होगा कि आकाश सब कुछ का धारक सामान्य भाव से है, और धरित्री विशेषभाव से। अर्थात् निखिल पदार्थव्यष्टि को धरित्री धारण करती है। आकाश उन सबके सामान्य आधार, common ground अथवा basis के रूप में है और धरित्री प्रत्येक के निजस्व रूप को, विशिष्ट रूप को धारण किये हुए है। याद रखना होगा कि सब कुछ का परम आधार प्रथम श्लोकोक्त सच्चिदानन्द तत्त्व है, उसके बाद सामान्य आधार आकाश है, एवं अन्त में विशेष आधार धरित्री है। प्रथम सर्वाधार है,

द्वितीय विश्वाधार है, तृतीय कृत्स्नाधार (support of individuality) है। प्रकारान्तर से, धरित्री='यह' प्रतीति का आधार, व्योम='यह' और 'वह' दोनों प्रतीतियों का आधार, और अक्षरपरम='यह', 'वह' एवं 'न यह, न वह' इन तीनों का आधार है। (इसकी व्याख्या बाद में होगी)। अतएव परम अव्यक्तके आवीरूप से हुआ प्रणव। प्रणव का आवीरूप है आकाश। प्रणव का प्राणरूप में प्रकाश है 'हंस' यह मन्त्र। प्रणव का आकाशादि पञ्चतत्त्व के रूप में प्रकाश है 'हं, यं, रं, वं, लं' ये पाँच मूलबीज। अक्षराक्षर सर्वविध तत्त्व ही इन का आश्रय लेकर स्थित हैं॥३॥

[गायत्री-स्तुतिः]

मीनो वीजानि धृत्वा प्रसरति पयसि प्रेंधते गूढसन्धि-
र्नाभावासीन ईष्टेऽखिलमिह कमठः संजरीगृह्यते च।
उच्चैर्धत्ते वराहो भुवमशनिनखैर्हन्ति दैत्यान्नृसिंहो
यौष्माकीणं सुभद्रं सपदमपि शिरश्छन्दसां मातुरव्यात्॥४॥

जीव और अन्तर्यामी। द्वितीय धारा है 'प्रतिग्रह' और उसकी दो वृत्तियाँ हैं, स्पर्श और आवेग। 'विग्रह' और 'परिग्रह' तृतीय चतुर्थ धारा हैं और 'अनुग्रह' अन्तिम धारा है जो परम पदार्थ है। इन पाँचों के आश्रय के बिना विष्णु का परमपद लाभ करने का कोई उपाय नहीं है ॥५॥

तिस्रो मात्रा अकाराद्या नादविन्दू च मूर्द्धनि।
एवमोङ्कारमीक्षस्व पञ्चगङ्गा यथाक्रमम् ॥६॥

अन्वय—अकाराद्याः तिस्रः मात्राः (अकार, उकार, मकार ये तीन और नाद तथा विन्दु) पञ्चगङ्गा (ये पाँच गंगा) यथाक्रमम् (क्रमशः) हैं; एवं (इस प्रकार) ॐकारं (प्रणव को) ईक्षस्व (देखो)।

भाष्य—ॐकार की मात्राओं का यथाक्रम से इस पञ्चगंगा में दर्शन करें। अकार, उकार, मकार—ये तीन मात्रा एवं मूर्द्धा में नाद और विन्दु ये दो—ये पाँचों ही यथाक्रम से पञ्चगंगा हैं। अतएव प्रणव का सर्वतोभाव से आश्रय लेना होगा ॥६॥

[शुद्धिपञ्चकम् श्लो० ७-११]

आचारसञ्चारविचारशुद्धिमाहारपूर्वामपि सन्दधीत।
युञ्जीत ताभिर्जितसङ्गदोषः प्रचारशुद्धिं क्रतुसिद्धिगोप्त्रीम् ॥७॥

अन्वय—आहारपूर्वां (आहारशुद्धि के साथ) आचार-संचार-विचारशुद्धिं (आचारशुद्धि, सञ्चारशुद्धि, विचारशुद्धि, इन शुद्धियों का) अपि (भी) सन्दधीत (सन्धान करना चाहिए), ताभिः (इनके द्वारा) जितसङ्गदोषः (संगदोष को जीत कर) क्रतुसिद्धिगोप्त्रीम् (साधन-क्रिया द्वारा जो सिद्धि होती है उसकी रक्षा करने वाली) प्रचारशुद्धिं (इस प्रचारशुद्धि को) युञ्जीत (प्राप्त करो)।

भाष्य सर्वतोभाव से आश्रय लेने के लिए शुद्धि आवश्यक है। आहार, आचार, विचार, प्रचार और सचार-शुद्धि। इन सब शुद्धियों में से प्रचारशुद्धि, साधनक्रिया द्वारा जो सिद्धि होती है, उसकी विशेष भाव से रक्षा किया करती है। आहार, आचार और विचार-शुद्धि के द्वारा सङ्गदोष को जय किया जाता है, एवं सञ्चारशुद्धि के द्वारा युञ्जान और युक्त हुआ जाता है ॥७॥

पुनाति ह्यन्नमाहारोऽसूनाचारस्ततः क्रमात्।
अजर्सीपथिकाश्चान्ये पुनन्ति कोषपञ्चकम् ॥८॥

अन्वय—आहारः (आहारशुद्धि) अन्नं (अन्नमय कोषको), आचारः

(आचारशुद्धि) अमून् (प्राणमय कोश को) पुनाति (शुद्ध करती है) ततः क्रमात् (उसी क्रमसे) अन्ये (दूसरे, अर्थात्) औपयिकाः (उपाय, विचारशुद्धि, प्रचारशुद्धि, संचारशुद्धि) कोषपञ्चकं (पांच कोषों को, उक्त के अतिरिक्त मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषों को) अञ्जसा (शीघ्र) पुनन्ति (शुद्ध करते हैं)।

भाष्य—आहारशुद्धि अन्नमयकोष को, आचारशुद्धि प्राणमय कोश को, विचारशुद्धि मनोमय कोश को, प्रचारशुद्धि विज्ञानमय को एवं सञ्चारशुद्धि आनन्दमय कोश को शुद्ध करती है। इस प्रकार शुद्धिपञ्चक कोषपञ्चक के शोधन का निश्चित और प्रकृष्ट उपाय है ॥८॥

अणुतनुपृथुभेदैर्गृह्यते कोषदोष-
स्त्वधिकरणनिधानात् पार्थिवादित्वमेति ।
त्रितयमपि मलानां पाञ्चमल्यं पुनर्वा
प्रणवपुटितशुद्धिस्तानपास्तान् करोति ॥९॥

अन्वय—कोषदोषः (कोष-पञ्चक का दोष या मल), अणुतनुपृथुभेदैः (अणु, तनु व पृथु भेद से) गृह्यते (गृहीत होता है), अधिकरणनिधानात् (अधिकरण के अनुसार) पार्थिवादित्वं (पार्थिव आदि अवस्था को) एति (प्राप्त करता है) मलानां (दोष) त्रितयम् अपि (तीन हों अथवा) पाञ्चमल्यम् (पांच मल हों), प्रणवपुटितशुद्धिः (प्रणवजपाश्रित आहारादि शुद्धि) तान् (उन्हें) अपास्तान् (दूर) करोति (करती है)।

अन्वय—विपश्चित् (धीर एवं विज्ञ साधक) ब्रह्मयोनेः (ब्रह्मयोनि) छन्दसां मातुः (छन्दोमाता गायत्री के) स्वरूपतां (स्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिए) क्रमवर्त्मानुसारतः मधुच्छन्दः (क्रमवर्त्म का अनुसरण करके मधुच्छन्द की) समीहते (इच्छा करता है, यत्नवान् होता है)।

भाष्य—जो ब्रह्मयोनि छन्दोमाता गायत्री है, जो साक्षात् अमृत-दोहन करती है, धीर एवं विज्ञ साधक मधुच्छन्द में क्रमवर्त्म का अनुसरण करके उसी के स्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिये यत्नवान् होते हैं ॥१३॥

आनुरूप्यं च सारूप्यं प्रातिरूप्यैकरूप्यते।
चतुर्णामनुयोगित्वमभावस्य विरूपता ॥१४॥

स्वेन अमृतच्छन्दसा (अपने अमृतच्छन्द के द्वारा) (उन देवताओं के लिए) तद् अमृतं (उस अमृत का) अदूदुहत् (दोहन कराया था)।

भाष्य—सब छन्दों की माता ब्रह्मयोनि गायत्री स्वयं है—परम मधुच्छन्दः। प्रणव का छन्द है—गायत्री। प्रणव में यह छन्द व्यक्तरूप से न रहने पर भी अव्यक्त बीज-भाव से निहित है। उस अव्यक्त बीज के भीतर उस छन्द का अनुसन्धान करना होता है। ब्रह्मवर्च्चः (अग्नि) प्रणव का देवता है। अतएव ब्रह्मवर्च्चस् के अनुग्रह से, प्रणव में निगूढ़ छन्दोमाता को प्रकाशित करने का नाम ही प्रणव की साधना है। प्रकाशित होने पर प्रणव साक्षात् ब्रह्म का ही वाङ्मय रूप है; अतएव यह विश्व ही प्रणव का रूप है **'ॐकार एवेदं सर्वम्'**।* देवताओं ने जिसकी इच्छा से वेद-माता का वरण किया था, वेद माता ने अपने अमृतच्छन्द के द्वारा देवताओं के लिये उस अमृत का दोहन कराया था। ॥१५॥

[शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-धारि-श्रीभगवत्स्तुतिः]

अध्मासीच्छ्रुतिसारमूर्जितमृतं शङ्खं य एवार्पिपद्
यः सौदर्शनमध्वरं कुशलकृच्छन्दोभिरातीतनत्।
योऽदारीन्मधुकैटभोरुसहसं कौमोदकीं गीष्पति-
र्धृत्वाब्जं व्यचकाशदाशु सुधियां बोधाय तस्मै नमः ॥१६॥

अन्वय—**यः** (जिन्होंने) **श्रुतिसारं** (वेदों के सार प्रणव के) **ऊर्जितम् ऋतं** (निरतिशय शुद्ध और समर्थ स्वरूप को) **शङ्खं** (शंख के रूप में) **अध्मासीत्** (बजाया था), **यः** (जिन) **कुशलकृत्** (कुशलकर्मा ने) **सौदर्शनम् अध्वरं** (यज्ञ को सुदर्शन चक्र के रूप में) **आर्पिपत्** (चालित किया था) (एवं) **छन्दोभिः** (छन्दःसमूह के द्वारा), **आतीतनत्** (विस्तारित किया था), **यः** (जिन्होंने) **मधुकैटभोरुसहसं** (मधुकैटभ के विपुल साहस को) **कौमोदकीं** (कौमोदकी गदा को) **धृत्वा** (धारण करके) **अदारीत्** (विदीर्ण किया था), **गीष्पतिः** (उन वाणीपति भगवान् ने) (प्रजापति के बुद्धिरूप—वाङ्मनोरूप) **अब्जं** (कमल को) **व्यचकाशत्** (विकसित कराया था), **सुधियां** (सुधी-गणों के) **बोधाय** (बोध के लिए) **तस्मै** (उन भगवान् को) **नमः** (नमस्कार है)।

भाष्य—श्रुतिसार जो प्रणव है, उस प्रणव का जो निरतिशय शुद्ध और समर्थ-स्वरूप है (ऋतम् ऊर्जितम्), उसे पांचजन्य शंख के रूप में जिन्होंने बजाया

---

*ओङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णा ओङ्कार एवेदं सर्वम्।
(छान्दोग्य उपनिषत् २. २३. ४)—अनुवादिका।

था (अग्भासीत्); जिन कुशलकर्म्मा ने पुनः इस विश्वसृष्टि-रूप यन्त्र को अपने सर्वतोभद्र सुदर्शन-चक्र के रूप में चालित किया था (आर्पिपत्) एवं विचित्र छन्दःसमूह के द्वारा विस्तारित किया था (आतीतनत्); पुनश्च जिन्होंने इस विश्वयज्ञ के महाबाधा-स्वरूप मधुकैटभ के विपुल साहस को कौमोदकी गदा-धारण-पूर्वक विदीर्ण किया था (कौ=वेद में, मोदक=रसयिता, अतएव कौमोदकी=वेदमन्त्र-समूह का जो चेतयिता और रसयिता है), उन गीष्पति भगवान् ने इन सब बाधाओं का निरसन करके स्वयं पद्मपाणि के रूप में प्रजापति के बुद्धिरूप (वाङ्मनो-रूप) कमल को आशु विकसित कराया था (व्यचकाशत्), सुधीगणों की बुद्धि जिससे सम्यक् वेदोज्ज्वला हो (बोधाय) उन शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी भगवान् को इस निमित्त से नमस्कार करता हूँ। ॥१६॥

[ऋत-सत्य-च्छन्दस्तत्त्वम् श्लो० १७-२२]

ऋतं विद्यान्महाकालीं सत्यं विद्यात् सरस्वतीम्।
छन्दो विद्यान्महालक्ष्मीं योजिते येन ते उभे ॥१७॥

ऋतं विद्याद् ऋकारेण ततुं तप्तुं च तद्द्वयम् ।
जनिमृतिस्रुतेः पारमात्मनीयादिसंज्ञकः ॥२७॥

अन्वय—['समावृत्ति' का] सकारः सत्यमेव स्यात् ('स'कार सत्य ही है), मकारः मधु (मकार मधु है), आनन्दश्च आकारः (आनन्द 'आ'कार है), पुनः वकारः ब्रह्मता ('व'कार ब्रह्मत्व है), ऋतं ऋकारेण विद्यात् (ऋत को ऋकार से जाने), तद्द्वयं (दो 'त'कार) ततुं तप्तुं च (तरण और तृप्ति के लिए) 'इ' संज्ञकः (इकार) जनिमृति-स्रुतेः पारं (जन्म-मृत्यु-रूप संसार के पार) आत्मनि (आत्मस्वरूप तक) इयात् (ले जाने में समर्थ है)।

भाष्य—अब 'समावृत्ति' इस शब्द के अक्षरों पर विचार करके देखें। सत्य ही 'स'कार है, मधु 'म'कार है, आनन्द 'आ'कार है, ब्रह्मत्व 'व'कार है, ऋत 'ऋ'कार है, दो 'त'कारों में से एक है तरण और दूसरा है तृप्ति, अर्थात् एक श्रेय व दूसरा प्रेय; शेष जो ह्रस्व 'इ'कार बचा उससे क्या समझना होगा? जन्म-मृत्यु रूप संसार के पार में जो नित्य-शुद्ध-बुद्ध आत्मस्वरूप है, उस तक ले जाने में वह समर्थ है; यही 'इ'कार का रहस्य है। ('इ' धातु=गमन) ॥२६-२७॥

सकता। ('समय' प्लुत भाव से उच्चारित होता है, इसीलिये कारिका में 'इति' के साथ उसकी सन्धि नहीं हुई है) ॥२१॥

किञ्चिद् वा बाधते सम्यक् सम्यगन्वेति किञ्चन।
विशिनष्टि पुनः सम्यक् तिस्रः समिति वृत्तिताः ॥२२॥

अन्वय—किञ्चित् (कोई) सम्यक् (सम्यक् रूप से) बाधते (बाधित होता है), किञ्चन (कोई) सम्यक् अन्वेति (अन्वित होता है) (और कोई) सम्यक् (सम्यक् रूप से) विशिनष्टि (विशेषित होता है) (इस प्रकार) सम् इति तिस्रः वृत्तिताः (सम् की तीन वृत्तियां हैं)।

भाष्य अब वह त्रिविध वृत्ति क्या है यह समझने का यत्न करें। 'सम्यक्' शब्द के भीतर ही यह तीन प्रकार की वृत्ति लक्ष्य करनी होगी। कैसे? कोई सम्यक् रूप से बाधित होता है, कोई सम्यक् रूप से अन्वित होता है, और अन्य कोई सम्यक् रूप से विशेषित व निरूपित होता है—ये तीन 'सम्' की वृत्ति के प्रकार हैं, ऐसा समझना होगा। किसी तत्त्व के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा का निरसन, कहाँ-कहाँ उस तत्त्व का अन्वय रहा हुआ है, उस का दर्शन, एवं तत्त्व के स्वरूप में प्रवेश, ये तीन सर्वथा न होने तक समावृत्ति नहीं होगी ॥२२॥

सञ्जानीते समावृत्तौ समीक्षते समेति च।
ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं च स्वरूपतो यथाक्रमम् ॥२३॥

सम्यग्वर्तेरन्नस्यां वै समाससमतामिताः ।
अतएव समावृत्तिरिति व्युत्पाद्यते हि सा ॥३५॥

अन्वय—सूर्याचन्द्रमसौ (सूर्य और चन्द्रमा) च (और) अग्नीषोमौ (अग्नि और सोम) च (और) नादबिन्दुकौ (नाद और बिन्दु) प्राणापानौ (प्राण और अपान) इति द्वन्द्वाः (ये विविध द्वन्द्व) आध्यात्मिकादयः त्रयः (आध्यात्मिक आदि त्रिपुटी-भेद) अस्यां (इस समावृत्ति में) समाससमतां (सुषम समन्वय को) इताः (प्राप्त हुए) वर्तेरन् (रहते हैं) अतएव (इसलिए) सा 'समावृत्ति'रिति व्युत्पाद्यते (इस प्रकार समावृत्ति की व्युत्पत्ति की जा सकती है) ।

भाष्य - सूर्य और चन्द्रमा, अग्नि और सोम, नाद और बिन्दु, प्राण और अपान इत्यादि विविध द्वन्द्व एवं आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक एवंविध सभी प्रकार के त्रिपुटीभेद जिस अवस्था में परस्पर वैषम्य और विरोध त्याग कर सुषम समन्वय लाभ करते है, उस अवस्था को समावृत्ति का लक्ष्य समझना होगा । समा=समञ्जसा, वृत्ति=गति व स्थिति । मान लें कि प्राण और अपान ये दो वृत्ति हैं, ये दोनों वृत्ति अवश्य ही परस्पर संगत है, किन्तु सचराचर सुसंगत नहीं हैं, अर्थात् प्राण-व्यापार और अपान-व्यापार के मध्य समता की रक्षा नहीं हो रही है । प्राणायाम के द्वारा इस समता की रक्षा का प्रयत्न करना होता है । *'प्राणापानौ समौ कृत्वा' । अग्नि और सोम प्रभृति युग्म तत्व के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार समताविधान का यत्न करना होगा । यह समस्त साधन ही समावृत्ति का अंग है ॥३४-३५॥

छन्दसां समतावृत्तिः समासतः समञ्जसा ।
समावृत्तिर्हि सा ज्ञेया व्यासविषमतां विना ॥३६॥

अन्वय - समासतः (जपस्पन्दन-समूह के समुच्चय में) छन्दसां (छन्दों की) समतावृत्तिः (समता की स्थिति में रहना) समञ्जसा (अपेक्षित है), हि (क्योंकि) समावृत्तिः (समावृत्ति) व्यासविषमतां विना (व्यास-विषमता की स्थिति से रहित) ज्ञेया (जाननी चाहिये) ।

भाष्य—पुनश्च, जब समास अथवा अविभक्तावस्था से व्यास अथवा विभक्तावस्था में लौट आना होगा, तब भी यह ध्यान रखना होगा कि कहीं

---

*स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५. २७)—अनुवादिका ।

[मीनशक्तिनिरूपणम् श्लो० ५०-५३]

वीजं यद् विशति क्षेत्रं शेते तु जाड्यमूर्च्छितम् ।
तज्जागर्त्ति यदा बाधा प्रतिबध्नाति नोदयम् ॥५०॥
अकारवृत्तिताऽव्याप्य एष एव ह्यनुक्रमः ॥५१॥
अव्याकृते बीजमात्रे जिजागरिषति पुनः ।
चञ्चलयते सुप्तमीनस्तदा स्यादङ्कुरोद्गमः ॥५२॥
उकारतनुभाग् भास्वान् वराहो हेतुरुद्गमे ।
येन बाधाविक्रिये च तृह्येते अवलीलया ॥५३॥

शक्ति) वेविष्टे (विस्तार करती है) पुनः (फिर) अन्यथा (वामन रूप बिन्दुशक्ति) बीजायते (बीजरूप में स्थापित करती है)।

भाष्य—नाद और बिन्दु को यथाक्रम नृसिंह और वामन कह कर समझें। नृसिंहरूप नादशक्ति बीज का विस्तार करके उसे परिपूर्ण विकास की ओर ले जाती है, एवं वामनरूप बिन्दुशक्ति उसी पूर्णता-प्राप्त पादप को पुनः बीज-रूप में स्थापित करती है ॥५५॥

[अम्भ-उर्वी-तत्त्वम् श्लो० ५६-५८]

अम्भसाऽत्र विजानीत लीनसंस्कारसङ्कराम्।
क्लेशपङ्कमृदागविद्यां यत्रास्तेऽस्मितादयः ॥५६॥

तपस आविरायाति सर्गतावच्छिन्नता सतः ।
बीजाङ्कुरप्ररोहाणां विशेषाभावरूपता ॥६०॥

अन्वय– तपसः (तप से) सतः (सद् वस्तु की) आविः ('आविः' अवस्था) आयाति (प्रकट होती है), सर्गतावच्छिन्नता (सर्ग अथवा सृष्टि के अभिमुख अवस्था 'आविः' है, जो कि) बीजाङ्कुरप्ररोहाणां (बीज, अङ्कुर अथवा प्ररोह की) विशेषाभावरूपता (विशेषहीन अवस्था है)।

भाष्य—जब एकमात्र सद्वस्तु है, सर्ग वा सृष्टि जब नहीं हुई है, ऐसी अवस्था में सद् वस्तु सृष्टि का सामान्य सङ्कल्परूप है अथवा सर्गाभिमुखीन जो आदिम अव्यक्त भाव है, उसी को सद्वस्तु का आविरूप कहना होगा। इस आविः अवस्था में बीज, अङ्कुर, प्ररोह प्रभृति कोई 'विशेष' अभी तक दिखाई नहीं दिया है अर्थात् आविः को सृष्टि का बीज अथवा अङ्कुर अथवा प्ररोह— इन सब में से कोई आख्या नहीं दी जाती। वस्तुतः—'सद् वस्तु ने कल्पना की थी, कामना की थी, ईक्षण किया था'—इत्यादि रूप में सृष्टि की जिस बीजावस्था की बात श्रुति ने हमसे बार-बार कही है, वह भी मानो 'आविः' की परवर्ती अवस्था है। इस प्रकार सब प्रकार की अभिव्यक्ति के आदि में जो 'आविः' है, वह सब प्रकार के 'विशेष' या निरूपक के अभाव के कारण स्वयं अव्यक्त है ॥६०॥

[अविस्तत्त्वम् श्लो० ६१-६५]

पयोधेर्निस्तरङ्गस्य प्राग्वीचिभङ्गता यथा ।
वायूर्जितस्य दृश्येत कदाप्युच्छूनतागतिः ॥६१॥

अहर्निशं गतं सन्धिं यत्राहर्न च शर्वरी ।
न जागर्तिर्न सुप्तिर्वा तस्याविशेषता मता ॥६५॥

अन्वय—यत्र (जहां) अहर्निशं (दिन और रात) सन्धिं गतं (सन्धि को प्राप्त है) (जहां) न अहः न च शर्वरी । न दिन है न रात्रि) (जहां) न जागर्तिः (न जागरण है) न सुप्तिः वा (अथवा न सुप्ति है) तस्य (उस की) अविशेषता (अविशेष भावरूपता) मता (मानते हैं) ।

भाष्य—दिन और रात्रि जहां सन्धिप्राप्त होते हैं, सुतरां जहां दिन भी नहीं है, रात्रि भी नहीं है, जागरण भी नहीं है, सुप्ति भी नहीं है, उसे अविशेषभाव कह कर समझेंगे ॥६५॥

[आवीरात्रि-तत्त्वम् . तद्रूपं समुद्र-अर्णव-तत्त्वञ्च श्लो० ६६-६७]

भर्गोत्पादभीद्धात्तज्जातमाविरितीर्यते ।
तस्य प्रतिकृती रात्रिर्या रात्रिसूक्तनान्विता ॥६६॥

ततोऽधिकृत्य चात्मानं भावोऽतश्च स्वभावता ।
समनुख्यानिताऽऽविर्हि सर्गाभिमुखता स्वधा ॥६७॥

अन्वय—अभीद्धात् (अभीद्ध) भर्गोत्पात् (भर्गोत्पाद से) (जो) जातं (उत्पन्न है) तत् (उसे) 'आविः' इति (ऐसा) ईर्यते (कहते हैं) तस्य (उसकी) रात्रिः (रात) प्रतिकृतिः (प्रतिकृति है,) या (जो) रात्रिसूक्तम् अन्विता (रात्रिसूक्त से सम्बद्ध है) ।

भाष्य 'अभीजात्' इस मन्त्र में आवीरूप में जो अभिमुखीनता की बात कही है, वह अभिमुखीनता पराक् एवं प्रत्यक् रूप से दो प्रकार की है। श्रुति ने 'पराञ्चि खानि' इस मन्त्र में यह दिखा दिया है। प्रभेद यही है कि प्रत्यक् दृष्टि से शुद्ध (आवरण और विक्षेप-निरसनपूर्वक) आविष्कार है; दूसरे पक्ष में, पराक् दृष्टि से अशुद्ध (आवरण और विक्षेप के साथ) आविष्कार है। दोनों स्थलों में ही आविष्कार होता है, अर्थात् 'अग्नि-भाति' रूप से साक्षात् अपरोक्ष रूप से भान होता है। प्रातिभासिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक किसी स्तर में इसका व्यतिक्रम नहीं है ॥७०॥

ब्रह्माण्ड में जो प्रकाश है, सृष्टि के अभिमुख वही है भर्गः=तेजः=अग्नि।
इस प्रकार वह आदिम रात्रि हुई अग्नि ॥७१॥

आविरिति प्रकाशस्य मूलावृत्तिश्च विस्तृतेः ।
तदेवान्वेति सर्वासु परासु सर्गवृत्तिषु ॥७२॥

समुद्रोऽर्णव आयाति ह्याकारे रात्रिमन्विते
नैवास्ति व्यक्तरूपोऽव्यक्तरूपत्वेऽपि चान्यथा ।
उत्कृष्टता समुद्रेण चार्णवेनैजनं सतान्
तयोरेव समासेन कारणस्य क्रियोद्यमः ॥८३॥

है), [ये दोनों] ऋचा साम्ना च (ऋक् और उद्गीथ द्वारा) अर्केन्दू (अर्क और इन्दु-रूप में) भर्गरोचिषी (भर्ग और रोचिः-रूप में) कल्प्येते (कल्पित होती है)।

भाष्य पुनश्च अहः को शुक्ल एवं क्षपा को कृष्णा इस प्रकार अभिहित किया जाता है। सब पदार्थों की सब वृत्तियों में शुक्ल एवं कृष्ण—इन दो गतियों का अनुसन्धान करना होगा। एक प्रकाश और विकाश की ओर गति है, दूसरी विक्षेप और आवरण की ओर गति है। एक घन है, दूसरी ऋण है। ऋक् एवं साम इन दोनों ने ऋक् एवं उद्गीथ के द्वारा अर्क एवं इन्दुरूप में एवं भर्ग और रोचिःरूप में इन दोनों की कल्पना की है। ७७॥

[सवितृ-पूषतत्त्वम्]

सूयते ऋध्यते येन तेजो भुवननाभिषु।
सवितेति च तं विद्धि पूषेति भर्गरूपिणम् ॥७८॥

अन्वय भुवननाभिषु (भुवन की नाभियों में) येन (जिसके द्वारा) तेजः (तेजः-शक्ति का) सूयते ऋद्ध्यते च (प्रसव और पुष्टि होती है) तं भर्गरूपिणं (उस भर्गरूपी देवता को) सवितेति पूषेति ('सविता' और 'पूषा') विद्धि (जानें)।

भाष्य निखिल भुवन की नाभि में जो तेजःशक्ति रहती है, उस तेजःशक्ति को जो प्रसव करता है और पोषण करता है, उसी साक्षात् भर्गरूपी देवता को सविता और पूषा कह कर जानें ॥७८॥

[विश्वचक्रनिरूपणम्]

निखिलनाभिनिष्ठेन सूर्यनारायणेन वै।
अरनेमिविभेदेन कल्पिता विश्वचक्रता ॥७९॥

अन्वय—निखिलनाभिनिष्ठेन (निखिल पदार्थ की नाभि में रहने वाले) सूर्यनारायणेन (भगवान् सूर्य ने) अरनेमिविभेदेन ('अर' और 'नेमि' इस प्रकार विभाग द्वारा) विश्वचक्रता कल्पिता (भुवनचक्र की कल्पना की है)।

[सङ्कर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्ध-वासुदेव-तत्त्वम् श्लो० ८०-८३]

अणीयानणुतोकःसु महीयान व्योमनीश्वरः।
सङ्कर्षणः स नोदेति नास्तमेति स्वरूपतः॥८०॥

अन्वय—सः (वह) ईश्वरः (ईश्वर) अणुतोकःसु (क्षुद्रादपि क्षुद्र में) अणीयान् (अर्थात् और भी छोटा होकर अनुप्रविष्ट है)। व्योमनि महीयान् (महान् व्योम में महान् है)। (वह) सङ्कर्षणः (महासङ्कर्षण-रूप है) स्वरूपतः (स्वरूप से), (वह) न उदेति (न उदित होता है) (और) न अस्तमेति (न अस्त होता है)।

बिन्दुनादकलात्मानं बिन्दुनादकलातिगं (बिन्दुनादकलात्मा एवं बिन्दुनादकलातिग रूप में) [समझें] ॥

भाष्य—पुनश्च, सङ्कर्षण को बिन्दुरूप में और कूर्म्मरूप में समझें, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध को कला-नाद रूप और वराह-मीन रूप में समझें, एवं परात्पर वासुदेव को बिन्दुनादकलात्मा एवं बिन्दुनादकलातीत इन दोनों रूपों में समझें ॥८२-८३॥

[चक्रगत-नेमि-नाभि-अर-निरूपणम् श्लो० ८४-८७]

कलारूपतया नेमिर्विदधाना क्षयोदयौ ।
नाभेररागतानंशूंश्चिन्वाना केन छन्दसा ॥८४॥

अन्वय - कलारूपतया (कलारूपतावशतः) [सकल पदार्थ के] क्षयोदयौ (क्षय-उदय) विदधाना (करती हुई) नेमिः (नेमि) नाभेः (नाभिकेन्द्र से) अरागतान् अंशून् (अरागत, विकीर्ण किरणों को) केन (किस) छन्दसा (छन्दस् द्वारा) चिन्वाना (रख लेती हुई, होती है) ॥

भाष्य—नेमि कला-रूपता-वशतः सभी पदार्थों का क्षय और उदय-विधान करती रहती है, अर्थात् सकल पदार्थ का क्षय एवं उदय हुआ करता है, इसी कारण उन की जो आकृति और अवयव हैं वे कलाधर्मी हैं, उनकी कला है, इसीलिये उनका क्षय और पूरण-रूप परिवर्तन-धर्म भी है, किन्तु नाभि समस्त तेजस् और शक्ति का भाण्डार है। नाभिकेन्द्र से ही शक्ति इतस्ततः विच्छुरित होती है। जिन सब व्यवस्थित रेखाओं में नाभिकेन्द्र से शक्ति-रश्मि-समूह का विकिरण होता है उन्हें कहते हैं अर। सुतरां प्रश्न उठता है कि नाभिकेन्द्र से जो रश्मिसमूह (radiations) विकीर्ण हो रहे हैं, उन सब को कलात्मक नेमि किस छन्दस् द्वारा अपने क्षय और प्रतिष्ठा के लिए चुन लेती है? ॥८४॥

[अक्षर-खग-वर्णनम् श्लो० ९२-९४]

एकायनो द्विपक्षश्च त्रिशिरास्त्रिव्रतः खगः ।
त्रिनेत्रश्च चतुष्पाद् यश्चतुर्नागाशनो बली ॥९२॥
हिरण्यपुच्छपञ्चाढ्यः पञ्चगङ्गाम्बुगोमुखः ।
षडूर्मिशमनच्छन्दाः षड्योगैः कृत्स्नकामधुक् ॥९३॥
सप्तधामसु सप्तान्नो गायति मान्त्रवर्णिकः ।
अभ्यारोहयतीत्यस्मात् क्षरादक्षर उच्यते ॥९४॥

अन्वय—(एक रहस्यमय खग की बात) एकायनः (एक-लक्ष्याभिमुख गति वाला), द्विपक्षः (दो पक्षों वाला), त्रिशिराः (तीन शिर वाला), त्रिव्रतः (तीन व्रत वाला), त्रिनेत्रः (तीन नेत्र वाला), चतुष्पात् (चार पैरों वाला), चतुर्नागाशनः (चार नाग-रूपी बाधाओं का नाश करने वाला), बली, हिरण्य-पुच्छपञ्चाढ्यः (हिरण्मय पाँच पुच्छों से शोभित) पञ्चगङ्गाम्बुगोमुखः (संग्रहादि पञ्च गङ्गाजल को गोमुख से प्रवाहित करने वाला), षडूर्मिशमनच्छन्दाः (छन्द द्वारा छः ऊर्मियों का शमन करने वाला) षड्योगैः (क्रिया आदि छः योगों से) कृत्स्नकामधुक् (समस्त इष्टकामदोहन करने वाला) सप्तधामसु (सात लोकों में) सप्तान्नः (सात अन्नों को ग्रहण करने वाला है); [यह] मान्त्रवर्णिकः (मन्त्रवर्ण-रूप से) गायति (उद्गीथ रूप में गाता है); [यह] क्षरात् (क्षर से) अभि+आरोहयति (आरोहण करता है) इति अस्मात् (इसीसे) [यह खग] अक्षर उच्यते (अक्षर कहा जाता है) ।

अन्वय - यः पुमान् (जो आदि पुरुष) प्रलयजलनिधौ (प्रलयसमुद्र में) मायया (अपनी मायाशक्ति से) योगस्वापं (योगनिद्रा का) सेवमानः (सेवन करते हुए) शेते (शयन करते हैं) यः पद्मनाभः (जो पद्म-नाभि वाले) निखिलसृजां (सकल की सृष्टि करने वाली) वेदवाचां (वेदवाणी के) निवासं (निवासरूप प्रजापति ब्रह्मा की) अवति (रक्षा करते हैं) एषः (ये), प्रसन्नः, शुद्धसत्त्वोर्जितौजाः (शुद्ध सत्त्वमय तेज से सम्पन्न वपु वाले) वः (आप लोगों के) हृदि (हृदय में) घोरं, मूढं, सपत्नं (मधु-कैटभ — इन शत्रुद्वय को) सपदि (शीघ्र) निरसयन् (निवारण करते हुए) वाग्भवैः इध्यमानः (वाग्भव बीज द्वारा सम्यक् प्रदीप्त-चैतन्य होकर) प्रभवतु (अपना प्रभाव विस्तार करें)॥९५॥

भाष्य—जो आदिपुरुष अपनी अचिन्त्य मायाशक्ति से प्रलयपयोधि-जल में योगनिद्रा का आश्रय लेकर शयन करते हैं, जो पद्मनाभिरूप से, निखिल पदार्थ का सृष्टि-बीज जो वेदवाणी है, उस वेदवाणी के जो निवास हैं, उनको (अर्थात् प्रजापति ब्रह्मा की) रक्षा करते हैं, वही 'शुद्धसत्त्वोर्जितवपुः उत्तमौजाः' नारायण तुम्हारे हृदय में भी (योगनिद्रा से) जागृत हों एवं 'ऐं' इस वाग्भवबीज के द्वारा सम्यक प्रदीप्तचैतन्य होकर तुम्हारे घोर एवं मूढ़ (मधु और कैटभ) ये जो चिरशत्रु हैं, उन दोनों का शीघ्र ही निरसन करके अपने प्रसन्न प्रभाव का विस्तार करें ॥९५॥

[श्रीराम-कृष्ण-स्तुतिः]

कालिन्दीरोधसीशो ललितसुरगिरां वेणुगीतैर्हरिर्यः
शैलान् विद्रावयंस्तैः प्रकटयति परां वाचमोङ्कारयोनिम् ।
सम्यक् सन्धानशूरो गमयति निधनं राघवो यो दशास्यं
प्रत्यक्चैतन्यमूर्ती वचसि विहरतामत्र तौ रामकृष्णौ ॥९६॥

अन्वय—ललितसुरगिराम् ईशः (ललित सुरलहरी के प्रभु) यः हरिः (जो हरि) कालिन्दीरोधसि (कालिन्दी-यमुना के पुलिन पर) तैः (उस) वेणुगीतैः (वेणुसङ्गीत से) शैलान् (शैल-समूह को, और) ओङ्कारयोनिम् (ओङ्कार की योनि) परां वाचं (परा वाक् को) प्रकटयति (प्रकटित करते हैं, और) सम्यक् सन्धानशूरः (सम्यक् शरसन्धान में निपुण) यः (जो हरि) राघवः (राघव रूप में) दशास्यं (रावण को) निधनं गमयति (समाप्त करते हैं) तौ (वे दोनों) प्रत्यक् चैतन्यमूर्ती (साक्षात् चैतन्यस्वरूप) रामकृष्णौ (राम और कृष्ण) अत्र (यहाँ, मेरे) वचसि (वचन में) विहरताम् (विहार करें) ॥९६॥

उसके बाद, उनका 'रद' या दन्त किसे समझाता है? 'प्रमिति' वा प्रकृष्ट ज्ञान वा यथार्थ ज्ञानरूप जो 'मति' का शब्द है, वही उन का दन्त है। 'सम्यक्' वा यथायथभाव में निष्पन्न जो 'उद्गीथ' वा छान्दोग्य-उपनिषदुक्त जो उद्गान है, वही उन का शुण्ड है। उसी शुण्ड द्वारा ही ऊर्ध्व में उत्तोलन रूप उद्गीथ-क्रियादि सूचित होते हैं। उसी से वे शुण्डधारी हैं। उन के बाद उनके दोनों नेत्रों पर दृष्टि डालने से समझ में आता है कि दो विद्याएँ अर्थात् परा एवं अपरा-रूप उपनिषदुक्त उन के दोनों नेत्र हैं। कोई ज्ञान वा कोई विद्या वह जागतिक ज्ञान हो या पारमार्थिक ज्ञान हो—जो उन की दृष्टि से बहिर्भूत नहीं है, उसे जनाने के लिए मानो उन्होंने अपनी नयन-ज्योति से दोनों विद्याओं को प्रकट कर के रखा है।

श्रीगणेश का ललाटदेश शुभ्र-समुज्ज्वल है, यद्यपि उन का समग्र वदन रक्तवर्ण है। यह प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त द्विविध विद्या से ही उन का विशद वा सम्यक् परिचय है। इस सम्यक् परिचय व विज्ञान के अभाव में ही नारद शोक के एवं तमस् के पार नहीं जा सके थे, इसीलिए वे गुरु सनत्कुमार के शरणागत हुए थे, तमसः पारं दर्शयति* किन्तु गणेश का समुज्ज्वल ललाट ही बताता है कि उन्हें इस द्विविध विद्या में केवल सामान्य ज्ञान ही नहीं, विशेषज्ञान वा विज्ञान भी है एवं उसके फलस्वरूप अर्थात् इस विशद परिचय के लिए ही समस्त तमिस्रा वा अज्ञान अन्धकार अपगत वा अपास्त हो गया है। इसीलिए विज्ञानभाति में ललाटदेश समुज्ज्वल है, प्रतिभा की छटा में भास्वर है।

उन का वक्षोदेश वा हृदयदेश ही है मन्त्र। श्रीगणेश का मर्मस्थल ही है मन्त्र एवं 'यति' और 'तति' अर्थात् यन्त्र और तन्त्र में जो कुशलता है, वही उन के दोनों पार्श्वदेश हैं सुतरां मध्यस्थल में मन्त्र एवं दोनों पार्श्व में यन्त्र और तन्त्र इस रूप से वे मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र की सम्मिलित मूर्ति हैं।

और उन के 'दोषः' अर्थात् चारों भुजाएँ हैं- ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग। मन्त्र जिस प्रकार उन का मर्म्मस्थल है, उसी प्रकार मन्त्र की यथायथ प्रयोगविधि जनाने के लिए उन की चार भुजाएँ मन्त्र के चार अपरिहार्य अङ्गों को बताती हैं।

---

* छान्दोग्योपनिषत् ७।२६।२—अनुवादिका

कौटिल्यपाश में उसे अवरुद्ध करके उसकी अग्रगति को व्याहत करते हैं, तब दन्ति-यूथपति की भाँति ही अपने (अर्थात शौर्य-समन्वित) दन्त से (एक परमाद्भुत) दन्त विस्तार करके वे उस व्यूह को समूल विनष्ट करते हैं। (इससे पहले उन्होंने यही किया था, सुतरां वर्तमान में एवं भविष्य में भी यही करेंगे—यह निःसन्दिग्ध है। क्रिया में अतीत काल का प्रयोग यह सूचित करता है ↑'यदा यदा महाबाधा दानवोत्था भविष्यति'—इत्यादि)। अच्छा, उनके इस परम रहस्यमय दन्त से क्या समझना होगा? समझेंगे—ऋतचरित—वाक्-काय मन का जो ऋजु, सत्य आचरण है वही अर्थात् वागादि कुटिल (जिह्म), अनृत अध्व का परिहार कर के ऋजु, ऋत जो अध्व है, उसका अनुसरण करने में जिस श्रेयोवीर्य द्वारा समर्थ होते हैं, वही है श्रीगणपति का दन्त। (दम्=दमन, control. 'त'कार द्वारा विदित होता है अनृत=अभ्युदय, निःश्रेयस्)। सुतरां जिसके द्वारा हमारे इस working apparatus के disharmony curvature and function नियन्त्रित होकर harmonic rectitude and harmonic function में रूपान्तरित होते हैं, वही है दन्त—rectifying, harmonising factor)। इसीलिए न श्रुति ने साधन के आरम्भ में ही प्रार्थना की है 'ऋत से, सत्य से हम भ्रष्ट न हों'! सकल साधना के मूल में यह ऋतान्वय, यह सत्यनिष्ठा है। अच्छा, दन्त क्या एक है, या दो है अथवा बहुत है? दन्त एक ही है—व्यवसायात्मिका बुद्धि जैसे एक ही होती है,* ऋतान्वय वा ऋतचरित भी एक ही होता है। उसमें संशय की 'दोला' एवं विकल्प का 'जंजाल' ये दोनों ही नहीं रहते। A straight, unswerving singleness of purpose and pursuit (साधन में ऐकान्तिकी अचल निष्ठा) चाहिए ही।

अशुभ वा अन्तराय मुख्यतः दो रूपों में आकर उपस्थित होते हैं—व्यूह और व्यामोह। प्रथम स्तब्ध (static) भाव से होने पर भी दुर्भेद्य है। द्वितीय प्रसारी (aggressive) एवं आततायी पुरुभुज (octopus) के समान केवल अपनी बाहें फैलाता है। यह दुर्निवार है। इसकी बाहें अन्तहीन हैं एवं वे सचराचर विविध (कामज, क्रोधज इत्यादि) व्यसन के आकार में जीव को शृङ्खलित करती हैं। यह व्यसन-परिवृत व्यामोह किस-प्रकार विदूरित

↑ दुर्गासप्तशती ११-५४—अनुवादिका।

* व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। श्रीमद्भगवद्गीता २।४१—अनुवादिका।

होगा ? श्रीविनायक अपने ॐकाररूपी शुण्ड द्वारा इस महोपद्रव का शीघ्र निरसन करते हैं; अर्थात् प्रणवादि का श्रद्धापूर्वक जप ही मुख्य साधन है, क्योंकि उसके द्वारा ही इस यन्त्र का स्पन्दन-गत वैरूप्य वा प्रतिकूलता तिरोहित होने पर ऋत एवं सत्य छन्द के साथ अनुरूपतादि साधित होते हैं।

उसके वाद श्रीगणेश के दिव्य कलेवर में अरुण-रक्तिम-रुचि क्या है, इसकी भावना करें। निःस्पन्द परमतत्त्व में नादरूप जो मूलस्पन्द है, उसका ही जो समन्ताल्-स्फुरण है, वही उस दिव्य कलेवर में रक्तिम अङ्गराग है। वाच्य-वाचकमय यह जो चराचर विश्व है, इसके जीवन का प्रथम प्रतिस्पन्द (response) इस अरुण रक्तिमा में ही है। विश्वप्राण का 'रस', जीवन का 'रङ्ग' —पादप में शीत अपगत होने पर विपुल प्राण-हिल्लोल से उद्गत नव किसलय-मञ्जरी की भाँति ही लाल जो है। विश्व के चित्रपट की वर्णाली में भी इसी लाल से ही तो वर्ण-ग्राम (समूह) का उत्तरोत्तर उन्मेष है। स्वरसप्तक में जैसे षड्ज ('स')। 'मैं एक हूँ मिथुन होऊँगा' ब्रह्मवस्तु में यह आदिम काम, इस रक्तराग में ही तो अपने को प्रस्फुटित करना चाहता है। विश्वदोल का जो 'भाग' है, वह भी तो मूल में यही है। तन्त्र में 'कामकला-विलास'* में भी यही है। वर्ण के मूल में जाकर इसे खोज लो।

अच्छा, गणपति के अङ्गों का सिन्दूरवर्ण तो मान लें हो गया, किन्तु उनके शुभ्र स्वच्छ ललाटदेश पर मुक्ता की भाँति स्वेदबिन्दु जो शोभा पा रहा है, वह क्या है? विश्व की प्राणधारा में, जीवन-चाञ्चल्य में रहकर भी (though immanent) वे इसके ऊपर नित्य-शुद्ध-वुद्ध-स्वरूप में विराजते हैं। और, अपनी उस नित्य क्षोभहीन (सुतरां निःस्पन्द) सत्ता में प्रतिष्ठित रहते हुए ही वे निखिल स्पन्दात्मक प्रपञ्च में 'अवगाहन' करते हैं; वर्णहीन होकर भी विश्ववर्णालि वने हुए हैं। यह 'अघटनघटन' है उनके ललाट का 'स्वेद', एवं वह अचिन्त्य घटन विन्दुरूप में अभिव्यक्त होता है, अर्थात् उससे ही विश्व का निखिल स्पन्द अपनी 'केन्द्रीण' वा नाभिशक्ति को पा रहा है— समष्टि में और व्यष्टि में। वेद कहते हैं—'अदिति से दक्ष ने जन्म लिया और दक्ष से अदिति ने'; तन्त्र कहते हैं—'नाद से विन्दु और विन्दु से नाद';— इन सबको ही सोचकर देखो गणपति के शुभ्रभालदेश में झलकते हुए इस स्वेदबिन्दु की ओर ताक कर।

---

* एक तान्त्रिक ग्रन्थ (पुण्यानन्द – रचित)।—अनुवादिका।

और, गणपति के चार हस्त हैं—मात्राचतुष्टय —मात्रा, अर्धमात्रा, पूर्णमात्रा, और अमात्रा (अन्यत्र ये व्याख्यात हैं)। और उनके दो नेत्र हैं—'पश्यत्' और 'तुर्य' (पर और परम) प्रथम के द्वारा निखिल तत्त्व, वस्तु एवं सम्बन्ध के 'दर्शन' करते हैं; द्वितीय के द्वारा सब त्रिपुटियों के मूल में जो परमाव्यक्त सत्ता है, उसमें ही साक्षात् अपरोक्षानुभूति रूप में अच्युतप्रतिष्ठ रहते हैं। यह तुरीय दृष्टि भी परा और परमारूप से द्विविध है (बाद में इसकी व्याख्या होगी)।

ऐसा रहस्य-वपु धारण करने वाले श्री गणपति हमारे अशुभ के विनाश के निमित्त जययुक्त हों ॥९८॥

सम्यक् साम्यं समासे यदवति कुशलं कर्मणां शुण्डशौर्यं
वीर्यं दन्तस्य यस्माद् हरति विषमतां व्यासमन्वेति या च।
आब्रह्माकारवृत्तिः प्रभवति च यता धाम मौलेः प्रसन्नं
वर्तेते द्वौ समाधी च नयनयुगलेऽतः समावृत्तिमूर्त्तिः ॥९९॥

अन्वय -(श्रीगणेश का) **यत्** (जो) **कर्मणां कुशलं** (कर्मों में कुशल) **शुण्डशौर्य** (शुण्डदण्ड का शौर्य) **सम्यक्** (पूर्णरूप से) **समासे** (समास में) **साम्यं** (समता की) **अवति** (रक्षा करता है) **यस्मात्** (जिस कारण) **दन्तस्य** (दाँत का) **वीर्य** (वीर्य) **विषमतां** (विषमता का) **हरति** (हरण करता है) **व्यासम् अन्वेति** (व्यास का अनुगमन करता है), **या च** (और जो) **आब्रह्माकारवृत्तिः** (जब तक ब्रह्माकारावृत्ति उदित नहीं होती तब तक) **मौलेः** (मस्तक का) **प्रसन्नं धाम** (ज्योतिःप्रसाद) (साधक पर) **प्रभवति** (प्रभावशील होता है), **नयनयुगले** (उनके दोनों नेत्रों में) **द्वौ समाधी** (दो [illegible]धियाँ) **वर्तेते** (विद्यमान हैं) **अतः** (इस प्रकार) (वे श्रीगणेश) **समावृत्तिमूर्त्ति**[illegible] [illegible]मावृत्ति की ही प्रकट मूर्ति हैं) ॥९९॥

प्रकार समता का रक्षण है, उसी प्रकार दन्तवीर्य द्वारा विषमता का हरण है। अनुकूलता का पोषण और प्रतिकूलता का विहरण—साधनासिद्धि के पक्ष में अपरिहार्य ये मुख्य दो क्रियाएं श्रीगणेश के इन दोनों अङ्गों द्वारा सम्पादित होती हैं।

केवल, इन दो क्रियाओं से उनका कर्तव्य समाप्त नहीं होता—वे अपने मौलि वा मस्तक के प्रसन्न धाम वा ज्योतिःप्रसाद द्वारा साधक को प्रभावित करते हैं उसकी साधना की सरणि को आलोकोद्भासित करके रखते हैं, जब तक कि ब्रह्माकारा वृत्ति का उदय नहीं होता, अर्थात् साधक के चरम सिद्धि के क्षेत्र में न पहुँचने तक उनकी करुणाज्योतिः के विकिरण में कार्पण्य नहीं। यही उनके मौलि वा मस्तक का कार्य है।

और योगशास्त्र में जो सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात रूप द्विविध समाधि की कथा वर्णित है, वह उभयविध समाधि ही उनके नयन-युगल में स्थान पाती है, अर्थात् उनके दोनों नेत्रों के मध्य समाधि द्विविध रूप में निहित है। उनके उसी नयन-प्रसाद वा दृष्टि-प्रसाद से साधक को भी द्विविध समाधिलाभ सम्भव होता है।

रूप में, वह ब्रह्म) स्वधाम्ना (अपने तेज एवं महिमा द्वारा) व्याप्य (व्याप्त करके) (रहते हैं), चक्र (चक्र को) नाभी (नाभि में) संगृह्य (संग्रह करके) अरवृतवलयं (अर का विस्तार करके उस चक्रके वलय या परिधि को धारण किए हुए हैं) वर्त्म (मार्ग, एवं) छन्दः बिभर्त्ति (छन्द का भरण करते हैं) सूते (सब कुछ प्रसव करते हैं, अतः वह) सूर्यः (सूर्य या सविता हैं) अवति (पोषण करते हैं, अतः) पूषा (हैं), ऋतं बृहत् (ऋत ब्रह्म के रूप में) (सब कुछ का पालन और रक्षण करते हैं) रुद्रः (रुद्र के रूप में) इदं च जक्षिति (इस सब कुछ का भक्षण कर जाते हैं) ॐ (ओंकार रूप में) प्राणान् (प्राणों को) प्राणिनत् (प्राणित करते हैं) 'ॐ ह्रीं घृणिः' (यह आदित्य का) हृदयं (आदित्य-हृदय-मन्त्र हैं) (एवंविध) एकर्षये (एक ऋषि) (भगवान् आदित्य के लिए हम) अर्घं सूत्म (अर्घसवन करते हैं)।

भाष्य—ब्रह्म के दो रूपों की बात श्रुति कहती है—मूर्त और अमूर्त। अदितिरूप में ब्रह्म अमूर्त हैं, आदित्य रूप में मूर्त हैं। अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और पर, इन त्रिविध रूपों में जो कुछ भी 'अस्ति' और 'भाति' है, वह समस्त ही आदित्य है। स्थूल के मध्य में सूक्ष्म और सूक्ष्म के मध्य में पर—इस प्रकार यह जो अखिल विश्व है, इसमें आदित्य प्रविष्ट हैं और अर्क-रूप में अपने (आधिभौतिकादि चतुर्विध) तेजः एवं महिमा द्वारा इन सबको वे व्याप्त किए हुए हैं। पुनश्च, (अणु अथवा महान्) भुवन में जो चक्र चलता है, उसकी नाभिनिष्ठ सत्ताशक्ति (nuclear power) के रूप में वे उसे 'संग्रह' करके रखे हुए हैं; स्वयं अर (moments) विस्तारपूर्वक उस चक्र का (जैसे एक atom का किंवा इस सौर जगत् का) जो वलय, नेमि वा परिधि है, उसे (अपनी आकृति में वा pattern में) धारण किए हुए हैं; और, इस भुवनचक्र की गति (function) में जो वर्त्म (course वा curve) है, एवं जो छन्दः (law वा equation) है, उसका 'भरण' कर रहे हैं। मूर्त ब्रह्म आदित्य के 'अन्तर्बहिः सर्वतः' इस पञ्चवृत्ति का ध्यान करें। आदित्य, विवस्वान्, अर्क, सविता, नारायण, गभस्तिमान्, हरिदश्व (वा सप्ताश्व) - ये कुछ-एक रहस्य-नाम इस प्रसङ्ग में स्मरणीय हैं। सब कुछ प्रसव करते हैं, अतः ये सविता, सूर्य हैं; पोषण करते हैं अतः पूषा हैं। हंसवती ऋक् में प्रसिद्ध 'ऋतं बृहत्' अर्थात् ऋतब्रह्म (हंस) के रूप में सब कुछ का पालन और रक्षण करते हैं। ये cosmic life-principle हैं। पुनश्च, कालाग्निरुद्र-रूप में सब कुछ का ये 'भक्षण' करते हैं। काल + अग्नि +

ही गुह्यातिगुह्या छिन्नमस्ता अपने स्वरूप के परिचय में हमारी वृत्ति
उद्‌घाटित, उद्भासित हों। स्वरूप-परिचय का साधन कैसा है? छिन्नमस्
रूप में और उन में उदाहृत-रूप में महावाक्य-चतुष्टय के अर्थ (उपनिषत्
का नादानुसन्धान (अ, उ, म्; नाद, बिन्दु, शान्त, शान्तातीत) के द्वारा हं
साधक को अन्वेषण करना होगा अथवा 'नादैर्मृग्यं तदर्थं'—तदर्थं अर्थात्
तदुद्देश्य में, उस के लिए नादादि के द्वारा अन्वेषण करना होगा ।।१०५।।

['म्' है स्पर्श वर्णो का अन्तिम वर्ण। उच्चारण में अकारयुक्त है। 'अ'
'म्' के बाद है। 'अ' को 'म्' के आगे लाइए। उससे हुआ—'अम्'। इसे
उलटा लेने पर हुआ—विपरीत करण। दोनों के बीच 'उ' कार=उदानवृत्ति
(lever action) है। इस वृत्ति द्वारा 'अ' और 'म्' दोनों का 'मन्थन'
साधित होता है—जैसे यज्ञ में उत्तराधर-अरणि का। इस मूल व्यापार को
विपरीत रिरंसा कहा गया। प्राण के क्षेत्र में, अ=प्राणापान व्यापार, म्=
समान-व्यान, उ=उदानवृत्ति। ये केवल शरीर की वृत्तियाँ नहीं हैं, विश्व-
वृत्ति (cosmic function) हैं। मन के क्षेत्र में भी इनका निजस्व रूप है।
जो कुछ भी हो, व्यापार जब तक केवलमात्र 'अ उ, म्' इस आकृति (patte-
rn) में रहता है, तब तक 'स्पर्शयोग' के बीच ही आबद्ध रहना पड़ता है।

उसका अर्थ है, प्राकृत संचारक्षेत्र में (Spinoza के 'Natura Naturata' से तुलना कीजिए) रहना होगा। इसका अतिक्रम करना होगा। छिन्नमस्ता का कलेवर एवं उससे छिन्न मुण्ड=नादविन्दु है। किन्तु नाद-विन्दु इन दोनों के मध्य व्यवधान, 'अन्तरीक्ष' (hiatus) जब तक बना रहता है, तब तक 'शान्त भाव' सम्भव नहीं होता। नाद में जो 'तत्त्व' निर्गलित है, विन्दु में वह पर्यवसित है—यह समीकरण जब तक सर्वथा साधित नहीं होता तब तक 'शान्त' भाव नहीं है। इसीलिए छिन्नमस्ता अपनी छाती का रुधिर स्वयं 'पान' करके शान्त हो रही है। और, शान्तातीत? वह तो परमाव्यक्त भाव है, उसका प्रतीक किसमें मिलेगा? बाद में देखा जाएगा कि 'ऐं, ह्रीं, क्लीं' इत्यादि चाहे जिस बीज का उद्धार है, अर्थात् चैतन्य इत्यादि व्यापार में उसका एवं अन्यान्य रहस्य-मूर्त्तियों का साक्षात् उपयोग है। जैसे फिर, वैखरी जप=विपरीत रतातुर रतिकाम; देवी कलेवर=मध्यमा; मुण्ड=पश्यन्ती, रुधिरपान =परा।]

[श्रीधूमावती-तत्त्वम् श्लो० १०६—१०८]

आब्रह्मस्तम्बमेतज्जिजरिषति कुतश्च्योतितुं स्थेष्ठमिच्छेन्
मात्रापादांशकाष्ठाऽऽकलितरथपदां लौल्यमिच्छेच्च नेमिः।
सम्पाते विश्वबीजं ह्यसितमपि सिताद् भिद्यमानत्वमिच्छेत्
शूर्पेणाढ्यां रथस्थां विविदिषुरधवां वेद धूमावतीं कः ॥१०६॥

अन्वय—एतत् (यह सब) आब्रह्मस्तम्बं (ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त) कुतः (क्यों) जिजरिषति (जरा को प्राप्त होना चाहता है) स्थेष्ठं च्योतितुम् इच्छेत् (जो ध्रुव है वह क्यों च्युत होना चाहता है) नेमिः (चक्र की नेमि) मात्रा+पाद+अंश+काष्ठा+आकलित+रथपदां (मात्रा, पाद, कला और काष्ठा ये भुवन-रथ के चार पद या चरण हैं, इनकी) लौल्यं (चञ्चलता को) इच्छेत् (चाहती है) विश्वबीजं (सृष्टि का बीज) सम्पाते (मिलित अवस्था में) हि+असितम् अपि सितात् भिद्यमानत्वम् इच्छेत् (असित यानी अशुक्ल विश्वबीज शुक्ल से भिन्न रहना चाहता है) शूर्पेण आढ्यां (शूर्पहस्ता) रथस्थां (रथ में स्थिता) अधवां (विधवा) धूमावतीं (धूमावती माता को) कः विविदिषुः वेद (कौन जिज्ञासु जान सका है)।

भाष्य—माँ की एक और रहस्यमूर्त्ति—धूमावती के तत्त्व का यहाँ विश्लेषण करने का यत्न किया जाता है।

क्षुद्र तृण से ब्रह्मा-पर्यन्त सभी कुछ जो जराकवलित होना चाहता है—यह

त्येषु (मिथ्या की अनन्त परम्परा में) स्वरूपं (सत्य-स्वरूप) किम् उ (क्या) नः अचित्तं स्यात् (हमारे लिए अचित अर्थात् असंगृहीत ही रहेगा?) चित्तं वा (या कभी संगृहीत होगा)।

भाष्य—रक्तबीज जिस का प्रतीक है, वही मनसिज (काम) है, जो समग्र विश्व के जीर्यमाण होने पर भी जीर्ण नहीं होता, परन्तु अजर ही रह जाता है। इस का उपाय क्या है माँ? निखिल ध्रुव पदार्थ का क्षय-अपचय होने पर भी हृदय का ग्रन्थिपाश जो जीर्ण नहीं होता, किन्तु सौ वज्रों की भाँति सुदृढ़ रह जाता है। इस का क्या उपाय है माँ? अनादि क्लेश-संकुल जन्म-मरण के पथ में संसार-रथ की चक्रनेमि घूम रही है, उस में क्या शैथिल्य का लेश-मात्र भी लक्षित नहीं होगा? इस जन्म-मरण-चक्र के विराम का क्या कोई चिह्न नहीं दिखाई देगा? मिथ्या की इस अशेष जादू-परम्परा में जो सत्य है, जो स्वरूप है, वह क्या है अयि अघवे! वह संगृहीत होगा या चिर-काल ही इसी प्रकार खोया रहेगा, अथवा परित्यक्त रहेगा? ॥१०७॥

का शक्तिः शक्तिमान् कः कमिति तदुभयोर्मेलनात् सामरस्यं
का वाक् कश्चार्थ एवं स्वरतदितरयोर्मातृकाद्यर्णयोगात्।
प्राणापानैकताने विरमति च जवे काऽजपा चाजपः को
ध्माते कः केति हौंसो धमति न शृणुयाद् वायसे को ध्वजस्थे ॥१०८॥

अन्वय-का शक्तिः (शक्ति है 'का') कः शक्तिमान् ('कः' शक्तिमान् है) तदुभयोः (शक्ति-शक्तिमान् के) मेलनात् (मिला देने से) 'कम्' इति सामरस्यम् ('समरस' की स्थिति में 'सुख' है); का वाक् ('का' वाक् है) कः च अर्थः (और 'कः' अर्थ है) एवं (इस प्रकार) स्वरतदितरयोः (स्वर-व्यञ्जन के) मातृकाद्यर्णयोगात् (मातृका के आदिवर्ण के योग से) कम् इति (सुख है); प्राणापानैकताने जवे विरमति (प्राणापान-व्यापार की एकतानता या समता होने पर और उन के वेग का विराम होने पर) 'का' अजपा (है) च 'कः' अजपः ('कः' अजप है) ध्वजस्थे धमति वायसे (ध्वजस्थित बोलते हुए वायस के) कः केति ध्माते ('का' 'कः' इस उच्चारण में) कः (कौन) 'हौंसः' (इस मन्त्र को) न शृणुयात् (नहीं सुनता है?)।

भाष्य—धूमावती के रथध्वज पर जो यह काक है वह क्या है, क्या यह सोच कर देखा है? एक ओर विश्व-जरामृत्यु का आह्वान, दूसरी ओर

जरामृत्यु से अजर, अमर जो अनपाय स्थान है, उस से उत्तरण का आह्वान ये दोनों ही वायस के क्रमशः 'कः क्व' एवं 'हंसः' रुति (पुकार) में सूचित होते हैं, उन्हें क्या नहीं सुनोगे ! विश्व के प्राणी सुनते हैं—'कः क्व'—'कौन कहाँ है ? आओ आओ—रथचक्र के नीचे गिरो और पिसो—शूर्प में पड़ कर विभक्त, विक्षिप्त हो जाओ ! नियति अनतिक्रम्य है' ! किन्तु वायस के मुख मे केवल यह रव ही सुनेंगे ! 'हंसः'—इस अमृत अभय का आह्वान नहीं सुनेंगे क्या ?

इस अभय का आह्वान कैसे सुनेंगे ? शक्ति हुई 'का', शक्तिमान् 'कः' । इन दोनों की यदि भेददृष्टि कीजिए तो शक्ति चिच्छक्ति नहीं होती; सुतरां जड़यन्त्र में तुम गिरे और पिस गये । किन्तु शक्ति-शक्तिमान् को यदि मिला कर समरस बना लो तभी न 'कं' अर्थात् 'सुखं' होगा ।

यह प्रपञ्च वाक् और अर्थ की समष्टि है । मूलतः ये दोनों सम्पृक्त मिथुन हैं । किन्तु उन का वियोग विश्वव्यवहार में होते देखता हूँ । इसीलिए तो निरर्थक वाक् (आनर्थक्य, वैयर्थ्य इत्यादि के कारण) अमृत, अभय का सन्धान नहीं देती । 'का' है वाक्, 'कः' है अर्थ । 'काकः' इस शब्द में स्वरव्यञ्जन मातृकावर्ग के आदि (अकार एवं ककार) वर्ण-द्वय युक्त हैं । यदि स्वर एवं व्यञ्जन को वियुक्त कर के रखिए तो मृत्यु है, और यदि युक्त रखिए तो अमृत है । और योग में वही 'कं'–सुखं है । स्वर क्या है, मातृकावर्ण क्या है, यह सोच कर देखें । वायस के रव में इस का निर्देश है ।

पुनश्च, प्राणी के प्राणापान-व्यापार की एकतानता (समता) की रक्षा करेंगे या नहीं करेंगे ? उक्त व्यापार का जो प्राकृत वेग है, उस के विराम-स्थल में भी क्या शान्त स्वस्थ रहेंगे ? यदि समता रख सकते हैं तो जरा दूर रहेगी, विरामस्थल में भी यदि 'उदासीन' ('मध्ये वामनमासीनं') रह सकें तो मृत्यु नहीं आती है । का=अजपा; कः=अजपः । जरा-मृत्यु का एवं उस के पार का यह मूल रहस्य काक पुकार कर सुना रहा है । 'हंसः' इस महाबीज में ही जरामृत्युवारिणी यह त्रिविध 'भावना' निहित है । सः=शक्ति, हं=शक्तिमान्, ॐ=उभय का सामरस्य । ॐकार की आद्य मात्रा अकार है, हकार व्यञ्जनों का शेष वर्ण है, इन दोनों के समर्थ-संयोग का सूचक है 'सः' । और हंस=स्वाभाविक प्राणनक्रिया; ॐकार के द्वारा यह जरामृत्युजयी होती है ॥१०८॥

[श्रीकाली-तत्त्वम् श्लो० १०९-१२४]

वर्णानां विश्वचित्रे निलयविलययोः स्थानमेवेति कृष्णा
वर्णैर्वाऽवर्णनीया कतियतिततिभिर्वाऽप्यनिर्देश्यवर्णा।
वर्णानां वा पटेऽस्मिन् कलनफलनयोः स्थानमेवेति शुक्ला
योऽभास्यत्वेऽपि वर्णः पटपटुफलने भासकः स्वप्रकाशः॥१०९॥

अन्वय · विश्वचित्रे (निखिल विश्व के चित्रपट में) वर्णानां (समस्त वर्णों के) निलयविलययोः (निलय और विलय का) स्थानं (स्थानभूत) एव (ही) (वह श्री काली है) इति (इसलिए) कृष्णा (और कृष्णवर्ण वाली है) वा (अथवा) वर्णैः (वर्णों द्वारा) (वह) अवर्णनीया (वर्णनीय नहीं है) कति+यति+ततिभिः वाऽपि अनिर्देश्यवर्णा (कति = कितने, यति = जितने,

ये प्राख्याभित्रवर्णा महणपरिचया मानसे बिम्बितास्ते
छायाचित्राणि साक्षाद् दधति जडति काः शक्तयः के च कायाः ।
गम्भीरागोचरगम्भन्तिमिरनिचिहता याऽऽदिमा सा क्षपा चेत्
स्यन्दैस्तस्याः प्रवृत्तैः किरणविकिरणैर्भाति भास्वा स्वयाऽङ्कः ॥११०॥

है इस बार शायद तृष्णा मिट जायगी, फिर देखता हूँ वह सिर उठाकर खड़ी हो रही है !—वही काली फिर कोप का छल करके परम करुणा से अपनी लोल जिह्वा द्वारा उस रक्तबीज के 'कूट' अथवा समूह अथवा 'पेड़' को ग्रस लेती हैं। नहीं तो किसी काल में इस नित्य तरुणायमान तृष्णा का तर्पण हो सकता था ? इस प्रकार हमने समझा कि उनका एलायित केशपाश इस घोर इन्द्रजाल के विस्तार को सूचना देता है, एव लोल रसना इस इन्द्रजाल द्वारा सृष्ट असंख्य कामनाओं के निधन वा संहार को ही समझाती है। इस प्रकार उनकी सृष्टि और संहार ये दोनों सङ्केत हम पकड़ पाते हैं, फिर भी उनका यथार्थ स्वरूप, वह परम रमणीय मुखच्छवि हमारी दृष्टि के अन्तराल में ही रह जाती है। वह मुख कैसा है ? काला या धौला ? हम लोग नित्य ही इस प्रकार के द्वन्द्व-संशय की दोला में झूल रहे हैं। यह धन्धा, यह द्वन्द्व, यह सशय वे स्वय ही हमारे मोहमुक्त हृदाकाश में पूर्णरूप से उदित होकर दूर कर देंगी। शायद इसीलिए उनके मुख पर यह मृदु-मृदु हास्य है ! ॥१११॥

नैष्पन्द्ये स्पन्द आद्यश्चिदमलगगनध्वान्तघोराम्बुदः किं
शश्वन्मौनं विलोड्य ध्वनिशतसततध्मातनादस्ततः किम्।
ध्वान्तध्वंसाय सान्द्रा स्फुरति च परमा चिन्नभश्चन्द्रिका किं
मान्द्यं जीमूतमन्द्रे भजति भवमृतेस्तुर्यनादस्ततः किम् ॥११२॥

अन्वय—**चिदमलगगनध्वान्तघोराम्बुदः** (निर्मल आकाश में घोर काला मेघ) **नैष्पन्द्ये** (स्पन्दहीन स्वरूप के बीच) **आद्यः स्पन्दः किम्** (क्या आदिम स्पन्द है !) **ततः** (और वहाँ) **शश्वन्मौनं** (शाश्वत मौन को) **विलोड्य** (विलोडित कर के) **किं** (क्या) **ध्वनिशतसततध्मातनादः** (सैंकड़ों ध्वनियों से निरन्तर ध्मात विस्तृत नाद के रूप में प्रकट है ?) **सान्द्रा** (सघन) **परमा** (परम) **चिन्नभश्चन्द्रिका** (चिदाकाश की चन्द्रिका के रूप में) **ध्वान्तध्वंसाय** (अन्धकार के नाश के लिए) **किं** (क्या) **स्फुरति** (स्फुरित होती है) **ततः किं जीमूतमन्द्रे मान्द्यं भजति भवमृते तुर्यनादः ?** (तब फिर मेघमन्द्र के मन्द हो जाने पर भव अर्थात् संसरण की मृत्यु अर्थात् नाश हो जाने पर तुरीय नाद क्या नहीं रहता ?)।

भाष्य—यह जो निर्मल चिदाकाश में काली घनघटा का आविर्भाव है, यह क्या उस स्पन्दहीन स्वरूप के बीच आदिम स्पन्दन के घनीभाव को सूचित करता है ? जो पूर्ण हैं, उन में कैसे कामना का उदय होता है ! जो निःस्पन्द

न्यस्तं खड्गेन वस्तु छिनत्सि यदलसं स्वात्मनो देशकाल-
सम्बन्धापेक्षतत्त्वं जनिमृतिभयदं हंसि तच्चापि हेयम् ।
न्यस्तं मुण्डं कराब्जे कलयसि च गले मुण्डमालां समस्तां
तन्मालां वेत्ति ह्येवं गिरसि रसनया यद् बहिः स्फारनादे ॥११४॥

वेत्सि (दृश्य को तुम अपनी नेत्रज्योति से जानती हो) **यद् बहिः स्फारनादे रसनया गिरसि** (जो वाह्य है, उसे स्फारनाद में रसना से निगल जाता हो)।

भाष्य—और मां! तुम्हारे खड्ग का ही क्या अपूर्व रहस्य है! तुम भूमा-रूपिणी अखण्ड सामग्री हो; अथच अपने खड़्ग से उसे व्यस्त, परिच्छिन्न वस्तुरूप में वार-वार खण्ड करके फेंक देती हो। स्वयं 'दो वनूंगी, वहु वनूंगी, अगणित वनूंगी'—इसी साध से क्या तुमने असि धारण की है? देश-काल, कार्य-कारण इत्यादि नाना सम्वन्धों का जाल ऊर्णनाभ (मकड़ी) की भाँति वुन कर तुम क्या व्यस्त, खण्ड वस्तुओं को अपने वीच गूँथ लेती हो? क्या अपूर्व उपादेय तुम्हारा यह सब विरचन है? सव तो तुममय है, तुम्हीं तो सव हो! अथच भ्रान्ति-रूप में सभी को भुलाकर तुम अपने को जन्म, मृत्यु, दुःख, पाश इत्यादि रूप महावल दैत्यों के रूप में ही दिखलाती हो। मातृज्ञान में तुम उपादेय हो, फिर भी भ्रान्ति-ज्ञान में तुम मानो हेय वन गई हो! फिर दयारूप में इस हेयरूप असुर को तुमने असि द्वारा छिन्न किया है! तुम्हारी इस लीला का पार पाना कठिन है। और तुम्हारे हाथ में देखते हैं एक छिन्न मुण्ड, इस ओर गले में देखते हैं, वहुत से छिन्न मुण्डों के एकत्र समावेश में ग्रथित एक अपरूप मुण्डमाला। तुम्हारे करकमल में एक व्यस्त मुण्ड है, और गले में समस्त मुण्डों की माला है—इस प्रकार व्यस्त और समस्त दोनों को तुम धारण किए हुए हो। तुम्हारे एक हाथ में वर, दूसरे हाथ में अभय है। यह व्यस्त-समस्त की जो सन्धि वा साम्य-स्थल है, वही क्या वर है? और व्यस्त-समस्त की अतीत भूमि ही क्या अभय है? इसीलिए क्या श्रुति में सुनते हैं, इस सन्धि अथवा मिथुन में सब कुछ समृद्धि और तृप्ति, अभ्युदय वा वरलाभ है एवं उसके भी पार उस रसतम में परम अभय, चरम शान्ति है? हे माँ! तुम इसीलिए अभ्युदय और निःश्रेयस्, भोग और मोक्ष - दोनों को ही अपने दोनों हाथों से वितरण करती हो। यह सभी रहस्य तुम अपनी नेत्र-ज्योति में देखा करती हो। दूसरा और कौन जानता है? और तुम्हारी जिह्वा वाह्यवत् इस अनात्मा को आत्मसात् करती है, और अन्त में स्फारनाद में प्रपञ्च का लय हो जाता है ॥११४॥

स्वाधिष्ठानप्रकाशो विमृशति च कथं स्वामनन्यां स्फुरन्ता-
मीशं मायां सदाख्यं परमशिवपदे कञ्चुकांश्चापि कस्मात्।
नाहं नेदं न चोभे न च भवति गिरः प्रत्ययश्चापि यत्र-
तत्र प्रत्येति काली विलसति च मुदा नित्यकैवल्यतत्त्वा ॥११५॥

को प्राप्त होती है), सा शक्तिः चेतयित्री चितिः इति गदिता (वह शक्ति चेतना देने वाली है, अतः 'चिति' कहलाती है) ताम् ऋते चित् मृता इव (उस शक्ति के बिना चित् मृत जैसी रहती है, अर्थात् चिति नहीं बनती है) सच्चिदानन्दसिन्धौ याः कृतिरतिमतयः ते तिस्रो लहर्यः (सच्चिदानन्द सिन्धु में कृति, रति, मति रूप जो तुम्हारी तीन लहरियाँ हैं) ताभिः सत् प्रमेयं ('सत्' उनसे प्रमेय बनता है) चित् प्रमितिः इति ('चित्' प्रमिति या ज्ञान बनती है) आनन्दः उल्लासराशिः (और आनन्द उल्लासराशि बनता है)। (चतुर्थ चरण में 'यत्' पाद-पूरक-मात्र है)।

भाष्य -- और निर्विकल्प में भी हम तुम्हारा अपना विचित्र विलास देखते हैं। तुम्हारे पदतल में शव-शिव हैं। वह क्या केवल निष्क्रिय चैतन्य, निरञ्जन अधिष्ठान-मात्र है? किसी-किसी मूर्ति में देखा जाता है, शिव बाहु के ऊपर भार देकर सिर को थोड़ा-सा उठाए हुए हैं। इस प्रकार वह भङ्गी से सिर उठाकर वे तुम्हारी लीला के 'साक्षी' या द्रष्टा भी बनते हैं क्या? स्वरूप में रमणेच्छा के द्वारा तुम दिखा देती हो कि तुम्हारे बिना चित् केवल चित् ही रहती है, चिति नहीं बनती, तुम्हारे बिना वह मूक, स्तब्ध आनन्द मात्र है, वहाँ उल्लास-विलास नहीं है। चैतन्य के अधिष्ठान में शक्तिरूपा तुम महोल्लास से नाचती चलती हो। कौन कहता है कि वह शक्ति जड़, केवल दृश्या या भोग्या है? वह चेतन की भी चेतयित्री या चैतन्य-सम्पादन-कारिणी है। वह चिति-रूपा जगद्व्यापिनी "चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्")* है। चिति के बिना चित् शवशिव है, मानो मुर्दे की भाँति है। तुम ही सच्चिदानन्द समुद्र में तीन लहरियाँ उठाया करती हो— ज्ञान, इच्छा और क्रिया। इसके फलस्वरूप सत् ने ज्ञेय के आकार में सत्य रूप धारण किया चित् की ज्ञान-ज्ञातृ-रूप में चेतना हुई, और आनन्द अनन्त उल्लासराशि-रूप में आनन्दी हुआ। इस रूप में सच्चिदानन्द का आत्मप्रकाश सार्थक हुआ है ॥११६॥

आनन्दव्योमसान्द्रा त्वमसि शशिकला निष्कला या तुरीया
साऽऽद्या नैष्कल्यनित्या कलयसि च कलां शक्तितत्त्वादिरूपाम्।
उन्मेषे पूर्णिमासा ध्रुवनिजनिलयेऽव्याकृताऽमास्यमेया
व्यक्तौ कायादिमुख्याः कतिविधकलनास्ते कला अम्ब कालि ॥११७॥

---

* दुर्गासप्तशती ५।७८ -- अनुवादिका।

अन्वय—अम्ब कालि (हे माता काली) त्वम् आनन्दव्योमसान्द्रा शशिकला असि (तुम आनन्द-व्योम की घनीभूत अवस्था चन्द्रकला हो) या तुरीया निष्कला सा आद्या (जो तुरीया और निष्कला है, वह फिर आद्या भी है) नैष्कल्यनित्या शक्तितत्त्वादिरूपां कलां च कलयसि (नित्यनिष्कला हो, फिर भी शक्तितत्त्वादिरूपा कला का कलन करती हो) उन्मेषे पूर्णिमा उमा (कला का उन्मेष होने पर तुम पूर्णिमा उमा हो) ध्रुवनिजनिलये अव्याकृता (अपने ध्रुव आलय में तुम अव्याकृता अमा हो) व्यक्तौ अमेया असि (व्यक्ति अर्थात् व्याकृति में तुम अमेया हो) कामादिमुख्याः कतिविधकलनाः ते कलाः (तुम्हारी कलाएँ कामादि रूप में न जाने कितने प्रकार की है)।

भाष्य सर्वश्रुति-प्रसिद्ध जो आनन्दरूप आकाश है, जो सर्वद्वन्द्व का उपरमस्थान है जिसका योग-वियोग नहीं होता, जो पूर्ण और परम है- उसी आदि आनन्दव्योम में तुम कैसे अप्राकृत सान्द्र मनोरम शशिकलारूप में उदित हुई ? किस प्रकार तुमने स्वरूपतः नाद-विन्दु-कलातीत-निष्कला तुरीया परा-स्वरूपिणी होकर भी शक्तिकला का आकार धारण किया, ललाट में यह शशिकला धारण की ? जो पूर्ण और परम है, उसमें सामरस्य में अच्युत रहकर भी तुम शिवशक्ति-तत्त्वादि कला में कैसे दिखाई दीं ? इस इन्दुकला के प्रकाश में क्या तुम्हारी परम अचिन्त्य इच्छा का ही आविर्भाव सूचित होता है ? अपने द्वारा कल्पित यह जो कला है इसका पूर्णोदय होने पर अर्थात् कला की सम्पूर्णता लाभ होने पर तुम बनती हो पौर्णमासी-रूपिणी उमा, श्रीविद्या वा लक्ष्मीस्वरूपिणी और अपने गोपन, ध्रुव आलय में तुम नित्य अमारूपिणी हो—जहाँ समुदित समस्त कलानिचय विलय को प्राप्त होता है, वहाँ भी तुम क्या ललाट में शशिकला धारण करती हो ? एक ओर उमा दूसरी ओर अमा—यह दोनों हुई परम की सीमा। इन दो सीमाओं के बीच 'अ उ म्' यह मात्रात्रय लेकर समुदित कामादिकला में तुम्हारे कितने ही असंख्य कलन, कितने ही विचित्र परिणाम हैं—कौन उनका संख्यान वा गणन करेगा ? ११७॥

ज्योतिर्व्योम्नि स्वकीये किरसि निजकणान् भास्करा ये महान्तो
नादज्योतिर्विलोभ्याकलयसि लहरीः केन्द्रसान्द्रांश्च विन्दून्।
धाराधारः स कालः क्रमलवविरही वैन्दवो यः क्रमेत
धत्से चोभौ स्वरूपेऽप्यनवरगहने काल एवासि काली॥११८॥

अन्वय—**स्वकीये ज्योतिर्व्योम्नि ये महान्तः भास्कराः** [तान्] **निजकणान् किरसि** (अपने ज्योतिर्मय आकाश में तुम अपने कणों को फैलाती हो, जो कि महान् भास्कर के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं) **नादज्योतिः विलोभ्य लहरीः केन्द्रसान्द्रान् बिन्दून् च आकलयसि** (नादज्योति को स्पन्दित करके तुम नादलहरियों को और केन्द्र में घनीभूत बिन्दुओं को सृष्ट करती हो) **स कालः क्रमलवविरही धाराऽऽधारः** (वह काल क्रमशून्य धारा का आधार-रूप है) **यः वैन्दवः क्रमेत** (वही काल वैन्दव रूप में क्रमिक बनता है) **उभौ च अनवरगहने अपि स्वरूपे धत्से** (अपने श्रेष्ठ और गहन स्वरूप में तुम काल के इन दोनों रूपों को धारण करती हो) **काली काल एव असि** (तुम काल-स्वरूपा काली हो)।

भाष्य—पूर्वश्लोक में हमने आनन्द-व्योम वा आनन्दरूप आकाश की बात कही है। किन्तु वह क्या केवल आनन्दव्योम है? वह तो सभी ज्योतियों की ज्योति है। परम आश्चर्यमय उस ज्योतिर्व्योम में तुम्हारी ज्योति मानो सहस्र कणों में विच्छुरित होकर आन्तर और बहिर्विश्व में कितने ही महान् भास्वर रूप में प्रकाश पा रही है! अपने आनन्द-ज्योति-रूप इस व्योम को स्पन्दित कर के तुम बनती हो 'नाद' एवं नाद की लहरी। नाद है असीम और विस्तृत। उस असीम वितत नाद में परम घनीभाव की सृष्टि करके, अर्थात् उस विस्तृत नाद को उसकी चरम सूक्ष्म अवस्था में ले जा कर सङ्कुचित कर के तुम 'बिन्दु-रूप' धारण करती हो। नाद एवं बिन्दु इन दोनों में तब तुम पूर्ण होती हो। और इन दोनों पूर्णों के बीच तुम 'कला-कला में' लीलायित होती हो, निज को विवर्तित करती हो। नाद-बिन्दु इन दोनों की लहरें दोनों की ओर धावमान हैं। अर्थात् एक बार विस्तार फिर संकोच एवं एक बार संकोच फिर विस्तार, इस प्रकार एक बार विस्तार अपने को सङ्कुचित करना चाहता है, फिर संकोच अपने को विस्तृत करने का प्रयास करता है। यह जो परस्पर के बीच गति वा धावन है—यही जगत् है। धावन में भी फिर तुम्हारी दो धाराएँ हैं नादरूप में नित्य महाकाल, धारा के आधार-रूप में वर्तमान है वह अक्रम वा क्रमशून्य (अर्थात् succession वा पारम्पर्य तब भी नहीं आया है) एवं भग्नांशविहीन अर्थात् अखण्ड है। और बैन्दव रूप में तुम बिन्दु बनती हो। क्रम एवं अंशरूप धारण करती हो, पहले के प्रतीक के रूप में देखता हूँ तुम्हारे पदतल में स्वयं महाकाल को और

क्या साक्षादनुभवगोचर मन्त्र एवं मन्त्रार्थ के रूप में तुम अपनी अकृपण, अकुण्ठित नयनज्योति से प्रकाशित किए हुए हो ! वैखरी रूप त्याग कर मातृकारूपिणी तुम प्रथम निगूढ़ा मध्यमा तनु धारण कर के सुषुम्णा कुहर में प्रविष्ट हुईं, एवं उस के फलस्वरूप चक्र-चक्र में, कमल-कमल में, प्रत्येक का वर्णमय मन्त्रविन्यास करती चली गईं ! अन्त में महाकुण्डलिनीस्वरूपा तुम, परतत्त्व-सामरस्य के पथ पर अग्रसर हो कर क्या अपने मुदित यन्त्र-तन्त्र को प्रस्फुटित वा 'पश्यत्' वा प्रकट रूप में प्रकाशित कर देती हो ? तुम कौन से अभिसार में चली हो ! परतत्त्व या परा वाक् की ओर नहीं चलती हो क्या ? तुम क्या स्वरूपतः परात्परा या परा के भी पार नहीं हो ? तब भी क्यों मात्रा, अर्धमात्रा, पूर्णमात्रा, एवं अमात्रा इस चतुष्पाद में हे परा वाक् ! तुम नियत ही चल रही हो ? इसी प्रकार क्या तुम नाद, बिन्दु, ज्योति व आनन्द की विच्छिन्न धारा को वा मुक्त वेणी को उस परम संगम में जा कर युक्त करती हो ? इसीलिए क्या तुम्हारा यह अशेष अभिसार है ? ॥१२०॥

वाग्दोहं धोक्षि तारं कलयसि च मनून् हुंफडादीन् समर्थान्
वौषट् स्वाहा स्वधैवं कतिविधमनवस्ते च विद्याः कियत्यः ।
लक्ष्मीर्वाणी च काली निजनिजमनुगाः स्वस्ववर्णैः प्रकाश्याः
स्वैः स्वैस्तन्त्रैः प्रकार्यास्त्वमसि निजकृतौ कालिकाद्या स्वतन्त्रा ॥१२१

अन्वय—वाग्दोहं तारं धोक्षि (वाग्दोह-रूप ॐकार का तुम दोहन करती हो) **हुंफडादीन् समर्थान् मनून् च कलयसि** ('हूँ फट्' इत्यादि समर्थ मन्त्रों का कलन करती हो), **वौषट् स्वाहा स्वधा एवं ते कतिविधमनवः विद्याः च कियत्यः** ('वौषट्' 'स्वाहा' 'स्वधा' इत्यादि कितने ही प्रकार के तुम्हारे मन्त्र हैं, और कितनी ही विद्याएं हैं) **लक्ष्मीः वाणी काली च निजनिजमनुगाः स्वस्ववर्णैः प्रकाश्याः** (लक्ष्मी, वाणी और काली अपने-अपने मन्त्रों द्वारा गम्य हैं और अपने-अपने वर्णों द्वारा प्रकाश्य हैं) **स्वैः स्वैः तन्त्रैः प्रकार्याः** (वे तीनों देवियाँ अपने-अपने तन्त्र द्वारा आकारित हैं) **त्वं निजकृतौ आद्या स्वतन्त्रा कालिका असि** (तुम अपनी कृति में स्वतन्त्रा हो, आद्या कालिका हो) ।

भाष्य—तुम ने निखिल वाक् के सार वाग्दोहरूप ॐकार का किस के द्वारा उस शान्तातीत परा वाक् से दोहन किया है ? तुम तो केवल शान्ता नहीं हो, शान्तातीता हो—इसलिए अपने को 'तूष्णीं नाद' इस युग्म-रूप में व्यक्त कर के तुम ने बिन्दु का मन्थन किया है, एवं उसी मन्थन से ही अकारादि

समस्त कलावर्णों का उद्भव हुआ है। तूष्णीं हैं शिव, एवं शिवा हैं नाद—इन दोनों के मेलन से ही बिन्दु का मन्थन होता है, जैसे उत्तर और अधर अरणि के घर्षण से अग्नि का मन्थन होता है। उस के पश्चात्, तुम 'हुँ' 'फट्' इत्यादि कितने ही उत्सों के रूप में शक्ति का फ़व्वारा खोल देती हो। तुम्हारी मन्त्रमयी महाविद्या ही कितनी असङ्ख्य हैं! महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती · सभी को तुम ने अपने-अपने मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र दिए हैं, एवं उसके मध्य से ही प्रकाशित और आकारित हुई है दैवी सम्पत्। तुम स्वयं किसी मन्त्र से, किसी यन्त्र-तन्त्र से पकड़ में आओगी, इसीलिए सर्वेश्वरेश्वरी, स्वच्छन्दा, स्वतन्त्रा नहीं रही हो? अर्थात् तुम स्वतन्त्रा होकर भी हमारी पकड़ में आओगी, इसीलिए अपना स्वातन्त्र्य विसर्जित करके मानो मन्त्र की परतन्त्र होकर, मन्त्राधीना होकर प्रकाशित हुई हो, इसीलिए अकिञ्चन प्रपन्न की भी तुम माँ हो, करुणावरुणालया हो ॥१२०॥

नो मन्त्रैर्मन्त्रितं तद् यतिततिपटुनी यन्त्रतन्त्रे न तत्र
नो ध्यानं तच्च धत्ते चिदपि न तु चितिर्निर्विकल्पे समाधौ।
शान्तातीतं च शान्ते हर हरदयिते चण्डमुण्डौ पशू यौ
रुन्धानौ स्वः प्रपित्सुं स्वयमिह वृणुया यद्वरेण्यं शरण्ये ॥१२२॥

अन्वय—शान्तातीतं यत् च वरेण्यं तत् मन्त्रैः नो मन्त्रितम् (जो शान्तातीत वरेण्य तत्त्व है, वह मन्त्रों द्वारा मन्त्रित अर्थात् मन्त्रों के अधीन नहीं है) यतिततिपटुनी यन्त्रतन्त्रे तत्र न (यति अर्थात् यमन और तति अर्थात् तनन में पटु या कुशल वहाँ समर्थ नहीं हैं) ध्यानं च तत् नो धत्ते (ध्यान उसको धारण नहीं करता अर्थात् वह ध्यान का विषय नहीं है) निर्विकल्पे समाधौ चित् अपि न तु चितिः (निर्विकल्प समाधि में उस तत्त्व के विषय में चिति नहीं बन सकती, अर्थात् ज्ञान भी उसका चयन नहीं कर सकता) हे शान्ते, शरण्ये हरदयिते! यौ चण्डमुण्डौ पशू प्रपित्सुं रुन्धानौ स्वः[तौ]हर (चण्ड-मुण्ड नाम के जो दो पशु प्रपत्ति के इच्छुक का पथ रोक रहे है, उनका तुम हरण करो) स्वयम् इह वृणुयाः (उस प्रपित्सु का तुम स्वयं वरण करो)।

भाष्य—किन्तु मन्त्राधीना होकर भी तुम सर्वमन्त्रेश्वरी हो, फिर कहो तो किस मन्त्रमूल से तुमने अपने को मन्त्रित किया है, फिर तुम तो सबकी मूल यन्त्री हो, अपनी महिमा से ध्रुवा-स्थिता हो, किन्तु तुम्हारा चालक फिर कौन संयमनकुशल यन्त्रचक्र है? नित्यस्वतन्त्रा तुम्हें कौन 'तायन' (विस्तार) में

निपुण तन्त्र-पाशाङ्कुश तति-गति-पद्धति सिखायेगा ? तुम जो नित्य मुक्तकेशी हो, इसी कारण कहो तो किस ध्यान में सचमुच तुम्हें 'धारणा' प्राप्त होती है ! कठश्रुति में जिस चरम आहुति की बात कही गई है—**'तद् यच्छेत् शान्त आत्मनि*'**—वह निर्विकल्प **'शान्त आत्मनि'** हवन होने पर फिर तुम कहती हो 'मैं शान्तातीता हूँ' ! सुतरां तुम्हारा पार या अवधि कहाँ है ? उपाय भी क्या है ? तुम प्रपन्नार्तिहरा हो, किन्तु फिर भी तुम्हारे इन लाल चरणों में शरण लेने को सोचकर जो मन के गहन में लाल जवा खोज कर मरता है, उसके पथ में तुमने कण्टक के शूल-रूप चण्ड-मुण्ड महापशु रख दिए हैं। इसीलिए वह पशुवत् ममतावर्त में, मोहगर्त में, घूम-घूम कर मरता है ! सुतरां हे शरणागतपालिके ! तुम जब तक स्वयं वरण न कर लो, तब तक कौन तुम्हारा बन सकता है ? इस अकूल में हे कुलेश्वरि ! तुम्हारे बिना कौन कूल (किनारा) दिखलाएगा ?॥१२२॥

हृद्याद्या या शयाना दहरसुविपुला मानमेयाद् दविष्ठा
हृल्लेखा या तनिष्ठा जगदुदयलयावृत्तिहेतुर्वरिष्ठा ।
हृद्देशे या द्रढिष्ठेरयति च भुवनं त्वाश्रिताय म्रदिष्ठा
योगक्षेमाय साऽम्बा शमयतु हृदयं ग्रन्थिभेदे पटिष्ठा ॥१२३॥

अन्वय—या आद्या हृदि शयाना (जो आद्यास्वरूपिणी हृदय में शयाना हैं) **दहरसुविपुला** (दहर अर्थात् सूक्ष्म की पराकाष्ठा में सुविपुल अर्थात् सूक्ष्मादपि सूक्ष्म भाव से स्थिता हैं) **मानमेयाद् दविष्ठा** (जो कुछ मान अथवा मेय है, सबसे दूरतमा हैं) **या तनिष्ठा हृल्लेखा** (जो तनुतमा हृल्लेखा हैं) **जगत्-उदय-लय-आवृत्तिहेतुः वरिष्ठा** (जगत् के उदय-लय-आवृत्ति की हेतुभूता उरुतमा हैं) **द्रढिष्ठा हृद्देशे या च भुवनम् ईरयति** (और जो हृद्देश में दृढ़तमा रूप से स्थित होकर विश्व का ईरण या वर्णन करती हैं) **आश्रिताय तु म्रदिष्ठा** (आश्रित के लिए जो मृदुतमा हैं) **ग्रन्थिभेदे पटिष्ठा** (ग्रन्थि का भेदन करने में पटुतमा हैं) **सा अम्बा योगक्षेमाय हृदयं शमयतु** (वह अम्बा योगक्षेम-निर्वाह के लिए हृदय को शमित करें) ।

भाष्य – आद्यास्वरूपिणी तुम निखिल सृष्टि के हृदय में अथवा केन्द्रस्थल में शयाना (सोई हुई) हो। कारण के केन्द्र (nucleus) का आश्रय लेकर अणु वा विराट् सब कुछ स्पन्दित हो रहा है, वह हुआ उसका 'हृदि'। यह

---

* कठोपनिषत् १।३।१३—अनुवादिका ।

'हृदि' स्थूल वा पीन नहीं है, श्रुति कहती है कि वह 'दहर' अर्थात् सूक्ष्म की पराकाष्ठा है। किन्तु इस दहर के मध्य में भी अवस्थिता तुम हो, सुतरां तदपेक्षा भी सूक्ष्मा, अणोरणीयसी हो। इस प्रकार सूक्ष्मतमा होकर भी फिर तुम महान् की अपेक्षा भी महीयसी हो एवं इसीलिए जो कुछ मान वा मेय है, सब कुछ से ही तुम रहती हो दूरतमा! ऐसी ही तुम्हारी विपुलता, असीमता है। जो कुछ सृष्ट हुआ है उसकी "हृल्लेखा"—अर्थात् मूल शक्तिचित्र-लेखा (basic pattern or power-picture) के रूप में तुम बनी हो तनुतमा। फिर इस विशाल जगत् के उदय, लय और आवृत्ति की हेतुभूता के रूप में तुम उरुतमा, विशालतमा हो! इतनी सी बीजकणिका के बीच भी, यहाँ तक कि धूलिकण के मध्य भी तुमने अपना अत्याश्चर्य रूप प्रकट कर रखा है। वहाँ भी देखता हूँ एक स्थिर केन्द्र का आश्रय लेकर असंख्य शक्तिपुञ्जों का अविराम नर्तन है। यह मूल चित्र जगत् की प्रत्येक वस्तु में---नगण्य धूलिकण से आरम्भ करके जीवकणपर्यन्त सर्वत्र उदाहृत हो रहा है। और सर्वभूतों के हृद्देश में तुम मानो वज्रहस्ता के रूप में सबकी चालयित्री बनकर बैठी हुई रहती हो, केवल नीरव नहीं बैठी हो। इसीलिए सभी तुम्हारे भय से अपने निजकक्ष में, अपनी-अपनी धारा में आवर्तन कर रहे हैं, कहीं भी च्युति नहीं हो रही है ("भयादस्याग्निस्तपति" इत्यादि)। इस सेतु वा नियम की विचारयित्री के रूप में तुम वज्र की भाँति दृढ़तमा हो। किन्तु तुम में जो प्रपन्न है, तुम्हारा जो एकान्त आश्रित है, उसके प्रति फिर तुम मृदुतमा, कुसुमकोमला हो! इसलिए आज प्रार्थना है; तुम में ही एकान्त प्रपत्तियोग के लिए, तुम में ही एकान्त मतिक्षेम के लिए इस हृदय को शान्त बना लो क्योंकि तुम ही समस्त ग्रन्थिभेद में पटुतमा हो!॥१२३॥

सा काली निरुपाधिशुद्धनिलये शान्ते नरीनृत्यते
कैवल्यं विदधाति निर्गुणतया द्वैतं मरीमृज्यते।
ब्रह्मास्मीत्यवबोधखड्गमहसा मिथ्याजनीन् प्रत्यया-
नास्ते ब्रह्मणि सर्वमेव दधती चेच्छिद्यमाना स्वयम्॥१२४॥

अन्वय – शान्ते निरुपाधि-शुद्ध-निलये सा काली नरीनृत्यते (वह काली निरुपाधि, शुद्ध, शान्त, चैतन्य निलय में नृत्य करती रहती हैं।) निर्गुणतया कैवल्यं विदधाति (निर्गुण होने के कारण कैवल्य का विधान करती हैं) द्वैतं मरीमृज्यते (और द्वैत का मार्जन करती रहती हैं) ब्रह्मणि सर्वमेव दधती मिथ्याजनीन् प्रत्ययान्'ब्रह्माऽस्मी ति-अवबोध-खड्गमहसा स्वयं चेच्छिद्यमाना आस्ते (अपने

जपसूत्रोपक्रमणी

[दृष्टि-भेद-निरूपणम् श्लो० १, २]

पिहिताद्यन्तधारासु वगाह्याधीरमूढयोः ।
भ्रान्तश्रान्ते तु दृष्टी स्तः कान्तशान्ते कवौ मुनौ ॥१॥

अन्वय--पिहिताद्यन्तधारासु (आदि और अन्त धाराओं के आवृत होने की स्थिति में) वगाह्य (अवगाहन करके) अधीरमूढयोः (अधीर और मूढ़ व्यक्ति की) भ्रान्तश्रान्ते (भ्रान्त और श्रान्त ये दो) दृष्टी (दृष्टियां) स्तः (हैं) (और) कवौ मुनौ (कवि और मुनि में) कान्तशान्ते (कान्त और शान्त) (दृष्टियां हैं) ।

भाष्य—जप का मूल उद्देश्य है ज्ञान के आवरण का क्रमशः उन्मोचन करते हुए दृष्टि का क्रमिक प्रसारण । हमारी साधारण दृष्टि नितान्त विभ्रान्त है। हम नहीं जानते, कहां से हम आए हैं, वा कहां चले हैं । अतः साधारण जीव जिस धारा में पतित है, उसके आदि एवं अन्त दोनों ही अपिहित वा आवृत हैं । इस धारा में पतित अधीर और मूढ़ व्यक्ति की दृष्टि दो प्रकार की है—भ्रान्त और श्रान्त । अधीर की, उसके भीतर रजोगुण के आधिक्य के कारण दृष्टि होती है भ्रान्त एवं मूढ़ की, उसके भीतर तमोगुण का प्राबल्य होने के कारण दृष्टि होती है श्रान्त । किसी तत्त्वविचार अथवा ध्यान में बुद्धि को अथवा दृष्टि को नियुक्त करने पर हम साधारणतः देख पाते हैं कि बुद्धि तत्त्वालोक लाभ न करके वृथा भटकती है और भ्रान्त ज्ञान में आबद्ध हो जाती है, किंवा तत्त्वानुसरण में एकान्त अक्षम होकर कुछ दूर जाकर प्रतिनिवृत्त होती है और श्रान्त होकर लौट आती है । बुद्धि में यह द्विविध मल—रजः और तमः वा विक्षेप और आवरण, होने के कारण ही साधारण दृष्टि का यह द्विविध रूप दिखाई देता है अर्थात् भ्रान्त और श्रान्त । इस मल के जैसे-जैसे दूर होने से बुद्धि क्रमशः निर्मल हो उठती है, वैसे-वैसे दृष्टि का भी प्रसारण होता रहता है । मलिन दृष्टि का जैसे द्विविध रूप है, उसी प्रकार इस निर्मल, विशद, स्वच्छ दृष्टि के भी दो रूप हैं—कान्त और शान्त । कान्त दृष्टि होती है कवि की एवं शान्त दृष्टि होती है मुनि की । निर्मल दृष्टि के इस द्वैविध्य का कारण है सत्त्व के परिणाम का तारतम्य । सत्त्वगुण के उद्रेक में ही यह

निर्मलता दिखाई देती है, किन्तु सत्त्व में और दो चीजें हैं—एक आनन्द, दूसरा प्रकाश एवं इनके बीच कभी एक का प्राधान्य एवं दूसरे की गौणता देखी जाती है। जब आनन्द का प्राधान्य होता है तब उल्लास, विलास और व्यापकता का अन्त नहीं होता। बुद्धि तब अनन्त विस्तार लाभ करती है, विश्वह्लादिनी हो उठती है। किन्तु जब आनन्द की अपेक्षा सत्त्व के प्रकाश अंश का आधिक्य होता है तब इस व्यापकता की गौणता में दिखाई देती है एक असीम, प्रशान्त अतलस्पर्शी गभीरता। अतः एक दृष्टि आनन्द आकाशकल्प है, और दूसरी दृष्टि ज्योतिर्घन महोदधिकल्प है; एक है व्यापिनी, दूसरी है अवगाहिनी। कवि की दृष्टि के समीप प्रकृति वा विश्व अपना समस्त रहस्य उन्मुक्त कर देता है, यह ठीक है, किन्तु आत्मा का रहस्य तब भी अज्ञात रहता है। आत्म-रहस्य का भेदन करने के लिए इसीलिए चाहिए मुनि की मर्मी शान्त दृष्टि। तभी ज्ञान की या दृष्टि की यथार्थ पूर्णता होती है। व्यापकता और सूक्ष्मता—इन उभय सीमा में ही जब बुद्धि की अकुण्ठ गति होती है तभी वह चरितार्थता लाभ करती है।

सुतरां इस भ्रान्त, श्रान्त एवं क्रान्त और शान्त - इस चतुर्विध दृष्टि के बीच हम एक हिसाब से मानव-ज्ञान के सभी स्तरों का एक संक्षिप्त परिचय पा लेते हैं ॥१॥

स्थूलं व्याप्नोति यत्सूक्ष्ममन्वयव्यतिरेकतः।
अनावरकसंयोग-वियोगादेरपेक्षकम् ॥२॥

अन्वय – **अनावरक-संयोगवियोगादेः अपेक्षकं सूक्ष्मम् अन्वयव्यतिरेकतः स्थूलं व्याप्नोति** (अनावरक के संयोग-वियोगादि की अपेक्षा करके सूक्ष्म अन्वयव्यतिरेक से—सर्वतोभाव में स्थूल को व्याप्त करके रहता है)।

भाष्य—पहले हम जो दृष्टि की क्रमिक स्वच्छता और विशुद्धि के सम्बन्ध में आलोचना कर चुके हैं वह वस्तुतः दृष्टि की क्रमिक सूक्ष्मावगाहिता का ही परिचय है। साधारण दृष्टि स्थूल में वा surface में ही बँधी रहती है। स्थूल के पीछे (उस पार) वह और जा नहीं पाती। किन्तु योगज दृष्टि वा कवि की और मुनि की दृष्टि स्थूल के पीछे उसका जो सूक्ष्म रूप है, उस तक का साक्षात् दर्शन करती है। यह सूक्ष्म रूप सर्वदा ही स्थूल रूप को सर्वतोभाव में व्याप्त करके विद्यमान रहता है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है: यह सूक्ष्म है, उसका प्रमाण क्या है? इसका प्रमाण है अन्वय और व्यतिरेक,

वा प्रतिबन्धक (negative moment) के रूप में रह पाते हैं उसी प्रकार ये सभी अनावरक (positive moment or factor) रूप में भी रह पाते हैं। बाद में दिखाया गया है कि यह अनावरण-कर्म आरम्भ से समापन पर्यन्त सात स्तरों में शेष हुआ करता है; प्रति स्तर में मान्द्य (slowing down) होने की सम्भावना रहती है। सुतरां मान्द्य-परिहारपूर्वक लक्ष्य पर्यन्त पहुँचने में कितने ही सूत्र एवं उनके प्रयोग का छन्दः-अनुवर्तन करना होता है। कर पाने पर, जप का मन्त्र एव उसकी भावना अपनी स्थूल एवं संकीर्ण गण्डी से मुक्ति पाकर उदार, विपुल, सूक्ष्म शक्ति के रूप में प्रकटित होगी। तब मन्त्रादि की यथार्थ शापमुक्ति एवं पाशमुक्ति है।]

यतोऽनावरकं सूत्रं छन्दश्च सूक्ष्मसंवृतम्।
सूक्ष्मज्ञानञ्च विज्ञानं सूक्ष्मं ज्ञेयं परं ह्यतः ॥४॥

अन्वय—यतः अनावरकं सूत्रं छन्दः च सूक्ष्मसंवृतम् (जिस कारण अनावरक सूत्र और छन्दः -ये दोनों सूक्ष्म के बीच आत्मगोपन कर लेते हैं) **सूक्ष्मज्ञानं च विज्ञानं** (सूक्ष्मज्ञान ही विज्ञान है) **अतः परं सूक्ष्मं ज्ञेयं** (अतएव सूक्ष्म को विशेष भाव से जानना चाहिए)।

भाष्य—किन्तु पूर्वोक्त अनावरक सूत्र और छन्दः ये दोनों सूक्ष्म के बीच आत्मगोपन किए हुए हैं। इसलिए ये दोनों ही सूक्ष्म के अन्तर्गत हैं। और सूक्ष्मज्ञान को ही "विज्ञान" वा विशेष ज्ञान कहा जाता है। स्थूल ज्ञान सामान्य ज्ञान मात्र है। अतएव, सूक्ष्म को ही विशेष भाव से जानना होगा, वही परम ज्ञेय है : कारण, सूक्ष्म को जानकर ही स्थूल को भी जानना हो जाता है, क्योंकि स्थूल सूक्ष्म के ही अन्तर्भुक्त है।

[आशङ्का हो सकती है—बीज के आवरण-भंग के पक्ष में मृत्तिका के रस, ताप, आलोक, वायु तो स्थूल ही हैं; ठीक, किन्तु स्थूल रूप में ही ये सब आवरणभंग के हेतु नहीं बनते हैं; बीजनिष्ठ जो सूक्ष्मस्पन्दनादि हैं उनके समजातीय और समरूप होकर ही वे आवरणभंग के हेतु होते हैं। 'स्थूल' किसी क्रिया के द्वारा 'मन्त्रचैतन्य' घटित कराने जाएँ, तब भी वह क्रियाजन्य स्पन्दनादि (१) सूक्ष्मता की एक निर्दिष्ट मात्रा में जायगा एवं (२) छन्दोगत अनुरूपता प्राप्त करेगा। नहीं तो, सौ बार चेष्टा से भी 'मन्त्रचैतन्य' का "उपयोग" नहीं घटित होगा। गुरुशक्ति एवं जापक की श्रद्धा के आधार पर ही यह उपयोग सहजसाध्य है।]

रूप शक्तिद्वय विश्व में सर्वत्र क्रियाशील हैं। इनका जो अनुपात-वैषम्य वा ratio वा तारतम्य है, तदनुसार ही सब वस्तु की व्यक्ताव्यक्तता विकसित होती है। अर्थात् यह ratio के ऊपर ही निर्भर करता है, वस्तु कितनी व्यक्त वा कितनी अव्यक्त है। जहां मोचिका शक्ति का अनुपात अधिक है, वहां वस्तु को कहते हैं व्यक्त, और निरोधिका शक्ति के अनुपाताधिक्य होने पर कहते हैं अव्यक्त।

[आगे जपशक्ति वा छन्द के जो सात मान्द्य के स्थान कथित हैं, उन सब स्थानों में आने पर क्या होता है? मोचिका एवं रोधिका का जो अनुपात है, वह भग्नांश है, अर्थात् लव (मोचिका) की अपेक्षा हर (रोधिका) बड़ी होती है। फलस्वरूप जप का शक्तिह्रास होता है। जैसे देह में metabolism में अनुपात-वैरूप्य से देह का क्षय होता है। देह में जैसे, जप में भी वैसे ही यह अनुपात अनुकूलरूप में पाना होता है। उसका एक प्रकृष्ट साधन यह है—उक्त मान्द्यस्थान (retarding factor) को समिध् रूप में भावना द्वारा अन्तर्ज्योति में ईन्धन बनाइए। फलस्वरूप, वह अग्नीन्धन होगा। **"ॐ यदिदं ययि समारम्भकदौर्बल्यरूपं मान्द्यं तदहं हव्यं कल्पयामि, तच्च (श्रीश्री इष्टदेवता) परम-ज्योतिषि जुहोमि ॐ भूः स्वाहा॥"** इस प्रकार एक-एक मान्द्य-स्थान का एक-एक व्याहृति-योग से परमज्योति में हवन करें।]

[आविः-क्षपा-तत्त्वम् श्लो० ८-१०]

भूयस्त्वं यन्मोचिकायास्तदाविरिति दृश्यते।
भूयस्त्वे रोधिकाया वा तदेव गृह्यते क्षपा॥८॥

अन्वय—**यत् मोचिकायाः भूयस्त्वं** (जो मोचिका का आधिक्य है) **तत् 'आविः' इति दृश्यते** (वह 'आविः' इस प्रकार दिखाई देता है) **रोधिकायाः भूयस्त्वे वा तदेव क्षपा गृह्यते** (रोधिका के आधिक्य से उसी का 'क्षपा' रूप में ग्रहण होता है)।

भाष्य—मोचिका शक्ति का जब भूयस्त्व वा आधिक्य होता है तब 'आविः' कहा जाता है, (जैसे आविष्करोति, आविर्भवति इत्यादि शब्दों में 'आविः' यह अर्थ पकड़ में आता है)। वैसे ही जब रोधिका वा आवरिका शक्ति का भूयस्त्व या आधिक्य होता है तब क्षपा या रात्रि कही जाती है। जैसे दिन में प्रकाश

है तब पूर्वालोचित 'प्रथम पुरुष' के लिए वह 'रात्रि' है, किन्तु 'मध्यम पुरुष' की दृष्टि में वह 'दिवा' है। इस प्रकार जपाक्षर एवं जपार्थ के ध्यान के सम्बन्ध में एक व्यक्ति की दिवा अन्य की रात्रि हो सकती है। Kinetic और Potential के भेद की तुलना करें।]

आवीरात्रीति युग्मत्वं सर्वमन्वेति वृत्तिमत्।
एकेन बाधिता चान्यैकेनान्या साधिता भवेत् ॥१०॥

अन्वय—आविः रात्रि इति वृत्तिमत् युग्मत्वं सर्वम् अन्वेति (आविः और रात्रि का वृत्तिशील जोड़ा सम्पूर्ण सृष्टि में अन्वित है) **एकेन अन्या बाधिता एकेन च अन्या साधिता भवेत** (एक द्वारा दूसरी बाधित है और एक द्वारा दूसरी साधित भी है)।

भाष्य—सृष्टि में सर्वत्र 'आविः' और 'रात्रि'-रूप युग्मत्व अनुस्यूत है। यद्यपि ऐसा दिखाई देता है कि ये दोनों तत्त्व परस्पर विरोधी हैं एवं एक के द्वारा दूसरा बाधित ही होता है, किन्तु और एक दिशा से देखने पर समझ में आता है कि एक के द्वारा दूसरा साधित भी होता है। जैसे विरुद्ध शक्तियों के निरोध के द्वारा किसी एक वस्तु के स्वरूप-आविर्भाव में सहायता होती है, उसी प्रकार यहां निरोध आविर्भाव का साधन ही कर रहा है, बाधन नहीं। सुतरां 'आविः' और 'रात्रि' केवल परस्पर बाधक ही नहीं, साधक भी हैं ॥१०॥

[जैसे, जपाक्षर अथवा जपार्थ का ध्यान करना है एवं तज्जनित ज्योतीरस में अभिषिञ्चित होना है। एकतान अथवा एकाग्रवृत्ति न होने पर यह 'आविः' रूप सम्भव नहीं होता। किन्तु उसके लिए क्या चाहिए? इसकी विरोधी जो तीन वृत्तियां हैं (क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़), उनकी 'रात्रि' अर्थात् निरोध चाहिए। केवल उतना ही नहीं, 'निरोध' के नाम से जो पञ्चमी वृत्ति है, उसका भी निरोध होना चाहिए। अन्यथा जप में ध्यान अथवा सम्प्रज्ञात भूमि नहीं होगी।]

[अरिस्पन्द—मित्रस्पन्द—युग्मम्]

अरिस्पन्द-निवृत्त्या यन्मित्रस्पन्दप्रवर्तनम्।
युग्मं तत्रानुसन्धेयं जपादिसर्वकर्मसु।
क्षयायाच्छाद्य रोद्धव्यं छन्दश्छादयति श्रियम् ॥११॥

अन्वय—अरिस्पन्दनिवृत्त्या यत् मित्रस्पन्दप्रवर्तनं (अरिस्पन्द की निवृत्ति

करके मित्रस्पन्दन का जो प्रवर्तन किया जाता है) तत्र **जपादिसर्वकर्मसु युग्मम् अनुसन्धेयम्** (उसके प्रसंग में जपादि-सर्वकर्म में युग्म या जोड़ा समझना चाहिए)। **क्षयाय आच्छाद्य रोद्धव्यम् छन्दः श्रियं छादयति** (जिनका क्षय अभीष्ट है उनका आच्छादन द्वारा रोधन किया जाता है; और 'श्री' का छादन करके छन्द उसकी रक्षा करता है)।

भाष्य—अब देखिए, जपादि सभी कर्मों के बीच किस प्रकार इस युग्म का अनुसन्धान करना होगा। जपकर्म अरिस्पन्द वा प्रतिकूल-स्पन्द (vibrations) का निरोध रात्रि रूप में करते हैं एवं 'आविः' रूप में मित्रस्पन्द का प्रकाश करते हैं। जप-जनित जो छन्दः है उसका काम है आच्छादन ('छादनात् छन्दः')। यह आच्छादन भी दो प्रकार का है—एक, क्षय के लिए आच्छादन करता है, जो रोद्धव्य हैं उनको अर्थात् प्रतिकूल वृत्तियों को समूल विनाश के लिए अभिभूत करता है। एवं दूसरा, श्री अर्थात् अभ्युदय की हेतुभूता जो दैवी सम्पत् है उसकी रक्षा करता है, वर्म की भांति। इसीलिए छन्द की आच्छादन-क्रिया में भी वह युग्मभाव है ॥११॥

[छन्दोमात्र में 'गोप्तव्य' और 'रोद्धव्य' इस प्रकार दो ओर ध्यान रखना होगा। आनुनासिक, तालव्य, 'छम्' के द्वारा प्रथम एवं हसन्त दन्त्य 'दस्' के द्वारा द्वितीय सूचित होता है। प्लुत उच्चारण करके प्राण-प्रयत्न-व्यापार के प्रति ध्यान दो। इस द्विविध मूल वृत्ति के आश्रय में ही सृष्टि-स्थिति-लय होते हैं। जप में कायिकादि विघ्नों का रोध करते हुए जपक्रिया-फल की रक्षा करनी होती है—'गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वम्']।

[ज्योतिस्तामिस्रयुग्मम्]

यावद्धि वर्धते ज्योतिरुत्तर-भूमिकान्वयात्।
तावद् वर्धेत तामिस्रमधस्तान्नक्तमाश्रितम् ॥१२॥

अन्वय—उत्तर भूमिका+अन्वयात् यावत् हि ज्योतिः वर्धते (ऊँची भूमिका के योग से जिस परिमाण में ज्योतिः बढ़ती है) नक्तं आश्रितं तामिस्त्रं अधस्तात् तावत् वर्धेत (उसी परिमाण में नीचे की ओर रात्रि का आश्रित 'तामिस्र' बढ़ता है)।

भाष्य—इन दो युग्म तत्त्वों का और एक विचित्र सम्बन्ध है; एक की वृद्धि से दूसरे की वृद्धि भी हुआ करती है। उत्तरोत्तर भूमियों में जिस प्रकार

हुई है—इस सन्धि में प्रातःसन्ध्या का विधान है। इसी प्रकार सारे दिन का कर्मकोलाहल शान्त हो आया है, किन्तु अभी सुप्ति की घोर तमिस्रा में वह डूब नहीं गया है—इस अवस्था में सायंसन्ध्या का विधान है। इस प्रसंग में माँ की सन्धिपूजा का रहस्य भी चिन्तनीय है ॥१३॥

समेरुसन्धिसेतुं यस्त्रिसूत्रीं भजति क्रियाम्।
वैप्रतीप्येन तस्य स्यान्नक्तं दिवा ह्यहः क्षपा ॥१४॥

अन्वयः—**यः समेरु-सन्धि-सेतुं त्रिसूत्रीं क्रियां भजति** (जो मेरु, सन्धि और सेतु इस त्रिसूत्री क्रिया का भजन करता है) **तस्य वैप्रतीप्येन नक्तं दिवा हि अहः क्षपा स्यात्** (उसके लिए दिन रात्रि हो जाता है और रात्रि दिन)।

भाष्य—मेरु, सन्धि और सेतु—इस त्रिसूत्री का अनुसरण करके जो भजन करते हैं वा क्रियातत्पर होते हैं उनके समीप विपरीत-क्रम से दिन रात्रि बन जाता है एवं रात्रि दिवा बन जाती है, अर्थात् उन्हें गीतोक्त संयमी मुनि की अवस्था प्राप्त है। साधना में सिद्धिलाभ के लिए इन तीनों का ज्ञान विशेष रूप से अपेक्षित है। इन तीनों को यथार्थभाव से जान लेने के बाद ही जपादि-कर्म में ठीक-ठीक अग्रसर हुआ जाता है, नहीं तो सब कुछ वृथा हो जाता है। हो सकता है कि जप करता जा रहा हूँ, किन्तु यह पता नहीं कि मेरु अर्थात् crisis phase वा climax कौन सी है जहाँ आकर रुकना होगा। क्योंकि ठीक से न रुककर यदि और भी अग्रसर होता चलूँ और मेरु का उल्लंघन करूँ, तो पहले की सभी चेष्टाएं वृथा हो जायंगी। यहाँ तक कि अवाञ्छित परिणाम भी हो सकता है। वैसे ही सन्धि वा neutral point कब आया था, उसे यदि जान न सकें तो उसे कस कर पकड़ना उसका लाभ लेना (avail करना) भी नहीं हो सकेगा और वृथा द्वन्द्व के आवर्तन में घूमकर मरना होगा। अवकाश पाकर भी गण्डी या सीमा काटकर बाहर निकल नहीं सके, ऐसा होगा। और फिर कभी क्रिया की प्रान्तभूमि में आ पहुंचने पर भी तत्त्व के साथ संयोग घटित नहीं होता। न जाने कहाँ एक दरार, एक chasm रह जाती है। इस पार और उस पार के बीच एक व्यवधान रह जाता है। गुरु कृपा करके इस व्यवधान को दूर कर देते हैं, बीच में एक सेतु का स्थापन करके। ठीक जिस समय वे सेतु बाँध देते हैं, उसी समय सेतु का सुयोग लेकर पार हो जाना होगा। इसीलिए सेतु को न जानने पर यह उत्तरण सम्भव ही नहीं होगा। कब सेतु पड़ गया इस ओर सजग दृष्टि रखनी होगी। इसलिए

मेरु, सन्धि और सेतु ये तीन जपादि-साधन के सबसे बड़े सङ्केत हैं और इनके तत्त्व का विशेष रूप से अनुधावन करना आवश्यक है। हम अब मेरु, सन्धि और सेतु के सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ आलोचना करेंगे ॥१४॥

(क्षिति, अप् इत्यादि मिट्टी, जल इत्यादि नहीं हैं, यह तो हमने देखा। पाँचों मूल उपादान तत्त्व हैं। सृष्टि के सब कुछ में इन पाँचों का मिश्रण 'पञ्चीकरण'—हुआ है। इसलिए जपकर्म में भी ऐसा ही है। अब मान लें, क्षितितत्त्व का प्रधानभाव से जप हो रहा है। फलस्वरूप कर्म में स्थूलता, जड़ता, गुरुता का आधिक्य है। यह आयास-बहुल है, अल्प में ही क्लान्ति ला देता है—mechanical, laborious, fatiguing है। इस प्रकार जप को अप्, तेजः प्रभृति ऊपर के स्तरों में चढ़ाना हो तो मेरु, सन्धि, सेतु—इन तीनों को ही पकड़ना होगा।)

[मेरुत्रयम्]

सुमेरुश्च कुमेरुश्च मध्यमेरुरिति त्रिधा।
यो जानीते स जानीते कलाकाष्ठान्वयं ध्रुवम् ॥१५॥

अन्वय—सुमेरुः च कुमेरुः च मध्यमेरुः इति त्रिधा (सुमेरु, कुमेरु और मध्यमेरु—मेरु के इस त्रिविधत्व को) **यः जानीते सः कलाकाष्ठान्वयं ध्रुवं जानीते** (जो जानता है वह कला, काष्ठा के अन्वय को निश्चित जानता है)।

भाष्य—कला की वृद्धि की जो धारा और काष्ठा है, उसका अन्वय वा योग वे ही जानते हैं जो सुमेरु, कुमेरु और मध्यमेरु इस त्रिविध भाव को जानते हैं। सब क्रियाओं का एक critical phase (सङ्कटाकुल या संक्रान्त्युन्मुख अवस्था) होती है, उसी को मेरु कहा जाता है। जैसे सूर्य उदय हुआ एवं चढ़ते-चढ़ते apex (शिखरदेश, मध्यगगन) में पहुँचा—यहाँ पर वह वृद्धि की एक काष्ठा में climax में जा पहुँचा, क्योंकि इसके बाद ही वह अस्त की ओर ढल पड़ा। चन्द्र के पक्ष में भी ऐसा ही है। शुक्लपक्ष में एक-एक कला द्वारा वृद्धि को प्राप्त होते-होते पूर्णिमा में जाकर वह climax में पहुँचता है, और उसके बाद से ही क्षय की ओर उसकी गति शुरू होती है। इस प्रकार विश्व में सर्वत्र है—जैसे मनुष्य की यौवन में पूर्णता और उसके बाद ही क्षयोन्मुखता इत्यादि। इस मेरु वा crisis phase को तीन प्रकार से देखा जा सकता है। Positive (भावात्मक या धनात्मक), negative

(अभावात्मक या ऋणात्मक) और neutral (मध्यवर्ती)। प्रथम को सुमेरु, द्वितीय को कुमेरु और तृतीय को मध्यमेरु कहा जा सकता है ॥१५॥

केवल यह पृथ्वी ही क्यों—सृष्टि में स्थूल, सूक्ष्म सभी पदार्थ—क्या अणु, क्या महान्—सभी ने 'मेरुत्रय आकृति' पाई है। एक दोलक झूल रहा है, हृत्पिण्ड स्पन्दित हो रहा है, अणु के भीतर इलॅक्ट्रॉन चक्कर काट रहा है, जागरण के बाद निद्रा, निद्रा के बाद जागरण आ रहा है—इत्यादि सभी दृष्टान्तों में इस मेरुत्रय-रूप का अनुसन्धान करें। मान लें किसी एक दिशा में क्रिया हो रही है। उस दिशा में एक 'सीमा' तक क्रिया अपने रूप को बनाये रखेगी। सीमा के पार या तो रुक जायगी और नहीं तो रूप ही बदल देगी। उसके बाद, क्रिया को अनुलोम-क्रम से न करके विलोम-क्रम से करें। क्रिया (action) को उलट दें (reverse कर दें), उस दिशा में भी एक 'मेरु' है। फिर, दोनों ओर दो सीमाओं के बीचों बीच एक भूमि है—जैसे magnet (चुम्बक) में—जहाँ आने पर क्रिया को अनुलोम (positive) भी नहीं कहा जा सकता, विलोम (negative) भी नहीं कहा जा सकता।)

[सन्धिसूत्र-त्रैविध्यम्]

प्रातरादिविभेदैश्च विसर्गव्यञ्जन—स्वरैः।
सन्धिसूत्रं त्रिधा विदुरहोरात्रविदो बुधाः ॥१६॥

अन्वय—**अहोरात्रविदः बुधाः** (अहोरात्र के ज्ञाता बुधजन) **प्रातः+आदि+विभेदैः** (प्रातः, मध्याह्न, भेदों से) **विसर्गव्यञ्जन-स्वरैः च** (और विसर्ग-व्यञ्जन-स्वर से) **सन्धिसूत्रं त्रिधा विदुः** (सन्धिसूत्र को त्रिधा जानते हैं)।

भाष्य—उसी प्रकार सन्धि के भी तीन भेद हैं—प्रातः, मध्याह्न और सायाह्न। एक उदय वा उत्थान की सन्धि, द्वितीय उन्मेष की सन्धि, तृतीय अस्त वा अवसान की सन्धि। शक्तिलेख वा dynamic curve मात्र का यह मौलिक रूप है। वेद में 'ऊपस्' इस रहस्य नाम में यह मौलिक रूप निर्दिष्ट है। यथा—ऊ=शक्ति का उत्थान; प=मूर्धा apex; स्=दन्त्य वृत्ति द्वारा अवसान। उसमें प्रातः उत्थान का प्राधान्य होने से उकार का दीर्घत्व है। इस उदय, उन्मेष और अस्त को यथाक्रम से स्वर, व्यञ्जन और विसर्ग के रूप में भी देखा जा सकता है। जो लोग अहोरात्रविद् ज्ञानी हैं, वे सन्धि के इस त्रिविध भाव को जानते हैं ॥१६॥

[सेतुज्ञान-निरूपणम्]

मन्त्रं यन्त्रं च तन्त्रं च श्रद्धाच्छन्दःस्वराश्च वै।
एतत् त्रितयविज्ञानं सेतुज्ञानं समासतः ॥१७॥

अन्वय---**मन्त्रं यन्त्रं च तन्त्रं च** (मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र) **श्रद्धा-छन्दः-स्वराः च वै** (और, श्रद्धा, छन्द और स्वर) **एतत्-त्रितयविज्ञानं समासतः सेतुज्ञानं** (इन तीनों का विज्ञान संक्षेपतः सेतुज्ञान है)।

भाष्य—सेतु के ज्ञान को भी संक्षेपतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—मन्त्रज्ञान, यन्त्रज्ञान और तन्त्रज्ञान। एक plane वा स्तर से दूसरे plane वा स्तर में जाने का संयोजक है यह सेतु। इसीलिए यह (सेतु) nexus principle वा link अथवा line of approach है अथवा जोड़ने वाली कड़ी है। मन्त्रसेतु के हिसाब से प्रणव में 'उ' कार को देखा जा सकता है; यह 'अ' कार और 'म' कार के बीच में रहकर दोनों को संयुक्त करता है। वैसे ही मात्रा की ओर से देखने पर 'अर्धमात्रा' वह सेतु है। फिर वाक् की ओर से देखने पर सेतु है मध्यमा। इसी प्रकार यन्त्रसेतु के हिसाब से भूतशुद्धि, आपोमार्जन वा आचमन आदि को देखा जा सकता है। तन्त्रसेतु के उदाहरण के रूप में न्यास को लिया जा सकता है। मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र—जैसे इन तीनों का, वैसे ही साथ-साथ श्रद्धा, छन्दः एवं स्वर का सेतुरूप से आश्रय लेना होगा। श्रद्धारूप सेतु के द्वारा दो वस्तुओं में एकभावता आती है; छन्दःसेतु से एकतानता और स्वरसेतु से एकवृत्तिता आती है। नेमिगत जो विरूपता है उसे स्वर द्वारा दूर करें, अरगत वैषम्य को छन्दः के द्वारा और नाभि वा केन्द्रगत पार्थक्य को श्रद्धाभक्ति द्वारा दूर करें। 'हरिः' ये तीन वर्ण यथाक्रम से नाभि, अर एवं नेमि को मूल में अन्वित और प्रतिष्ठित करते हैं। मूल बात यह है कि मन्त्र ही कहें, यन्त्र ही कहें वा तन्त्र ही कहें, सभी के बीच में इस सेतु को विशेष भाव से पहचानना और पहचान कर उसे यथायथ-भाव से काम में लगाना आवश्यक है। तभी मन्त्रादि ठीक-ठीक सफल होंगे ॥१७॥

[नियन्तव्य नियामक-तत्त्वम्]

व्यष्टि-समष्टिसर्गेऽपि स्थूले सूक्ष्मे च कारणे।
गृह्येत क्रमसम्बद्धौ नियन्तव्य-नियामकौ ॥१८॥

अन्वय—**व्यष्टि-समष्टि-सर्गे अपि** (व्यष्टि-समष्टि सृष्टि में) **स्थूले सूक्ष्मे**

कारणे च (स्थूल, सूक्ष्म और कारण में) **नियन्तव्य-नियामकौ क्रमसम्बद्धौ गृह्येते** (नियन्तव्य-नियामक क्रमबद्ध रूप में गृहीत होते हैं)।

भाष्य—पहले जैसे सूक्ष्मता की एक क्रमानुरोधिनी धारा की बात कही गई है वैसे ही विश्व में और एक धारा का परिचय मिलता है, वह है नियन्तव्य और नियामक की धारा। विश्व की सभी वस्तुओं में एक नियन्त्रण का principle (तत्त्व) देखने में आता है एवं वह नियन्त्रण जिसके द्वारा हो रहा है उसे नियामक कहेंगे और जो नियन्त्रित वा चालित हो रहा है उसे नियन्तव्य कहेंगे। इसकी भी एक क्रमपरम्परा वा धारा है एवं उसकी दृष्टि से एक सम्पर्क वा relation में जो नियामक है वह फिर अन्य सम्पर्क या relation में नियन्तव्य हो जाता है। मान लें, यह देह-यन्त्र है। इसका नियामक प्राण दिखाई देता है। प्राण ने ही इस यन्त्र को चालू रखा है और वही इसे नियन्त्रित कर रहा है। उसके बाद अनुसन्धान करने पर दिखाई देता है कि इस प्राण का भी चालक और नियामक कोई सूक्ष्मतर तत्त्व है, जैसे मन इत्यादि। इस प्रकार और भी अनुसन्धान चलाने पर हमें नियामक और नियन्तव्य की एक सोपान-परम्परा मानो देखने को मिलती है। केवल स्थूल में नहीं, सूक्ष्म एवं कारण तक में एवं व्यष्टि और समष्टि उभय सृष्टियों के बीच ही हमें इस धारा का परिचय मिलता है ॥१८॥

[जपादि कर्म में मन्त्र, यन्त्रादि के इस नियम्य-नियामक सम्बन्ध को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए चलना होता है। एक मन्त्र जप रहा हूँ। यह जानना आवश्यक है कि किस-किस के द्वारा क्रिया प्रभावित हो रही है। बाहर की गवेषणा में जैसे field picture अथवा समग्र क्षेत्र-चित्र होता है]

[नियन्तव्य-नियामकयोस्त्रिधात्वम्]

प्रत्येकं च त्रिधा ज्ञेयं क्रियाऽऽकृती च दैवतम्।
आद्ये स्युस्त्रीणि रूपाणि तन्त्रयन्त्रे मनुः परे ॥१९॥

अन्वय—**प्रत्येकं च त्रिधा ज्ञेयं** (नियम्य और नियामक में से प्रत्येक को त्रिविध समझना चाहिए) **क्रिया+आकृति दैवतं च** (क्रिया, आकृति और दैवत के रूप में) **आद्ये** (प्रथम में, अर्थात् नियम्य में) **त्रीणि रूपाणि स्युः** (तीन रूप हैं) **परे तन्त्र-यन्त्रे मनुः** (दूसरे में अर्थात् नियामक में तन्त्र, यन्त्र और मनु या मन्त्र है)।

भाष्य—विश्व में नियम्य-नियामक की जो क्रमोन्नत श्रेणी है ('क' 'ख' के द्वारा नियन्त्रित है, 'ख', 'ग' के द्वारा इत्यादि) उसमें ध्यान से देखने पर दिखाई देगा कि नियम्य एवं नियामक में से प्रत्येक ही तीन रूपों या आकारों में वर्त-मान है। प्रथम अर्थात् नियम्य के तीन रूपों को साधारण भाव से कहा जाता है—क्रिया (action), आकृति (pattern) एवं दैवत (शक्ति या power)। जैसे, आँख से देखता हूँ। देखना एक क्रिया है। जिस विशेष इन्द्रिय (organ) के द्वारा जिस एक 'निरूपित' भाव से देख रहा हूँ वह है 'आकृति'। और, जिस प्राण एवं चैतन्य शक्ति (चक्षुरभिमानी आदित्य) के द्वारा देख रहा हूँ उसे कहते हैं 'दैवत'। फिर मान लें, 'रेडियम'-जातीय किसी वस्तु के अणु स्वभावतः फटे जा रहे हैं, यहाँ बिदीर्ण होना क्रिया है; अणु की आभ्यन्तरीण अथवा पारिपार्श्विक जिस विन्यासभङ्गी के फलस्वरूप यह क्रिया हो रही है, वह है आकृति, एवं जिस निरूपित आकार से (अल्फ़ा, बीटा, गामा रश्मियों की त्रिधारा के विकिरण-पूर्वक) यह हो रही है वह भी आकृति है; और, जिस 'रहस्य' शक्ति द्वारा (वाह्य ताप-चापादि की अपेक्षा न रखकर ही) यह हो रही है उसका नाम 'दैवत' है। ऐसा ही सर्वत्र है। नियम्य के जैसे तीन रूप हैं, नियामक के भी वैसे ही तीन हैं—तन्त्र, यन्त्र एवं मनु (मन्त्र)। अर्थात् जो क्रिया को नियन्त्रित करता है उसे कहते हैं तन्त्र; जो आकृति को नियन्त्रित करता है उसे कहते हैं 'यन्त्र'; और, दैवत अथवा अन्तर्निहित शक्ति को जो नियन्त्रित करता है उसे कहते हैं मनु या मन्त्र। चाहे जिस क्षेत्र में समर्थ भाव से कुछ भी करना चाहें उन तीनों की आवश्यकता है:—कर्म का correct technique और formula (सही विधि और सूत्र नियम); उक्त नियम के सफल प्रयोग के लिए आवश्यक क्षेत्र (field), करण (instrument अथवा means) एवं पद्धति (way or method) की एक निर्दिष्ट, उपयुक्त आकृति (plane and pattern); एवं अन्त में चाहिए उपयुक्त भाव से और उपयुक्त परिमाण में शक्तियों का समूहीकरण (organisation of forces)। 'रेडियो-आइसोटोप' के साथ किसी-किसी वस्तु (जैसे हल्का यूरेनियम) के सम्पर्क में इन तीनों (तन्त्र, यन्त्र, मन्त्र) का संप्रयोग हम (मारण व्यापार में) कर सके हैं और इस प्रकार हमने बनाया है आणविक बम। जपादि-साधन में समर्थ भूमि के लाभ के लिए यह नियम्य-नियामक-सूत्र विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए। जप चल रहा है, किसी एक 'आकार' में चल रहा है, किसी एक 'शक्ति' में चल रहा है। किन्तु

नहीं होता) सूक्ष्मव्योम्नः तु अभेदात् हि सर्वं प्राणे समर्पितम् (सूक्ष्मव्योम के साथ अभेद-सम्बन्ध से सब कुछ प्राण में समर्पित है)।

तथापि जो नियन्तव्य है (यथा, जप आदि का करण, यन्त्र) उसे पृथग्भाव के अच्छी तरह जानना होता है एवं जान कर ही मूल नियामक के अनुसन्धान का यत्न करना होता है। जैसे, यन्त्री को साधारण भाव से जानने पर ही उसके यन्त्र को जानना भी नहीं हो जाता, उसे अलग से जानना होता है, उसी प्रकार। अवश्य ही पूर्ण-समापत्ति के लिए जो विज्ञान है उसमें यह भेद फिर नहीं रहेगा; तब मूल के ज्ञान से ही काण्ड, शाखा, प्रशाखादि सब कुछ का ज्ञान रहेगा। तब यन्त्र-यन्त्री का ज्ञान दो वृत्तों की भांति एक दूसरे के बाहर नहीं रहता। किन्तु उसके पूर्व, एक के बीच दूसरे का अन्तर्भाव तो कहीं दिखाई नहीं दे रहा है—इस प्रकार ही अनुसन्धान करना होता है। विश्व-चक्र की नेमि एवं अरसमूह सभी एक प्राण (प्राणब्रह्म) में समर्पित हैं, एवं वह प्राण सब कुछ का नाभिनिष्ठ होकर भी सूक्ष्म-व्योम-रूप में सर्वव्यापी है। अर्थात् एकाधार में वह बिन्दु एवं नाद है। इस प्राण में जब तक न पहुँचा जाय तब तक यन्त्रादि को यथासम्भव स्वतन्त्र भाव से विश्लेषणादिपूर्वक जानना आवश्यक है ॥२१॥

[भावपञ्चकम् श्लो० २२, २३]

तत्र प्रभावसम्भावौ विप्रतिपूर्वकौ च यौ।
भावावन्वादिभावश्च पञ्चैत आसते क्रमाः ॥२२॥

अन्वय—तत्र प्रभाव-सम्भावौ यौ च भावौ वि-प्रति-पूर्वकौ अनु+आदि-भावः च पञ्च एते क्रमाः आसते (नियमन-कर्म में पांच क्रम रहते हैं प्रभाव, सम्भाव विभाव, प्रतिभाव, अनुभाव)।

भाष्य—नियामक का नियमन-कर्म पांच क्रमों से हुआ करता है (इनकी विशेष व्याख्या बाद में होगी);—प्रभाव, सम्भाव, विभाव, प्रतिभाव, अनुभाव ॥२२॥

भास्करे चाप्ययस्कान्ते सुवर्णे मकरध्वजे।
दध्यादिषु च बीजाणौ वीणायन्त्र उदाहृताः ॥२३॥

अन्वय—[एते] भास्करे अयस्कान्ते च अपि सुवर्णे मकरध्वजे बीजाणौ दध्यादिषु वीणायन्त्रे च उदाहृताः (ये प्रभावादि भास्कर में, अयस्कान्त में, सुवर्ण मकरध्वज में, दध्यादि बीजाणु में और वीणायन्त्र में उदाहृत हैं)।

भाष्य—प्रभाव-रूप क्रम को भास्कर के उदाहरण से समझने का यत्न करें। अनुभाव क्या वस्तु है, इसे लौह के सन्निधान में अयस्कान्त (चुम्बक) के दृष्टान्त से समझने का यत्न करें। विभाव को समझें, मकरध्वज को प्रस्तुत करने में सुवर्ण की क्रिया (catalytic action) के द्वारा। सम्भाव को समझें वीजाणु द्वारा दुग्ध आदि से दध्यादि की उत्पत्ति द्वारा; एवं प्रतिभाव को समझें वीणायन्त्र में अनुरणन आदि की सृष्टि द्वारा। Direct action, influence action. catalytic action, subtle transformation action. resonance action—ये पांच क्रमशः प्रभाव, अनुभाव, विभाव, सम्भाव, प्रतिभाव हैं ॥२३॥

[ये व्यक्त, व्यक्ताव्यक्त, अव्यक्त, रूपान्तर में अभिव्यक्त, प्रतिस्पन्द में उपचित व्यक्त हैं।]

[कर्तृतापञ्चकम्]

अधिभूतं तथाऽध्यात्ममधियज्ञं च दैवतम्।
अध्यक्षरं नियन्तॄणां पञ्चाधिकृत्य कर्तृताः ॥२४॥*

अन्वय—अधिभूतं तथा अध्यात्मं अधियज्ञं दैवतं अध्यक्षरं च नियन्तॄणां पञ्च अधिकृत्य कर्तृताः (अधिभूत, अध्यात्म, अधियज्ञ, दैवत-अधिदेव, अध्यक्षर—ये पांच अधिकारानुसारी कर्तृता हैं)।

भाष्य—क्रिया की ओर से जैसे पाँच 'अधिकृत्य कर्तृता' हैं, अर्थात् पाँच अधिकारों(frame of reference, situation) में कर्तृता (कर्ता होने का भाव) है; इसलिए इस पञ्चविध कर्तृता के हिसाब से भी नियन्ता को पाँच प्रकार से देखना होगा। इनकी विशेष व्याख्या बाद में होगी ॥२४॥

[अधिभूत, अध्यात्म, अधियज्ञ, अधिदेव, अध्यक्षर अर्थात् क्रिया का आधार एवं उस-उस आधार में कर्तृत्व (agency) इन पाँच प्रकार का है।]

[प्रणवस्य नियामकत्वम्]

प्रणवे पञ्चमात्रा यास्ताभिः सर्वं नियम्यते।
परत्वाच्च नियन्तॄणामोङ्कारः प्राण एव च ॥२५॥

अन्वय—प्रणवे याः पञ्च मात्राः ताभिः सर्वं नियम्यते (प्रणव में जो पाँच मात्राएँ हैं, उनके द्वारा सब कुछ का नियमन होता है) नियन्तॄणां परत्वात् च

---

*मूल ग्रन्थ में इस कारिका पर—२३ (क) संख्या है।

ओंकारः प्राण एव च (नियन्ताओं में से पर या श्रेष्ठ होने के कारण ओंकार प्राण ही है)।

भाष्य—जपादि के मूल में जो प्रणव है उसकी पाँचों मात्राओं से सर्वद्रव्य, सर्वगुण एवं सर्वकर्म नियमित होते हैं, ऐसा जानना चाहिए। ब्रह्मवाचक ओंकार सब नियन्ताओं में श्रेष्ठ है, इसलिए ओंकार ही पूर्वोक्त प्राण है, सुतरां ओंकार (अथवा ईश्वर के नाम) का आश्रय लेकर जप करने से जो सर्व-नियामक प्राण के प्राण हैं, उन्हीं का आश्रय लेना हो जाता है ॥२५॥

[नियामक-पञ्चकम्]

जपादावनुसन्धेयाः पञ्चैते च नियामकाः।
मन्त्रं गुरुश्च देवश्च क्षेत्री छन्दः समूहतः ॥
गुरोर्याऽनुग्रहाख्या चाग्रहाख्या क्षेत्रिणो धृतिः ॥२६॥

अन्वय—जपादौ एते पञ्च नियामकाः अनुसन्धेयाः (जपादि में ये पाँच नियामक अनुसन्धेय हैं) मन्त्रं च गुरुः च देवः च क्षेत्री छन्दः समूहतः (मन्त्र, गुरु, देव, क्षेत्री अर्थात् जीव और छन्दः ये मिल कर पाँच नियामक हैं) गुरोः या अनुग्रहाख्या क्षेत्रिणः च आग्रहाख्या धृतिः (गुरु की अनुग्रहाख्या धारा और क्षेत्री की आग्रहाख्या धारा है)।

भाष्य—विशेष भाव से अर्थात् ईश्वर-नाम के सहयोगी भाव से विशिष्ट मन्त्र, गुरु, देवता, जीव (भगवान् की परा प्रकृति) एवं छन्दः (मधुच्छन्दः इत्यादि)—इन पाँचों को कर्म के नियामक के रूप में जानना चाहिए। इन पाँचों में से गुरुशक्ति के आश्रय से भगवान् की अनुग्रहाख्या धारा एवं जीव-प्रकृति के भीतर से आग्रहाख्या धारा (inspiration and aspiration) निःसृत होकर एक-दूसरे में मिल जाती हैं। इस मिलन के द्वारा ही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-सम्बन्ध "क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-योग" बन जाता है ॥२६॥

[नाद-बिन्दु-कला-तत्त्वम्]

सङ्कुचत्प्रसरद्रूपा तार्तीया विश्ववृत्तिता।
नादबिन्दू यतः काष्ठेऽदिधिषति कला च या ॥२७॥

अन्वय—तार्तीया विश्ववृत्तिता सङ्कुचत्प्रसरद्रूपा (तृतीया विश्ववृत्ति संकोच-प्रसार-रूपा है) यतः नादबिन्दू काष्ठे (इस वृत्ति की दो काष्ठाएँ

है। जो संकोच-प्राप्त है वह विस्तार की ओर अग्रसर होता है; तब क्रिया का जो रूप होता है उसे कहते हैं 'ऋध्' (ऋध्यति)। और, इस क्रिया का वैपरीत्य (reversing) होने पर होता है 'धृ' (धृत हो रहा है)—gathered and massed हो रहा है, ऐसा समझना होगा। 'ऋध्' से ऋद्धि, समृद्धि; और 'धृ' से धर्म (conservation)। एक योग है, दूसरा क्षेम है। जैसे जप में प्रथम का प्राधान्य होने पर जप-स्पन्द अपने को विस्तारित करके एक महान् विश्व-जप के रूप में अपना प्रत्यक्ष करता है; और दूसरे के प्राधान्य से अपने को सूक्ष्मतर महाशक्ति-केन्द्र (nucleus) के रूप में आविष्कार करता है। एक expansive aspect है और दूसरा intensive, concentrated aspect है। जैसे जड़ के क्षेत्रमें cosmic rays एवं nuclear energy हैं।

एक बार संकोच की चरमसीमा में पहुँच कर अथवा उसकी ओर अग्रसर होकर पुनः क्रमशः विस्तार लाभ करना, फिर प्रसार की चरम सीमा में पहुँच कर अथवा उसकी ओर अग्रसर होकर क्रमशः सूक्ष्म होना—यह 'झूला' विश्व में अविराम चल रहा है। जैसे चन्द्र प्रसार की चरम सीमा पूर्णिमा में पहुँचने के साथ ही साथ फिर संकोच की ओर गति आरम्भ कर देता है। एवं वह गति बढ़ते-बढ़ते जब संकोच की चरम सीमा अमावस्या में पहुँचती है तब विपरीत विस्तारमुखी गति शुरू हो जाती है। सुतरां, नाद और बिन्दु की यह जो मिथुनीभावेच्छा एवं परस्पराभिमुखी गति है, उसी के द्वारा कला की अभिव्यक्ति हुआ करती है। नाद-बिन्दु की परस्पर मिथुनीभावेच्छा की अभिव्यक्ति कामकला है। परम राहस्यिक 'योनि-लिङ्ग' इसका प्रतीक है। इस प्रसंग में 'क्लीं' यह बीज बाद में परीक्षित होगा। कला है एक aspect वा partial element, सुतरां वह पूर्ण नहीं है। इसीलिए वह केवल ऋध्यमान है, ऋद्धि पाना चाहती है, पूर्ण होना चाहती है, किन्तु कला की यह वृद्धि फिर दो दिशाओं में है संकोच की ओर और प्रसार की ओर negative और positive रूप से, minus और plus रूप से। कृष्णपक्ष में संकोच-मुख में कला की वृद्धि है और शुक्लपक्ष में विकास-मुख में ॥२७॥

[अर्धमात्रा-तत्त्वम्]

कलानामृध्यमानानां मात्रा या त्वर्धसंस्थिता।
अर्धमात्रेति जानीयात् मातृकालायां स्थिताः ॥२८॥

मिलता है सोम—जिस अमृत-विन्दु के बीच समग्र अभिव्यक्ति वा विकास की सम्भावना विवृत है। फिर विस्तार के अन्त में जाकर विश्व-व्यापी शक्ति (field-energy) के रूप में (अवश्य ही, केवल जड़शक्ति नहीं) मिलते हैं अग्नि – जो नाद के रूप में सर्वत्र ओतप्रोत हैं। फिर ये दोनों ही मुख्य प्राण में आज्य के रूप से, आहुति के रूप से कल्पित हैं अर्थात् नाद एवं बिन्दु, विस्तार एवं संकोच - इन दोनों का ही उत्थान एवं अवसान होता है जाकर मुख्य प्राण में, प्राण-ब्रह्म में। ये संकोच-विकास मुख्य प्राण की ही दो मुख्य कला (phase) मात्र हैं। सुतरां इनकी उसी में आहुति देना आवश्यक है। वैसा होने पर ही कृतार्थता है ॥२९॥

[जप में मुख्य प्राण में अथवा प्राण-ब्रह्म में आहुति-कर्म अत्यावश्यक है—आग्नेय मात्रा के आधिक्य से चञ्चलता इत्यादि रजस् के लक्षणों के दिखाई देने पर भी, और सोमीय मात्रा के आधिक्य से 'शीतस्तब्धता' 'मत्तता' इत्यादि तामस लक्षणों के दिखाई देने पर भी।]

[ह्लाद्य-ह्लादक-धारा, धार्य-धारक-धारा च]

ह्लाद्यह्लादक-धाराया आरसतमवाहिता।
धार्यधारकधारायाः शेषोऽदितौ च दृश्यताम् ॥३०॥

अन्वय—ह्लाद्यह्लादकधाराया आरसतमवाहिता (ह्लाद्यह्लादक धारा आरसतम-वाहिनी है अर्थात् उसकी सीमा है रसतम) धार्यधारकधारायाः शेषः च अदितौ दृश्यतां (धार्यधारक-धारा का शेष या सीमा अदिति में देखें)।

भाष्य -जैसे संकोच-प्रसार की धारा का शेष है मुख्य प्राण में वैसे ही फिर ह्लाद्य-ह्लादक-धारा की शेष सीमा वा काष्ठा है रसतम। वहाँ पहुंचे विना आनन्द की पूर्णता नहीं, तृप्ति नहीं। इसीलिए आनन्द का अनुसन्धान भी उतने दिन निरन्तर चलता रहेगा। और धार्यधारक (contained and cotainer) की जो धारा है, उसकी सीमा (limit) है अदिति। इसीलिए अदिति को ही द्यौ, अदिति को ही अन्तरिक्ष, अदिति को ही माता, पिता और पुत्र कह कर श्रुति ने वर्णन किया है* ॥३०॥

[धाराणां त्रित्वं, पञ्चत्वं, सप्तत्वं वा]

पञ्च वा सप्त वा तिस्रो धारा एकत उत्सृताः।
तदेकं विद्धि वै ब्रह्म व्योमप्राणाद्युपाधिकम् ॥३१॥

---

* अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्—ऋग्वेद १, ८९, १०—अनुवादिका।

अन्वय—पञ्च वा सप्त वा तिस्रः धाराः एकतः उत्सृताः (तीन, पाँच या सात धाराएँ एक से ही निकली हैं) तत् एकं व्योम-प्राण-आदि-उपाधिकं ब्रह्म वै विद्धि (उस एक को व्योम, प्राण आदि उपाधियों से युक्त ब्रह्म समझना चाहिए)।

भाष्य हमने यहाँ विश्व की कुछ-एक धाराओं की चर्चा की। धारा तीन ही हों या पाँच ही हों या सात ही हों मूल में वे एक केन्द्र से ही निर्गत वा निःसृत हुई हैं। वह एक केन्द्र वा मूल है ब्रह्म—जो व्योम, प्राण प्रभृति विभिन्न उपाधियों में प्रकाशित होते हैं। गीता ने भी इन्हीं को लक्ष्य करके कहा है - 'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी'* ॥३१॥

[अध्यारोप-अपवाद-तत्त्वम्]

अध्यारोपापवादाभ्यां गता विशिष्यमाणता।
हानोपादानराहित्ये तच्च ब्रह्म परं स्थितम् ॥३२॥

अन्वय—अध्यारोप+अपवादाभ्यां विशिष्यमाणता गता (अध्यारोप और अपवाद से विशिष्यमाणता अर्थात् विशिष्टभाव दूर होता है) हान+उपादान-राहित्ये तत् च परं ब्रह्म स्थितं (हान-उपादान से रहित वह परब्रह्म स्थित है)।

भाष्य—ब्रह्म को प्राप्त करने अथवा ब्रह्मतत्त्व को अविगत करने की वेदान्त-प्रसिद्ध रीति (method) है—अध्यारोप और अपवाद। सब वस्तुओं को पहले ब्रह्म में आरोपित करके ब्रह्म को उन-उन उपाधियों द्वारा युक्त करके देखने की धारा है अध्यारोप। बाद में फिर इन सब उपायों का एक-एक करके अपवाद (negation) करके ब्रह्म को सर्व उपाधिनिर्मुक्त करके देखने की धारा है अपवाद। पहली अन्वयमुखी है, 'इति'-रूपा है दूसरी व्यतिरेकमुखी है, 'नेति'-रूपा है। इस उभयधारा (method) के सहप्रयोग (combined application) के द्वारा ही सब विशिष्यमाणता वा विशिष्ट उपाधिकृत भाव दूर होने पर 'ब्रह्म' अपने स्वरूप में प्रकाशित होते हैं। किन्तु इन दो उपायों के प्रयोग से ब्रह्म का हान या उपादान नहीं होता अर्थात् अध्यारोप के द्वारा उसमें नया कुछ युक्त (added) भी नहीं होता एवं अपवाद के द्वारा उससे कुछ वियुक्त (subtracted) भी नहीं होता। उनकी इससे कोई क्षति-वृद्धि नहीं होती, क्योंकि उनमें योग वा वियोग (addition वा

* श्रीमद्भगवद्गीता १५.४—अनुवादिका।

भाष्य–अब प्रश्न उठता है:—यह जिस पूर्ण ज्ञान की बात कही गई उस पूर्ण ज्ञान में कैसे पहुँचूँ ? इसका उत्तर है—बुद्धि की शरण लो। क्योंकि वह सर्वावभासिका है, सब कुछ का प्रकाश कर देती है। वह जैसे एक ओर परम सूक्ष्म में प्रवेश कर सकती है, वैसे ही फिर परम महत् में भी अनायास अपना विस्तार कर सकती है, सुतरां पूरे तौर से लचीला (perfectly elastic) यदि कुछ है तो वह बुद्धि है, इसीलिए वह 'स्थितिस्थापिकोत्तमा' है, उसे चाहे जैसे ढाल सकते हैं, (mould कर सकते हैं), परम सूक्ष्म वा परम व्यापक चाहे जिस रूप में ले सकते हैं, यही अर्थात् यह बुद्धि ही मनुष्य की विशेष सम्पत्ति है। यह एक कारण ही उसे अन्य प्राणिवर्ग से पृथक् करता है एवं इसके सम्यक् अनुशीलन से वह विश्व के समस्त रहस्य में अवगत हो सकता है, एवं परिशेष में विश्वनाथ को समझ सकता है। हम आज विज्ञान का जो कुछ चमत्कार देखते हैं, वह सब ही इस बुद्धि का ही आविष्कार है, बुद्धि के ही विकास का फल है। किन्तु हमारी साधारण बुद्धि में कोई तत्त्व प्रतिभात नहीं होता—इसका कारण क्या है ? इसका कारण और कुछ नहीं—हमारी बुद्धि की अशुद्धि है। जैसे दर्पण कचरे से मैला हो जाने पर उसमें कुछ भी प्रतिबिम्बित नहीं होता, वैसे ही अशुद्धि से भरी जो बुद्धि है, उसमें किसी तत्त्व का भी उन्मीलन नहीं होता। जैसे दर्पण स्वभावतः स्वच्छ है, बुद्धि भी वैसे ही स्वरूपतः प्रकाशरूपा ही है, केवल आगन्तुक मालिन्यवशतः मानो उसकी प्रकाशमयता तिरोहित मात्र हो गई है। इसीलिए पातञ्जल दर्शन में कहा गया है, 'प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वम्'*। इस मालिन्य वा अशुद्धि के क्रमशः दूर होने पर जब शुद्धि की शेष सीमा में जाकर बुद्धि अपनी परम निर्मलता और स्वच्छता को फिर पा लेती है तब समस्त तत्त्व स्वतः ही उसमें विशेष रूप से स्फुरित होते हैं अथवा प्रकाश पाते हैं। तब मानो जानने के लिए और प्रयास भी नहीं करना पड़ता। इसीलिए सर्व प्रयास से बुद्धि को शुद्ध करना और उसकी शरण लेना आवश्यक है ॥३४॥

[खण्डज्ञानस्यासामर्थ्यम्]

हिमाद्रितनुनिर्माताऽश्मरेणून् कोऽपि चाययेत्।
शिशिरशीकरैः को वा प्रपूरयेन् महाम्बुधिम् ॥ ३५॥

अन्वय—हिमाद्रि-तनु-निर्माता अश्मरेणून् अपि कः चाययेत् (कोई

* पातञ्जल योगसूत्र १.२; व्यास भाष्य—अनुवादिका।

मादि का शरीर निर्माण करने के लिए प्रस्तर-रेणुओं का संचय कर सकता ?) कः वा शिशिरशीकरैः महाम्बुधिं प्रपूरयेत् (कौन ओस-कणों से महाम्बुधि को भर सकता है ?)

भाष्य - शङ्का उठ सकती है—बहिर्विज्ञान वा 'साइंस' भी तो इस प्रकार बुद्धि की शरण लेकर तत्त्व-आविष्कार कर रहा है, तब क्या विज्ञान का पथ ही अनुसरण करने को कहा जा रहा है ? उसी से क्या परमार्थ भी मिल जायगा ? नहीं, विज्ञान के पथ से परम तत्त्व कभी नहीं मिलेगा। क्योंकि विज्ञान चला है खण्ड के पथ पर, अल्प के पथ पर, और आर्षज्ञान चला है अखण्ड के पथ पर, भूमा के पथ पर। विज्ञान केवल कह रहा है—'बाहर का यह जानो, वह जानो, विश्लेषण करते चलो'; किन्तु इस प्रकार जोड़-जोड़ कर कभी परम ज्ञान नहीं मिलता, खण्ड की समष्टि से अखण्ड नहीं बनता। प्रस्तर के रेणुओं का संचय करके कौन हिमालय का विराट् वपु तैयार करेगा ? शिशिरकणों का संग्रह करके कौन महोदधि को प्रपूरित करने जायगा ? यह सब मानो वातुल की प्रचेष्टा हैं, वैसे ही खण्ड जोड़ कर अखण्ड ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास भी नितान्त उपहासास्पद है; इसलिए प्रज्ञान की तुलना में विज्ञान की यह अपरिहार्य त्रुटि है, क्योंकि उसकी अनुसन्धान-रीति (method) ही सदोष और असम्पूर्ण (inadequate) है ॥३५॥

[बुद्धेः पारगामिता]

विशारदादिभिर्लिङ्गैः कृत्स्नेषु क्रमते च धीः।
समावृत्तावियात् पारं स्वामतीत्य स्वतः परम् ॥३६॥

अन्वय विशारद-आदिभिः लिङ्गैः धीः कृत्स्नेषु क्रमते (विशारद आदि लिङ्गों से युक्त बुद्धि अर्थात् उन-उन स्तरों में विकसित बुद्धि कृत्स्न वा समस्त तत्त्वों को जान लेती है) समावृत्तौ पारम् इयात् ('समावृत्ति' में पहुँच कर पार हो जाती है) स्वाम् अतीत्य स्वतः परं (इयात्) (अपना अतिक्रमण करके अपने से पर जो तत्त्व है, उसमें पहुँच जाती है)।

भाष्य तब फिर किस उपाय का अनुसरण करना चाहिए ! बुद्धि के मार्जन का पथ ही आश्रयणीय है। बुद्धि के जो विशारद, प्रातिभ, ऋतम्भरा प्रभृति स्तर वा भूमियां हैं, उन्हें क्रमशः विकसित करना आवश्यक है, इस प्रकार बुद्धि, अर्थात् जिस करण द्वारा सब कुछ जानते हैं, वह जब विशुद्ध और उज्ज्वल हो उठती है, प्रज्ञा की सप्तधा प्रान्तभूमि जब खिल उठती है तब

रचनानुपपत्तेर्नानुमानम्'‡ इत्यादि नाना प्रकार के लिङ्ग वा हेतु द्वारा तुम्हारे सर्व त्व, सर्वशक्तिमत्त्व, सर्वान्तर्यामित्व, ज्ञानशक्त्यादि के समग्रत्व और परिपूर्णत्व को दिखाकर यह प्रतिपादन किया गया है कि तुम अशेष कल्याणगुणाकर ईश्वर हो, अर्थात् तुम्हारा सगुण रूप दिखाया गया है। वह हुआ करे। फिर परम प्रियतम वा मधुमत्तम के सन्धान के अवसान के रूप में तुम में ही निरतिशय वा आत्यन्तिक मधुरिमा भी सिद्ध हुई है, क्योंकि श्रुति में 'मधु' के सन्धान में तुम्हें ही चरम मधु के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। एवं **'तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्'**§ इत्यादि कहकर प्रेष्ठता वा सर्वापेक्षा प्रियता तुममें ही दिखाई गई है। वह भी हुआ करे—अर्थात् ये सभी तुम्हारे —निर्गुण, सगुण वा आनन्द रूप प्रतिपादित हुआ करें, किन्तु तथापि हे गोविन्द ! हे नाथ ! तुम में ही एकान्त प्रपत्तियोग से समर्पित हमारी बुद्धि को तुम्हारे अच्युतचरण अर्थात् अक्षय, अव्यय जो परम पद है, उसी में अनाकुल दृष्टियुक्त बनाओ। तुमने स्वयं ही कहा है- **'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'**||; इसलिए तुम्हारे निर्विशेष, रसतम, प्रभृति रूप श्रुति-युक्ति-प्रभृति द्वारा प्रतिपादित होने पर भी तुममें एकान्त प्रपत्तियोग के विना, शरणागति के विना अन्य किसी उपाय से **'तद् विष्णोः परमं पदं'**× तुम्हारा वह परम पद अनुभव में नहीं आता, साक्षात् अवगत नहीं होता। अतएव तुम ही करुणा करके हमें उस परम पद के अनुभवभागी बनाओ ॥३७॥

---

‡ ब्रह्मसूत्र २. २. १ — अनुवादिका।
§ बृहदारण्यकोपनिषत् १. ४. ८ — ,,
|| श्रीमद्भगवद्गीता ७. १४ — ,,
× कठोपनिषत् ३.९ —अनुवादिका।

जपसूत्रम्

परिशिष्ट

प्रथम परिशिष्ट*

विशिष्ट टिप्पणियाँ

(क) विशिष्ट नाम (अकारादि क्रम से)

प्रथम परिशिष्ट

विशिष्ट टिप्पणियाँ

३. जगदीशचन्द्र बसु पृ० ७० (१८५८—१९३७)

भौतिक विज्ञान और वनस्पति-विज्ञान के विशेषज्ञ। 'बोस रिसर्च इन्स्टिट्यूट', कलकत्ता, के स्थापक। वनस्पतियों के भी हृदय और स्नायुमण्डल होता है, इस आश्चर्यजनक तथ्य के विश्वविख्यात उद्‌घाटक। जिन्हें प्रायः जड़ समझा जाता है, उन सब में जीवन-तत्त्व के आविष्कर्ता। वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए विश्वख्याति का अर्जन करने वाले सर्वप्रथम भारतीय। प्रकाशित रचनाएँ—'Plant Response,' 'Motor Mechanism of Plants' इत्यादि।

४. जिम्स (जीन्स) पृ० ६७

Jeans. Sir James Hopwood (१८७७-१९४६) अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के ब्रिटिश विद्वान् और लेखक। मुख्य विषय गणित, भौतिक विज्ञान और गणित ज्योतिष। इन्द्रिय-गोचर जगत्, जो हमारे सामान्य अनुभव का विषय बनता है, केवल समुद्र की ऊपरी सतह की भाँति है; वास्तविक जगत् को गहन अन्तर्धारा के रूप में समझ सकते हैं, जो कि ऊपर से दिखाई नहीं देती—मुख्यतः इस विचार का प्रतिपादन किया और आधुनिक भूत-विज्ञान के सिद्धान्तों का दर्शन-शास्त्र की भाषा में सुगम शैली में प्रतिपादन किया। मुख्य प्रकाशित ग्रन्थ—The Dynamical Theory of Gases (1904), Theoretical Mechanics. (1906). Mathematical Theory of Electricity And Magnetism (1908), Problems of Cosmogeny & Stellar Dynamics (1919), The Universe Around Us (1929), The Mysterious Universe (1930), The Stars In Their Courses, (1931) The New Background of Science (1933), Through Space & Time (1934). Science & Music.

५. प्लेटो पृ० ८४ (४२९-३४७ ई० पू०)

प्रख्यात यूनानी दार्शनिक। सुकरात के प्रिय शिष्य। वास्तविक नाम Aristocles। यूनान में Athens के अभिजात वंश में जन्म। राजनीति (Statesmanship) की ओर स्वाभाविक झुकाव, किन्तु सक्रिय राजनीति में विफलता और निराशा। फलस्वरूप Academy की स्थापना। यह

विश्वविद्यालय जैसी संस्था थी, जो भविष्य के राजनैतिक नेताओं को प्रशिक्षण देती थी। दार्शनिक ही सफल शासक हो सकते हैं, ऐसा प्लेटो का विश्वास था। दर्शन (Philosophy) का अर्थ उनके अनुसार था—सूक्ष्म विचार, तत्त्व, आकृति और परमसत्ता का अनुभव करने की शक्ति। सुप्रसिद्ध ग्रन्थ Republic प्रायः संसार भर की भाषाओं में अनूदित। कथोपकथन-शैली में ही सब लेखन। कुल ३१ ग्रन्थ तीन वर्गों में विभाजित किए गए हैं। सभी में कथोपकथन अथवा पत्र-संग्रह है। पत्र-संग्रहों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध मानी जाती है।

६. फूरियार पृ० ५६

Fourier, Jean Batiste Joseph (१७६८–१८३०) फ्रांसीसी गणितज्ञ। नेपोलियन के साथ मिश्र गए थे। मिश्र में गवर्नर पद पर नियुक्त हुए। ताप (heat) और संख्या-समीकरण (numerical equations) में विशेष कार्य। गाणितिक भौतिकी (Mathematical Physics) में विशिष्ट स्थान।

७. बंकिमचन्द्र (चट्टोपाध्याय) पृ० २७ (१८३८-१८९४)

बंगला के सुप्रसिद्ध लेखक, उपन्यासकार, 'बन्देमातरम्' मन्त्र के द्रष्टा। साहित्यिक कृतियाँ हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में अनूदित। दुर्गेश-नन्दिनी, आनन्दमठ, कपालकुण्डला, देवी चौधरानी, विषवृक्ष, कृष्णकान्तेर विल, कमलाकान्तेर दफ्तर इत्यादि कथा-साहित्य एवं अनेक फुटकर कृतियाँ। राष्ट्रीय चेतना के जागरण-घोष के अपूर्व उद्घोषक और बंगला गद्य के प्रतिष्ठापकों में अन्यतम।

९. मैक्समूलर पृ० २६

Friedrich Maximilian Muller (१८२३-१९००)

जर्मन भाषाविज्ञानवित् और प्राच्यविद्याविशारद। कवि Wilhelm Muller के पुत्र। जर्मनी में अध्ययन के बाद ऑक्सफोर्ड गए और वहीं आजीवन रहे। भाषाविज्ञान और पुराणेतिहास (Mythology) के प्रति अध्येताओं का आकर्षण उत्पन्न करने में अद्वितीय कार्य Science of Lenguage शीर्षक व्याख्यानमाला (१८६१, १८६३) द्वारा संपन्न। भाषाविज्ञान की अपेक्षा पुराणेतिहास (Mythology) और विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में विशेष रुचि थी। ऋग्वेद का सटीक प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत। टीका मे वेद का 'हार्द' यद्यपि नहीं आ पाया, फिर भी वेद के अध्ययन के प्रति शिक्षित समाज में उन्मुखता लाने की दिशा में अग्रदूत का कार्य। १८७५ से लेकर देहावसान तक Sacred Books of the East (५१ जिल्द) ग्रन्थमाला में पूर्व के विभिन्न धर्मों के ग्रन्थों के संस्करण प्रस्तुत करने मे लगे रहे।

१०. मैक्सवेल पृ० १४, ३७

Maxwell, Jamesclerk (१८३१-७९)

स्कॉटलैण्ड के भौतिक वैज्ञानिक। विद्युत् चुम्बक-तरंग के गाणितिक समीकरण के व्याकर्ता। प्रकाश, विद्युत्, चुम्बक के नियमों को जिन समीकरणों में निबद्ध किया, उनका परिचित नाम 'Maxwell field equations' है।

११. रमेशदत्त (रमेशचन्द्र दत्त) पृ० २६ (१८४८-१९०९)

सफल प्रशासक, महान् राष्ट्रसेवी, प्रतिभा-सम्पन्न बंगला साहित्यकार। भारतीय सिविल सर्विस परीक्षा सन् १८७१ में उत्तीर्ण की। विलायत में सात वर्ष तक स्वाधीनता-आन्दोलन का नेतृत्व किया। कांग्रेस में सम्मानित स्थान प्राप्त। लन्दन विश्वविद्यालय में अवैतनिक भारतीय इतिहास-प्रवक्ता के रूप में कार्य किया। इस प्रसंग में भारतीय संस्कृति व इतिहास के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करके उसके गौरवपूर्ण पक्षों की प्रतिष्ठा बढ़ाई।

सिविल सर्विस परीक्षा ससम्मान उत्तीर्ण कर लेने पर आपकी नियुक्ति पुलिस कमिश्नर पद पर कलकत्ता में हुई। इस पद पर प्रायः २० वर्ष तक

सफलतापूर्वक कार्य किया। उसके कुछ वर्ष बाद बड़ौदा राज्य के दीवान के रूप में अत्यन्त सफल प्रशासक सिद्ध हुए। साहित्यिक के रूप में आपकी ख्याति केवल बंगाल तक सीमित नहीं, अपितु पूरे भारत में व्याप्त है। प्रारम्भ में अँग्रेज़ी में ही लिखते थे, किन्तु श्रीबंकिमचन्द्र की प्रेरणा से बंगला में लिखना शुरू किया। पूरे ऋग्वेद का आपने बंगला अनुवाद किया था। बंगला और अँग्रेज़ी में प्रकाशित प्रमुख ग्रन्थ: —उपन्यास—'बंग विजेता' : (सन् १८७४), जीवन प्रभात (सन् १८७९), जीवन सन्ध्या (सन् १८७५), 'संसार' (१८८६) समाज (१८९८) आदि; अन्य ग्रन्थ हैं—'सामवेद संहिता', हिन्दू शास्त्र -भाग १-५ (सन् १८९३-९७)। अँग्रेज़ी—'Three Years

१४. लोर्ड केल्विन् पृ० ५५, ६३
William Thomson (१८२४-१९०७)

फूरियार के ताप-सिद्धान्त का विशेष अध्ययन। Quadrant Electrometer, Atmospheric Electricity में अनुसन्धान के लिए विविध यन्त्र आविष्कृत, जहाज़ों के कम्पास में सुधार। 'केवल टेलिग्राफ' के ग्राहक यन्त्रों में सुधार आदि के आविष्कर्ता। १८९२ में 'लार्ड केल्विन' की उपाधि का ग्रहण।

१५. वाइज़्मैन पृ० ५५
Weismann August (१८३४-१९१४)

जर्मन जैव-विज्ञान-वेत्ता (Biologist)। वंशानुक्रम-धारा (Heredity) और विकास (Evolution) पर विशेष अनुसन्धान। Germ-plasm (जैव कीटाणु) को शरीर के अन्य सब तत्त्वों से स्वतन्त्र सिद्ध किया। १८९२ में प्रसिद्ध ग्रन्थ 'The Germ-plasm' का प्रकाशन।

१६. व्हाइटहेड पृ० ८४
Whitehead, Alfred North (१८६१-१९४७)

वैज्ञानिक के रूप में और गाणितिक तर्कशास्त्र (Mathematical Logic) के अन्यतम स्थापक के रूप में विख्यात होने के बाद दर्शन (Philosophy) पर ही ध्यान केन्द्रित किया। प्रसिद्ध ग्रन्थों के नाम—Universal Algebra (1898). Mathematical Concept of the Material World (1905), Principle Mathematica (1910-13 : written in collaboration with Bertrand Russell), An Enquiry Concerning the Principles of Natural Knowledge (1919), The Concept of Nature (1920), The Principle of Relativity (1922). Science and The Modern World (1925), Process And Reality (1921), Adventures of Ideas (1933), Modes of Thought (1938).

१७. स्पिनोज़ा पृ० २१०
Spinoza, Baruch or Benedict (१६३२-७७)

हालैण्ड के सुविख्यात दार्शनिक। युक्ति से जो बात समझ में न आए उसे सत्य न मान लिया जाय, इस धारणा के कारण परम्परागत विचारकों का

घोर विरोध सहन करना पड़ा ।१६५६ में इसी कारण समाज से बहिष्कृत, इसीलिए जन्म-भूमि एम्स्टर्डम को त्याग कर १६५९ में हेग में जा बसे और अन्त तक वहीं रहे। विचार-स्वातन्त्र्य और वाणी-स्वातन्त्र्य के प्रबल समर्थक। चश्मों के काँच बनाकर आजीविका का उपार्जन करते थे। प्रथम ग्रन्थ Tractatus Theologyco-Politicus १६७० में बिना नाम के प्रकाशित हुआ। किन्तु विचारों के स्वातन्त्र्य के कारण कैथोलिक ईसाइयों द्वारा इसका बहिष्कार किया गया। आपकी सबसे प्रसिद्ध कृति है Ethics जहाँ आपने ज्यामिति की पद्धति से सूत्र और परिभाषाएँ बनाकर विचार-सरणि उपस्थित की है। मुख्य विचार—'जगत् में एक ही परम तत्त्व है, वह अनन्त और निरवच्छिन्न है। सभी सान्त तत्त्वों का उससे उद्भव है'। उनका प्रभाव योरप में गेटे (Goethe) शेली (Shelly) आदि पर पड़ा है। भारत में कुछ लोगों ने स्पिनोजा के दर्शन का वेदान्त-दर्शन की तुलना में अध्ययन किया है।

१८. हक्सले पृ० १४

Thomas Henry Huxley (१८२५-९५)

विख्यात प्राणिशास्त्रज्ञ (zoologist) लेखक और वक्ता। डार्विन के विकासवाद का पल्लवन और समर्थन किया। १८८१-८५ में 'रायल सोसाइटी के अध्यक्ष रहे। मुख्य ग्रन्थ—Evidence as to Man's Place in Nature (1863), Critique And Addresses(1873), A Manual of Anatomy of Invertebrated Animals (1877), Lay Summons.

१९. हर्बर्ट् स्पेंसर पृ० ४२, ६७

Herbert Spencer (१८२०-१९०३)

ब्रिटिश दार्शनिक। कुछ दिन स्कूल में पढ़ाया। १८३७-४६ में रेलवे में काम किया। १८४२ में Non-conformist पत्र में एक लेखमाला The Proper Sphere of Government पर लिखी। १८४८ से १८५३ तक The Economist पत्र के सम्पादक रहे। १८६० में Social Statics नामक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें Survival of the fittest का प्रतिपादन किया। १८५० से १८६० तक कई पुस्तकें निकालीं जिनमें

समन्वय प्रस्तुत। चक्षु परीक्षा के लिए डॉक्टरों द्वारा व्यवहृत यन्त्र 'Opthalmoscope' का आविष्कार किया।

(ख) विशिष्ट स्थल व संज्ञाएँ (प्रस्तुत खण्ड की पृष्ठ-संख्या के अनुसार)

पृ० २४—श्यामला गाय, प्रसन्न ग्वालिन, कमलाकान्त का साक्ष्य।

बंगला के सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक श्रीबंकिम का 'कमलाकान्त' शीर्षक से एक व्यङ्ग्यात्मक निबन्ध-संग्रह है। उसमें 'कमलाकान्तेर जुबानबंदी' शीर्षक से प्रसन्न ग्वालिनी की श्यामला गाय की चोरी के मुकद्दमे में कमलाकान्त की गवाही का वर्णन है। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' इस लोकोक्ति पर इस वर्णन में बड़ा करारा व्यङ्ग्य है।

पृ० २९ श्वेतकेतु के आश्रम में जाते समय कपिञ्जल को किसी सिद्ध-पुरुष का शाप।

'अधुना त्वं गत्वैनं वृत्तान्तं श्वेतकेतवे निवेदय। महाप्रभावोऽसौ कदाचिदत्र प्रतिक्रियां काञ्चिदपि करोति।' अहं तु विना वयस्येन शोकावेगान्धो गीर्वाणवर्त्मनि धावन्नन्यतममतिक्रोधनं वैमानिकमलङ्घयम्। स तु मां दहन्निव रोषहुतभुजा भृकुटीकरालेन चक्षुषा निरीक्ष्याब्रवीत्—'दुरात्मन्, मिथ्यातपोबलगर्वित, यदेवमतिविस्तीर्णे गगनमार्गे त्वयाऽहमुद्दामप्रचारिणा तुरङ्गमेणोपलङ्घितस्तस्मात्तुरङ्गम एव भूत्वा मर्त्यलोकेऽवतर' इति।

कादम्बरी, उत्तरभाग पृ० ५४२
निर्णयसागर संस्करण

पृ० २९—शकुन्तला को दुर्वासा का शाप।

(नेपथ्ये–)
अयमहं भोः! ....(पुनर्नेपथ्ये–)
आः! कथमतिथिं मां परिभवसि!
विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोनिधिं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥

अभिज्ञानशाकुन्तलम् ४।१

आरबार हरि' बले,—"सुख नाहि पाइ।
आजि वा आमारे कृष्ण अनुग्रह नाइ" ॥१२॥
(श्रीचैतन्य-भागवत २. १६)

पृ० १९७ गीतोक्त द्वादश यज्ञ।

श्रीमद्भगवद्गीता (अध्याय ४) में विविध यज्ञों का वर्णन है, जिसमें से द्वादश यज्ञ को इस प्रकार समझा जा सकता है— १. देवपूजनयज्ञ २. ब्रह्माग्नि-यज्ञ ३. संयमाग्नियज्ञ ४. इन्द्रियाग्नियज्ञ ५. आत्मसंयमयोगाग्नियज्ञ ६. द्रव्ययज्ञ ७. तपोयज्ञ ८. योगयज्ञ ९. स्वाध्यायज्ञानयज्ञ १०. प्राणापानयज्ञ ११. अपान-प्राणयज्ञ १२. प्राणयज्ञ।

———

द्वितीय परिशिष्ट

(अनुवादिका द्वारा प्रस्तुत)

विशिष्ट शब्दानुक्रमणी

[अनुक्रमणी में अङ्क पृष्ठ-संख्या के सूचक हैं। ग्रन्थकार की भूमिका (पृ० १-१२८) और मूल ग्रन्थ की 'अवतरणिका' (पृ० १३१-२६३) में से यह अनुक्रमणी बनाई गई है। 'अवतरणिका' में मूल श्लोक और अन्वय को छोड़ कर केवल भाष्य में से ही शब्दों का चयन किया गया है, क्योंकि सभी शब्दों का भाष्य में समावेश है।]

अ

आ

इ

ऐ

ओ

क

ख

ग

छ

झ

ठ

ण

—

ग

फ

ब

श

ष

स

चित्र सं० २

क = साधारण अनुभूति (normal experience)

११०	१		युक्त	मुक्त
१११	११		(सामान्य के उच्च)	(सामान्य से उच्च)
१७४		१४	प्रात	प्राण
१३१		३	मनोमय एवं आनन्दमय	मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय
१७४		६,७	घनप्रज्ञा	घनप्रज्ञ
१७५		१२	श्लोक ६७ का अन्वय छूट गया है*	
१७६		३	(अभिमुखता का प्रश्न नहीं उठ पाता)	(अभिमुखता का) न प्रसज्येत (प्रश्न नहीं उठ पाता)
१८८	४		रूप ने	रूप में
२०४		२	अभ्यवधान	अव्यवधान
२३९	१५		यदि	मदि
२५३		६	क्षेत्र क्षेत्रज्ञ	क्षेत्र क्षेत्रज्ञ